हिन्दुस्तानी

त्रैमासिक

•

भाग २४	जुलाई-दिसम्बर
अङ्क ३ और ४	१९६३

प्रधान सम्पादक
बालकृष्ण राव

प्रबन्ध सम्पादक
विद्या भास्कर

•

सहायक सम्पादक
डॉ॰ सत्यव्रत सिन्हा

मूल्य संयुक्ताङ्क ५.०० रु.

वार्षिक १० रु.

अनुक्रम

ताजुज़्बेकी या पार्या : हिन्दी-भाषा की एक नवज्ञात बोली

•

भोलानाथ तिवारी

सोवियत सङ्घ में, अफ़ग़ानिस्तान की सीमा के पास के, ताजिकिस्तान की स्तालिनाबाद शहरेनव, रिगार एवं ग़िस्सार तथा उज़्बेकिस्तान की शोर्ची, दिनाऊ, उजुन एवं सरी-आसिया आदि तहसीलों में एक विशेष क़बीले द्वारा एक मिश्रित बोली बोली जाती है। ये लोग प्राय द्विभाषी या त्रिभाषी हैं। बाहर, अन्य लोगों से ये ताजिक या कुछ-कुछ उज़्बेक भाषा में बात करते है, किन्तु घर में अपने परिवार के लोगों से या अपने क़बीले के लोगों से ये लोग यही मिश्रित बोली बोलते हैं। ये लोग अपने को 'अफ़ग़ान' या 'अफ़ग़ानी' कहते हैं। आसपास के अन्य लोग भी इन्हे इसी नाम से पुकारते हैं। किन्तु इन्हें इस बात का भी ज्ञान है कि मूल अफ़ग़ानी लोगो से ये भिन्न है। इन लोगों का कहना है कि यहाँ आने के पूर्व ये लोग अफ़ग़ानिस्तान मे 'लग़मान' मे तथा उसके आसपास रहते थे। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने मास्को स्थित अफ़ग़ानी दूतावास से पत्र-व्यवहार किया था। दूतावास के १७ जून १९६३ के पत्र से पता चला कि लग़मान, काबुल से लगभग २०० किलोमीटर की दूरी पर है, किन्तु वहाँ इस प्रकार की मिश्रित बोली बोलने वाले लोग नहीं हैं। यों इन लोगों के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ मैंने इकट्ठी की हैं, उनके आधार पर मेरा अनुमान है कि अफ़ग़ानिस्तान के कुछ भागों में इन लोगों के वंशज हो सकते है, और इतना ही नहीं तुर्की के पूर्वी सीमावर्ती इलाकों मे भी इस क़बीले के कुछ लोगों के होने की सम्भावना है। अब तो ये लोग खेतिहर हैं, किन्तु पहले ये कदाचित घुमन्तू थे, अतः बहुत सम्भव है, कि लग़मान से चलकर इनके वंशज अफ़ग़ानिस्तान के कुछ अन्य इलाकों में चले गये हों। यों इस सम्बन्ध मे मैं और पत्र-व्यवहार कर रहा हूँ, किन्तु अभी तक कोई जानकारी नहीं मिल सकी है।

इन तथाकथित 'अफ़ग़ान' लोगों के मुस्ली, शुया, हल्जाई, यूनी, जितान, मगरा तथा कोलो आदि कई उपक़बीले हैं। धर्म से ये लोग सुन्नी मुसलमान हैं। अनेक प्राचीन भारतीय परम्पराएँ इनसें आज भी सुरक्षित हैं। उदाहरणतः बड़े भाई के मरने पर छोटा भाई अपनी विधवा भाभी से विवाह कर सकता है, किन्तु छोटे भाई के मरने पर बड़ा भाई विधवा भयाहु से शादी नही कर सकता। कहना न होगा कि 'द्वितीय वर' के 'देवर' होने की हमारी परम्परा इसमें स्पष्ट है। 'देवर' को ये लोग 'देवार' कहते हैं। इनके उपक़बीलों में 'उच्च' और 'निम्न' होने की भावना भी है। 'उच्च क़बीले के लोग 'निम्न' कबीले में अपनी लड़की ब्याहना नहीं पसन्द करते। इसी प्रकार अन्य भी बहुत-सी बात है

ये लोग अपनी बोली को 'ज़बाने अफ़ग़ानी' या 'लफ़्ज़ अफ़ग़ानी' या कभी-कभी 'अफ़ग़ानी' कहते हैं। इस बोली का ज्ञात क्षेत्र ताजिकिस्तान एवं उज़्बेकिस्तान में है, इसी आधार पर मैंने इसका नामकरण ताजुज़्बेकी (ताज् + उज़्बेकी) किया है। कुछ लोग इसे 'पार्या' भी कहते हैं, किन्तु यह नाम बहुत प्रचलित नहीं है। यों नाम चाहे जो भी हो, इस बोली के विश्लेषण के आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यह एक हिन्दी बोली है। अगस्त १९६२ मे, मैं सोवियत सरकार के निमन्त्रण पर हिन्दी पढ़ाने के लिये ताशकन्द आया। यहाँ आते ही कुछ लोगो से सूचना पाकर मेरा ध्यान इस बोली के अध्ययन की ओर आकर्षित हुआ। मैंने सामग्री एकत्र करनी प्रारम्भ की। (ईरानी भाषा के विद्वान् श्री ओरान्स्की ने तथा रोजिन्फ़ेल्क आदि कुछ लोक-साहित्य के अध्येताओं ने कुछ वर्ष पूर्व इस बोली के शब्द गीत, कहानियाँ आदि सङ्कलित किये थे।) सामग्री एकत्र करने एवं अन्य सूचनाओं के लिये अनेक लोगों के सम्पर्क में आना पड़ा, जिससे इस बोली के हिन्दी बोली न होने के सम्बन्ध में लोगों के अनेक मत एवं विचार मेरे सामने आये। सबसे पहले मैं उन मतों का निराकरण करना चाहता हूँ :—

(क) इस बोली के सम्बन्ध में कार्य शुरू करते समय ही, सर्वप्रथम मुझे इस बात की शङ्का हुई कि ताजुज़्बेकी के बोलने वाले वे पुराने 'जिप्सी' तो नहीं है जो ईसा से भी पूर्व, भारत से आकर मध्य एशिया एवं यूरोप के अनेकानेक देशों में फैल गये हैं और जो प्राकृत से निकली हुई भाषा बोलते हैं। खोज के पश्चात् यह बात निर्मूल सिद्ध हुई। न तो ये लोग जिप्सी हैं और न उनकी भाषा वह है जो 'जिप्सी' या रूसी में 'स्तगान' नाम से पुकारी जाती है। जिप्सी भाषा का प्राचीन प्राकृतों से नैकट्य है जबकि इसका, जैसा कि हम आगे देखेंगे, आधुनिक भारतीय भाषाओं—विशेषतः हिन्दी से सामीप्य है। साथ ही इस बोली के बोलने वाले लोग जिप्सियो से रहन-सहन, संस्कृति, धर्म, पेशा आदि सभी कुछ में भिन्न हैं। एक-दूसरे की भाषाएँ भी ये नही समझ सकते और न एक-दूसरे को अपने क़बीले का ही मानते हैं। इसी कारण उनमें वैवाहिक सम्बन्ध आदि भी नहीं होते। इस प्रकार ताजुज़्बेकी बोली के जिप्सी बोली होने का प्रश्न नहीं उठता।

(ख) कुछ लोगों ने ऐसा मत व्यक्त किया कि कदाचित् यह बोली अफ़ग़ानी का ही, ताजिक-उज़्बेक से प्रभावित रूप है। इस शब्द के लिये पर्याप्त आधार भी है। एक तो इसके बोलने वाले अपने को अफ़ग़ानी कहते हैं तथा अन्य लोग भी उन्हें अफ़ग़ानी या 'अफ़ग़ान' कहते हैं। दूसरे, इस बोली को, इसे बोलनेवाले तथा अन्य लोग 'अफ़ग़ानी' 'जबाने अफ़ग़ानी' या 'लफ्जे अफ़ग़ानी' कहते हैं। भाषा के नाम में यह 'ज़बान' या 'लफ़्ज़' शब्द ताजिक प्रभाव के कारण है। तीसरे, इसे बोलने वाले प्रायः अपनी आदि भूमि अफ़ग़ानिस्तान मे ही लगमान बतलाते हैं। इस सम्बन्ध में स्पष्ट निर्णय तक पहुँचने के लिये मैंने अफ़गानी भाषा के जानकार लोगों की सहायता से दोनों की तुलना की। तुलना का परिणाम यह निकला कि सिवा कुछ अफ़ग़ानी प्रभावों के यह बोली अफ़ग़ानी से पूर्णतः भिन्न सिद्ध हुई। यों तो इसके व्याकरणिक प्रमाण भी हैं, किन्तु यदि उन जटिलताओं में न भी उतरें तो शाब्दिक प्रमाण भी इसके लिये पर्याप्त हैं। अफ़ग़ानी एवं ताजुज़्बेकी की बुनियादी शब्दावली (basic vocabulary) की मैंने एक लम्बी सूची बनायी थी जिसका कुछ अंश इस प्रकार है

ताजुज़्बेकी	अफ़ग़ानी	ताजुज़्बेकी	अफ़ग़ानी
येक	याव	हात	लास
तिन	द्रे, द्रेया	नाक	पाज़ा
चार	सलोर, त्सल्लोर	कुतो	स्पय
चे	शपज	बकरि	उज़्ज़ा, व्ज़ा
सत	ओवे, उवी, ओव	बल्द	ग़वयाइ
दस	लस	बिलि	पिशी
तेराँ	दियारलस	चिड़ि	मुर्ग़
बीस	शिल	अण्डो	तुहुम
आँक्	स्तिर्गा, स्तर्गा	पाड़	ग़ार
दान्त	ग़ाश	कालो	तोर
दड़ी	ज़िरा	लाल	सोर
हुण्ट	शुण्डा	कल्ला	सब

उपर्युक्त शब्द स्पष्ट ही ताजुज़्बेकी बोली को अफ़ग़ानी से अलग सिद्ध करते हैं। और यही नहीं, यदि क्रमशः हिन्दी के **एक, तीन, चार, छह, सात, दस, तेरह, बीस, आँख, दाँत, दाढ़ी, होंठ, हाथ, नाक, कुत्ता, बकरी, बैल** (भोजपुरी **'बरध'**), **बिल्ली, चिड़िया**, अण्डा, **पहाड़, काला, लाल, कल** शब्दों से इन ताजुज़्बेकी शब्दों की तुलना की जाय तो ये हिन्दी से इस बोली का निकट का सम्पर्क भी प्रमाणित करते हैं। इस प्रकार यह बोली अफ़ग़ानी नहीं है।

(ग) ताजुज़्बेकी बोली ताजिक भाषा से बहुत अधिक प्रभावित है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि कई पीढ़ियों से ताजिक लोगों के बीच रहने के कारण, इस बोली की सांस्कृतिक एवं उच्च शब्दावली का प्रायः अधिकांश ताजिक भाषा का हो गया है। इसी कारण कुछ लोगों ने यह भी शङ्का उठायी कि हो न हो यह ताजिक बोली हो, जिसपर पार्श्ववर्ती अफ़ग़ानी एवं उज़्बेकी का प्रभाव पड़ा हो। ऐसा कहने वालों का यह भी कहना था कि ताजिक एवं अफ़ग़ानी, भारोपीय परिवार की भाषाएँ है, अतः कुछ शब्दों का भारतीय या हिन्दी-भाषा के शब्दों से मिलता-जुलता होना स्वाभाविक है। इस शङ्का के समाधान के लिये ताजिक भाषा के साथ इसका तुलनात्मक अध्ययन करना पडा। (इस कार्य मे अपने प्रिय विद्यार्थी तिल्ला तुरा से मुझे विशेष सहायता मिली है।) इसका भी वही परिणाम निकला जो अफ़ग़ानी के साथ तुलना का निकला था। अर्थात् अपनी बुनियादी शब्दावली एवं व्याकरण में ताजुज़्बेकी बोली ताजिकी से सर्वथा भिन्न सिद्ध हुई, जबकि दूसरी ओर हिन्दी के बहुत निकट। कुछ शब्द इस प्रसङ्ग में मनोरञ्जक होंगे:—

ताजिक	ताजुज़्बेकी	ताजिक	ताजुज़्बेकी
से	तीन	शिकाम	पेट
शश	चे	पोय	पेर
अश, हश्त	आट	पिस्सार	बेटा
दोज़्दव	बारों	मो	हम

ताजिक	ताजुज्वेकी	ताजिक	ताजुज्वेकी
पोन्जदअ	पन्द्राँ	कोर्त, कोर्द	चुरी
न्यूज्दअ	उनि	चिराग़	दिया
चश्म	आँक्	इम्रोज़	आच
दस्त	हात्	कुचुक	कुता
जबान	जिप्	नान	रुटि

ताजुज्वेकी के उपर्युक्त शब्द क्रमशः हिन्दी में तीन, छे, आठ, बारह, पन्द्रह, उन्निस, आँख, हाथ, जीभ, पेट, पैर, बेटा, छुरी, दिया, आज, कुत्ता तथा रोटी हैं।

(घ) इसी प्रकार अनेक उच्चस्तरीय शब्दों, मुहावरों एवं अभिव्यक्तियों में उज्बेकी की ऋणी होने पर भी ताजुज्वेकी बोली उज्बेक से भी अलग है:—

उज्बेक	ताजुज्वेकी	उज्बेक	ताजुज्वेकी
बिर	येक	सुत्	बूत
इक्कि	दु	नॉन	रुटि
नेश	पाँज	तुहुम	अण्डो
तोक्किज़	नु	केचा	रात
कसा	बोड़ो		

स्पष्ट ही उपर्युक्त ताजुज्वेकी शब्द हिन्दी के क्रमशः एक, दो, पाँच, नौ, दूध, रोटी, अण्डा, रात और बड़ा है।

निष्कर्षतः ताजुज्वेकी बोली अफ़ग़ानी नहीं है, जैसा कि उसके बोलने वाले या अन्य लोग कहते हैं, और न तो ताजिकी या उज़्बेकी से ही वह सम्बद्ध है, जैसा कि कुछ लोगों का विचार रहा है।

यह बोली भारतीय है, इस बात का पता सर्वप्रथम श्री ओरान्स्की ने लगाया, किन्तु वे ईरानी एवं अफ़ग़ानी भाषा के विद्वान् हैं और भारतीय भाषाओं से उनका प्रत्यक्ष परिचय बहुत कम है, इसी कारण वे इस भाषा का सम्बन्ध किसी आधुनिक भारतीय भाषा से नहीं जोड़ सके, यद्यपि शब्दावली के आधार पर कहीं-कहीं वे यह सङ्केत करते दिखायी देते हैं कि यह बोली सिन्धी या पञ्जाबी से कुछ समीप ज्ञात होती है। मैंने जब इस बोली का भारतीय भाषाओं (विशेषतः पश्चिमोत्तर भाग की गुजराती, राजस्थानी, सिन्धी, पञ्जाबी, पश्चिमी हिन्दी एवं पहाड़ी) के साथ तुलनात्मक अध्ययन शुरू किया तो प्रारम्भ में मेरा भी कुछ इसी प्रकार का विचार था, क्योंकि कुछ शब्द, या कुछ शब्दों के उच्चारण, पञ्जाबी, लहँदा या सिन्धी के समीप मिले, किन्तु व्याकरणिक विश्लेषण करने पर मैं स्पष्टतः इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यह बोली हिन्दी भाषा के पश्चिमी हिन्दी उपवर्ग की है।

यों तो अनेक बातें हैं, जो इस बोली को सिन्धी, पञ्जाबी, लहँदा आदि से अलग और हिन्दी के समीप सिद्ध करती हैं, किन्तु जो सबसे स्पष्ट और निर्णायक प्रमाण मुझे मिला है, वह है ———— का सर्ग सिन्धी में यह जो सन्दो है एवं पञ्जाबी तथा लहँदा में दा, दी आदि

है, किन्तु हिन्दी और उसकी बोलियों में **का, की, को, कौ, क** आदि हैं। इस ताजुज़्बेकी बोली में भी यह परसर्ग **क, को, कि** रूप में ही मिलता है। उदाहरणार्थः—

ताजुज़्बेकी	हिन्दी
चचा कि बिट्या	**चाचा की बेटी**
मासि क बेटा	**मौसी का बेटा**

ऐसे अनेक वाक्य हैं, जो प्रत्यक्ष ही हिन्दी के हैं। जैसे:—

ताजुज़्बेकी	हिन्दी
मैं कम करुइँ।	**मैं काम करता हूँ।**
किल्जो मुरो दुकइ।	**कलेजा मेरा दुखता है।**
कल्ख़ोज़ को रईस आयो।	**कल्ख़ोज़ का प्रधान आया।**

यहाँ **रईस** शब्द हिन्दी का नहीं है। यह ताजिक-उज़्बेक का है। ताजिक तथा उज़्बेक भाषाओं मे कल्ख़ोज के सञ्चालक या डाइरेक्टर को 'रईस' कहते है।

ओ पाइज़ जोवइ।	**वह गाड़ी जाती है।**

'पाइज़' शब्द रूसी का **'पोयज़्द'** शब्द है। कल्ख़ोज, रादिओ (रेडियो), त्राक्तर (ट्रैक्टर), मशीन (मोटर, बस), गज़ेत (अख़बार) आदि अनेक आधुनिक शब्द इस भाषा में रूसी से आये हैं। ये शब्द ताजिक एवं उज़्बेक में भी प्रायः इसी रूप में प्रयुक्त होते है।

इस बोली पर सभी दृष्टियों से विचार करने पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि मूलतः ४-५ सौ वर्ष पूर्व ये लोग सम्भवतः पश्चिमी हिन्दी-क्षेत्र में किसी स्थान पर रहते थे। इन पर राजस्थानी एवं पञ्जाबी का भी प्रभाव था। वहाँ से ये लोग पञ्जाब से होकर अफ़ग़ानिस्तान आये और वहाँ लग़मान के पास बस गये। कई पीढ़ियों तक वहाँ रहने के बाद ये लोग और आगे बढे और ताजिकिस्तान, उज़्बेकिस्तान एवं तुर्की में जा पहुँचे। ये लोग इस बात को प्रायः अब पूर्णतः भूल चुके हैं कि मूलतः ये भारत के हैं। यों, इधर जब से इनकी भाषा का अध्ययन शुरू हुआ है और इनकी भाषा को भारतीय कहा जाने लगा है, इनमें से कुछ लोग अपने को तथा अपनी भाषा को मूलतः हिन्दुस्तानी कहने लगे हैं।

इनकी शब्दावली का मूलाधार प्रायः पूर्णतः हिन्दी का है। अन्य अनेक शब्द इनमें पञ्जाबी लहँदा अफ़गानी ताजिकी उज़्बेकी एवं रूसी के हैं जो स्पष्टत इनके अपने न होकर प्रभाव-मात्र हैं इनके [illegible] शब्द २० तक हिन्दी के हैं उसके ऊपर ये जोड़कर बनाते हैं जसे

कहना न होगा कि अपने यहाँ भी गाँवों मे २० के आधार पर ही बीस से ऊपर की गणना होती रही है छत्तीसगढ़ी आदि में अब भी प्राय यह प्रवत्ति मिलती है बीस से ऊपर की गणना पर ताजिक प्रभाव भी है, जैसे चालिस के लिये **चल्लि** (ताजिकी **चौल्ह, चल्लि**) आदि। मिश्रित सख्याएँ इस प्रकार हैं:—

बिस्तियेक	=	२१
बिस्तिदो	=	२२
तिनबिस्तिएक	=	६१
साड़े तिन बिस्ति एक	=	७१

ताजिके एवं फ़ारसी में २० को **बिस्त** कहते हैं। इस बोली में विस्ति ताजिक प्रभाव है। इस बोली के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये इसकी एक कहानी नीचे दी जा रही है। इस पर भाषा वैज्ञानिक टिप्पणी में अलमुज़ायिफ़ रहमान बेर्दी, फ़त्लाह एवं सलीमा सरमसाकोवा आदि कई मित्रों एवं शिष्यों से उज़्बेक एवं ताजिक प्रयोग में सहायता मिली है। वस्तुत: इस बोली पर इन दोनों भाषाओं के प्रभाव इतने अधिक हैं कि बिना इन लोगों की सहायता के इसकी सभी अभिव्यक्तियों को समझ पाना मेरे लिये प्राय: असम्भव-सा था।

— दो —

एक ताजुज्बेकी कहानी

चो नि चो येक पाचा चो। उस पाचा के नाँ सो सनॉवर। अ रानी के से नाँ गुल चो। पाचा नँ रान परे को नाँ ता गुल राके चो के अज बरोई बकर देक्ने परे ख़ातर रान परे को नाँ ता गुल राके चो। एक दिन को दिनोयो पाचा सइसख़ाने मँ गियो। पाचा नँ कुड़न ता देको के कुड़न को अवहॉल चतॉग़ ए। पाचा नँ सइस ता बलायो, "ये सइस!" सइस आयो। सइस ता पिर्सन करो, "ये सइस! कइँ ख़ातर कुड़न को अवहॉल चतॉग़ ए।" सइस नँ केयो के पाचा अगर त्रे गुनाअ ता तु लङ्गा, में के के दुवँ। पाचा नँ केयो के गल कर। में त्रे गुना ता लङ्गे चुँ। सइस नँ केयो के पाचा कुड़न पर रान त्रे आवइ, एक रात अ एक सु पर चरइ, एक रात अ एक सु पर चरइ। नि सामतु कि किया जोंवइ। पाचा नँ के यो, "ख़ै, अइ रात अ दुइँ कुड़न ता ज़िन कर के त चोड़ दे।" पाचा मुड़ के तअ कर परे गियो। ख़ैर रात अ पाचा रात परे ता केयो के त्रे जग ता सट। पाचा के रान नँ जग ता सटो। पाचा इख़्तियॉर करो के सुणे को। पाचा लेफ़ मँ वारो, सुतो। लाकिन सुणेइ को इख़्तियॉर नि। अच्चा वख़्त बिस्कर ता लङ्गो। पाचा एक वख़्त आँयो, ग़फ़लत नँ लेके गियो। उसो वख़्त पाचा के रन उटो। रा या पड़ाव। पाचा के रन सइसख़ाने लेबा रवॉन आँयो। सइसख़ाने मँ गियो। लाकिन पाचा हम बे जाग परे। ऊ बे सइसख़ाने लेबा रवॉन आँयो गुल एक कोकड़ पर चढ़ केत सइसख़ाने म त निकिलो पाचा बे एक कोकड़ पर

चड़ के त, या बे रन परे पाचा निकिलो। लाकिन दुइ जने अइ मइदान, तइ मइदान क केत अन्चा वख़्त इन रा मारो। येक जगा ये गियो। येक पाड़ के बेस मा येक ग़ार चो। लाकिन या ग़ार अन्चा कुशाँदि। गुल नँ कोड़ड़ा उसू ग़ार के मो या बाँदो। ग़ार के बिच्च बार के त मली गी। लाकिन पाचा हम, इस नँ बे, कोड़ड़े ता बाँदो ग़ार कुला। या बे हम ग़ार के बिच वारो। ग़ार के बिच्च बार के त, लाकिन क़रम-क़र्चो हो के त, या बे गियो। उसुबोत अन्दर वार के त, इस नँ तमाँशो करो के गुल उन्याँ येक हबश नाल बेटी। लाकिन उ आदि कुर्री के कालुइ मिस्लन कि कुमरतना। बोरी आँकि से जय जर्दि। गुल पर बड़ो ग़जब आँयो के ये गुल! कइँ ख़ातर नॉवख़्त आँयो। के के त हात से हबश के येक सीख़ लीयो को चो। के इसी सीख़ नाल गुल ता अस अन्चा कि मारो, गुल को बदन में ता लव निकिलो। तिरेक मारो। गुल नँ लाकिन वाइ ना कैयो इ दाद ना मारो। पाचा ने कैयो के दरेग़, में इस गुल ता अज बरोयी कि बकर देक चो, इसी ख़ातर इसकी नॉ ता मिञ्जा गुल राके चो, गुल नाल ता हम बकर देका चो। या इसी वक़्त अ हम लेफ़ में अगर बारतो या दाद वाइ कुवा चो। अ लकिन इस लोयो नाल हबश नँ मारो। इस नँ ना कैयो के मुरो एक जग टुकइ, ना कैयो।

हबश नँ गुल ता कैयो के पाचा के काले ता ले के ओवा गो। मे त्रे नाल उसू वख़्त गल करुइँ, इशी-इशरत करुइँ। ना व त्रे नाल गल नि करतु, के के त। गुल पाचा मुड़ो के इख़्तियॉर करो के पाचा के काले ता लेकवा। सनॉवर पाचा नँ इस गल ता सुन के त वख़्ते सरे मुड़ो। आ के त कर परे येक आमि ता लुण के त लेकयो, अ परे जग साटो। गुल आ के त देको के पाचा सुतेइ। इस का हात शम्शेर चो। के पाचा सुते के के त, शमशेर नाल मारो के पाचा के काले ता काटो। काट के त ख़ल्ता मा इसना कलो। उसुबोत या रवोनो आँयो। पाचा हम बे इसकी पाचा निकिलो। निकिल के त रवोनो आँयो। गियो। ये क़रम क़र्चो हो के त ग़ार कुला गियो। पाचा के रन हेका, पाचा उसके पाचा। ख़ूब, अ काले ता ले जा के त हबश कुला बगॉयो। हबश नँ उस काले ता देक के त हैरान गो। हबश ना कैयो के ये गुल! लकिन तिञ्जा पाचा पर रहम ना कयो, अ त्रे पर तु रहम कोवइ। ये गुल जा तु इस दुन्याँ मँ उस दुन्याँ मँ मुरो माँ पेण लाग, के के त जवॉब दिनो। उसु बोत गुल दाद मार के त निकिलो। पाचा हम इस ते हेका निकिल के त, जा केल कर परे सो गो। उसु बोत गुल आँयो। पाचा ने कैयो कि ये गुल तु किया गैयो चो। गुल नँ कैयो के में बार निकिली ची। पाचा नँ कैयो के तु चूट नँ के। तुग़रि गल परे ता कर। पाचा जाग परे उटो। गुल ता लिनेओ, येक कपस मँ कलो। कपस मँ कल के त, "सनॉवर ब गुल चि कर्द, व गुल ब सनॉवर चि कर्द" के के त, कर के बे मँ लास कसतो कपस ता। अ लाकिन्व दु ताज़ी तरा ची। इसी दुइँ ताज़ी परें नाल अवकाँत त पाचा कोवा चो। अ इनके हिक़ ता रे अवक़ाँत ता कपस के बिच गुल ता बुवा चो। ख़ल्क़ अवा चे, तमाँशो, करा चो के "ये सनॉवर, कैयो ख़ातर तु कुतन के हिके रे अवक़ाँत ता उस के हेका बगोवइ। अ सनॉवर पाचा कुवो चि के इस कॉम नाल कॉम तारो ना ब। अगर कॉम तारो हुवा, लाकिन में इस वाकेआ ता के के दुवँइ, लाकिन उस आमि के काले स ता काटुँइ, के के त, शर्त करा चो लुकुइ मर्दुम नाल। अगर कुइ नँ पिश्ना करतो, या इसी गल त कर चो, के के त, कुवा चो के "गुल ब सनॉवर चि कर्द, सनॉवर ब गुल ची कर्द" के के त उन ता उँया ख़ूब रक माँ स इँया ख़ूब रक तमाँम

हिन्दी रूपान्तर

[रूपान्तर को मूल के निकट रखा गया है। इसी कारण इसमें प्रवाह का अभाव है तथा प्रयोग की दृष्टि से त्रुटियाँ भी हैं।]

था या नहीं था, एक बादशाह था। उस बादशाह का नाम था सनोवर और रानी का नाम गुल था। बादशाह ने अपनी रानी का नाम गुल रखा था। उसके चेहरे की ताजगी, पवित्रता और कोमलता देख कर स्त्री का नाम गुल रखा था। दिनों में एक दिन बादशाह सईसख़ाने में गया। बादशाह ने घोड़ों को देखा कि घोड़ों की हालत ख़राब है। बादशाह ने सईस को बुलाया, "ऐ सईस!" सईस आया। सईस से प्रश्न किया, "ऐ सईस! किस ख़ातिर (=किस लिए, क्यों) घोड़ों की हालत ख़राब है?" सईस ने कहा कि बादशाह अगर मेरे गुनाह को तू माफ़ करो, तो मैं कह दूँ। बादशाह ने कहा कि "बात करो (=कहो), मैंने तेरे गुनाह को माफ़ किया।" सईस ने कहा कि बादशाह! घोड़ों पर रानी तेरी आती है। एक रात एक पर, और एक रात एक पर चढ़ती है। नहीं समझता (जानता) कि कहाँ जाती है। बादशाह ने कहा, "ख़ैर, इस रात दो घोड़ों को ज़ीन कर के छोड़ दे।" बादशाह मुड़कर घर पर गये। ख़ैर, रात को बादशाह ने अपनी रानी से कहा कि मेरी जगह को लगा (=मेरा बिस्तर लगा)। बादशाह की स्त्री ने जगह को लगाया (=बिस्तर लगाया)। बादशाह ने सोने की इच्छा की। बादशाह लिहाफ़ में गया और सोया। लेकिन सोने की इच्छा नहीं थी। काफ़ी वक्त बीत गया। एक वक़्त आया। राजा को नींद ने पकड़ लिया (सो गये)। उसी वक़्त बादशाह की रानी उठी। गयी। बादशाह की रानी सईसख़ाने की ओर आयी। सईसख़ाने में गयी। लेकिन बादशाह भी जाग पड़े। वे भी सईसख़ाने की ओर रवाना हुए। गुल एक घोड़े पर चढ़ कर के सईसख़ाने में से निकली। बादशाह भी एक घोड़े पर चढ़ कर के, (वे भी) रानी के पीछे निकले। लेकिन दोनों ने इस मैदान से उस मैदान, इसी में काफ़ी वक़्त बर्बाद किया। एक जगह वे गये। एक पहाड़ के नीचे एक ग़ार था। लेकिन यह ग़ार अच्छा-कु शादा था। गुल ने घोड़ा उसी ग़ार के मुँह के पास बाँधा और ग़ार के बीच (भीतर) जा कर के, चली गयी। लेकिन बादशाह ने भी, घोड़े को ग़ार के पास बाँधा। वह भी ग़ार के भीतर गया। ग़ार के बीच चलकर के, लेकिन उसके पीछे-पीछे हो कर, वह भी गया। उसके अन्दर जा कर के, उसने तमाशा देखा कि गुल वहाँ एक हब्शी या काले देव के पास बैठी है। लेकिन वह स्वयं काला का काला, मस्लन कोयले जैसे तन वाला। उसकी आँखें बिल्कुल ज़र्द। वह गुल पर बहुत नाराज़ हुआ कि "ऐ गुल! किस ख़ातिर (क्यों) नावक़्त आयी। कह कर तो...। हाथ में हब्शी के एक लोहे की सीख़ थी। कि इसी सीख़ से, गुल को इतनी ज़ोर से, या अच्छी तरह मारा, कि गुल के बदन से लोहू निकलने लगा। फ़व्वारा छूटा। गुल ने लेकिन उफ तक नहीं किया, धाड़ नहीं मारी। बादशाह ने कहा कि दुःख है, मैंने इस गुल की ताज़गी, पवित्रता और कोमलता देख कर, इसका नाम गुल रखा था। गुल से भी इसे अधिक कोमल समझता था। वह जब मेरे लिहाफ़ में आयी थी (पहली बार) धाड़ मार कर रोयी थी। और, लेकिन इस हब्सी ने इस लोहे से उसे मारा और इसने नहीं कहा कि मेरी एक भी जगह दुखती है नहीं कहा

हब्शी ने गुल से कहा कि राजा का सिर ले कर आवोगी मैं तेरे साथ उसी वक़्त

बात करूँगा, ऐशो-इशरत करूँगा। नहीं तो, तेरे साथ बात नहीं करूँगा, कह कर तो... । गुल ने पीछे मुड़ने की इच्छा की, ताकि राजा का सिर ले कर आवे। सनोवर बादशाह इस बात को सुन कर, ठीक वक़्त पर मुड़ कर लौटा। आ कर घर पर, एक आदमी को ढूँढ़ कर ले गया और उसे अपनी जगह सुला दिया। गुल ने आ कर देखा कि बादशाह सो रहा है। उसके हाथ में शमशीर (तलवार) थी। कि बादशाह सो रहा है, ऐसा कह कर (सोच कर), तलवार से मार कर, बादशाह के सर को काटा। काट कर उसे थैले में, उसने डाला। उसके बाद वह रवाना हुई। बादशाह भी उसके पीछे निकले। निकल कर रवाना हुए। दोनों एक दूसरे के पीछे चलते हुए, ग़ार के पास गये। बादशाह की रानी आगे, बादशाह उसके पीछे। (क्या) ख़ूब! और गुल ने सिर ले जा कर हबशी के पास फेंका। हबशी उस सिर को देख कर हैरान हो गया। हबशी ने कहा, "ऐ गुल! लेकिन, तुमने बादशाह पर रहम नहीं किया, तो क्या मेरे पर तू रहम करोगी? ऐ गुल! जा, तू, इस दुनिया में, उस दुनिया में, मेरी माँ-बहन लग" कह कर जवाब दिया। उसके बाद गुल धाड़ मार कर, निकली। बादशाह भी इससे आगे निकल कर, जा कर घर पर, सो गया। उसके बाद गुल आयी। बादशाह ने कहा कि "ऐ गुल! तू कहाँ गयी थी।" गुल ने कहा कि मैं बाहर निकली थी। बादशाह ने कहा कि तू झूठ न कह। सच्ची बात कर। बादशाह (अपनी) जगह से उठा। गुल को लिया, एक कफ़स (पिंजड़ा) में किया। कफ़स में कर के "सनोवर ने गुल के साथ क्या किया और गुल ने सनोवर के साथ क्या किया?" कह कर, घर के द्वार में, कफ़स को कस कर लटका दिया। उसके पास दो ताज़ी (कुत्ते) थे। इन्हीं दोनों ताज़ियों के साथ, बादशाह खाना खाता था और इनके आगे का बचा खाना, कफ़स में गुल को देता था। लोग आये, देखा, पूछा कि "ऐ सनोवर! किस ख़ातिर (क्यों) तू कुत्तों के आगे का खाना उसे देता है?" सनोवर बादशाह ने कहा कि, इस काम के साथ तुम लोगों का काम नहीं (इससे तुम लोगों से क्या मतलब?) अगर काम तुम्हारा हो (अगर तुम लोगों से मतलब हो) तो मैं इस वाक़या को कह दूँगा, लेकिन उस आदमी का सिर काट लूँगा। (ऐसा) कह कर शर्त की लोग-आदमियों के साथ। अगर किसी ने प्रश्न किया, तो यह बात पूरी की जायेगी, ऐसा कहा। फिर बार-बार कहने लगा—गुल ने सनोवर के साथ क्या किया, सनोवर ने गुल के साथ क्या किया। उनको वहाँ ख़ूब रख, हमें यहाँ ख़ूब रख, अर्थात् उनका वहाँ भला हो, हमारा यहाँ भला हो। समाप्त।

— तीन —

भाषावैज्ञानिक टिप्पणी

उज़्बेक भाषा में कहानी के आरम्भ में कहते हैं—'बिर बार एकन, बिर योक़ एकन, बिर पाश्शा, बोलगान एकन'। अर्थात् 'एक था, एक न था, एक राजा था'। 'चो नि चो एक पाच्चा चो' शायद उसी के आधार पर है। यों भारत में भी कहीं-कहीं कहते हैं, 'झूठ है, या सच है, एक राजा था'। इससे भी इसका सम्बन्ध हो सकता है। चो = था। यह शब्द चु, चू रूप में भी प्रयुक्त होता है स्त्रीलिङ्ग मे ची किन्तु सर्वदा नही मारवाडी मेवाडी आदि बोलियो में

छा, छ, छूँ छो, छुँ, छँ, छोस् आदि रूप आते हैं। ताजुज़्बेकी बोली के **चो, चु, चू** आदि भूतकालिक रूप **छो, छु, छू** आदि के ही अल्पप्राणीकृत रूप हैं। पञ्जाबी तथा हिन्दी की कुछ बोलियों में बादशाह को **बाश्शा** कहते है। **पाचा, बाश्शा** का ही विकसित रूप है। यों उज़बेक, ताजिक में भी **पादशाह** या **पाश्शा** कहते हैं। उनका भी प्रभाव इस पर सम्भव है। **नाँ**=नाम, भोजपुरी **नाँव अ**=और। भोजपुरी आदि अनेक बोलियों में 'और का विकसित रूप 'अ' प्रयुक्त होता है। **'रान'** का सम्बन्ध रानी से नहीं है। इस बोली में रान' या 'रन' का प्रयोग 'स्त्री' के लिये होता है। स० **रण्डा** पञ्जाबी, **रण्ण**, हिन्दी **राँड़** आदि से इसका सम्बन्ध ज्ञात होता है। **अज़ बरोई** ताजिक प्रयोग का विकसित रूप है। इसका अर्थ **के लिए** या **के कारण से** है। **'बकर'** मूलतः अरबी का **बिक्र** है, जिसका अर्थ ताजगी, पवित्रता आदि है। यह इस बोली में ताजिक भाषा से आया है, उज़बेक भाषा में यह शब्द नहीं है। **मँ, नँ, मैं, परे, त** क्रमश. में, ने, मैं, पर तो हैं। **ता**=को, से। ब्रज आदि बोलियों के त-से बनने वाले **ते, तें, तँ, तईं, तन** आदि भी यही हैं। तुलनीय है कनौजी **तें, ते,** गढ़वाली **ते,** बैसवाड़ी **तें,** बघेली **ते, तन** आदि। **अवहॉल**—इसका उच्चारण इस बोली में **अवग़ॉल** भी होता है। यह मूलतः **हाल** का अरबी बहुवचन **अहवाल** है। उजबेक भाषा मे **अहवाल** का ध्वनि-विपर्यय-युक्त रूप **अवहॉल** प्रयुक्त होता है। ताजुज़्बेकी में यह उज़बेक प्रभाव है। **चतॉग़**—उजबेक में 'बुरा' या 'ख़राब' के अर्थ में **चतारा** या **चताक़** शब्द प्रयुक्त होता है। **पिश्न**=सं० प्रश्न। लोकभाषा में 'प्रश्न' का प्रयोग अब तक बच रहना आश्चर्यजनक है। हिन्दी की प्रायः सभी बोलियों में सस्कृत **प्रश्न** के स्थान पर 'सवाल' या 'पूछना' प्रयुक्त होते है। उज़बेक या ताजिक में 'पिश्न' नहीं है। **लङ्घे चुँ**=लाँघता हूँ। सं० **लङ्घन**। अर्थात् साफ़ करता हूँ। **कुड़न**=घोड़ों। **घ** का **क** या **भ** का **प** आदि हो जाना पञ्जाबी प्रवृत्ति है। वस्तुतः इस बोली का मूल प्रदेश किसी ऐसे स्थान पर होना चाहिये जो पश्चिमी हिन्दी क्षेत्र में होता हुआ, राजस्थानी पञ्जाबी के सम्पर्क में रहा हो। **सामतु**=समझता। **किया**=कहाँ **जों वह**=जाती है। **खँ**=खैर। **म्रे**=मेरे; **त्रे**=तेरे। **चोड़ दे**=छोड़ दे। **जग**=जगह। **इख़्तियॉर**—उज़बेक एवं ताजिक मे 'इख़्तियार' रूप में यह शब्द उच्चरित होता है, तथा उसमें 'इच्छा' का अर्थ भी विकसित हो गया है। 'इच्छा' अर्थ में यह शब्द इन्हीं भाषाओं से इस बोली में आया है। **सुणे को**=सोने की। **लेफ़**=लिहाफ़, रज़ाई। **बारो**=**गयो**=गया। यह **बारो** रूप है तो **गयो** के सादृश्य पर, किन्तु यह मूलतः भारतीय न होकर उजबेक भाषा की धातु **बर** (**बरमॉक़**=जाना) से बना है। इस प्रकार उज़बेक या ताजिक से शब्द तो इस बोली ने लिये हैं, किन्तु व्याकरण के नियम इनके प्राय अपने है, जो पश्चिमी हिन्दी से पूर्णतः मेल खाते हैं। **अञ्चा**—उजबेक शब्द है। इसका अर्थ 'काफ़ी', 'ज्यादा' आदि होता है। **अञ्चा वक्त** भी ठीक इसी प्रसङ्ग में उज़बेक भाषा में प्रयोग होता है। **ग़फ़लत**=नींद, गहरी नीद (उजबेक शब्द)। मूलतः यह वही शब्द है जो उर्दू-हिन्दी आदि में है। उज़्बेक में अर्थ-परिवर्तन हो गया है। **हम**=भी (उज़्बेक शब्द) **बे**=भी। यहाँ। हिन्दी **भी** (बे) और उज़बेक **हम** दोनों समानार्थी शब्दों का ज़ोर देने के लिए साथ-साथ प्रयोग है। आगे भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं। **लेबा**=ओर। **रवॉन आयो**=रवाना होकर आया' **या**—वह यह। **लाकिन लेकिन** का उज्बेक उच्चारण **बेग**=नीचे जड में **अञ्चा कुशादि** कुशादा या **कोठा** घोला पञ्जाबी **पाचा**—पीछे

मो=मुँह। **कुला**=पास (सं० **कूल**)। **करश कर्चो**=आगे-पीछे। यह उज़बेक प्रयोग है, किन्तु गलत अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। इसका उजबेक में अर्थ आमने-सामने होता है। आगे-पीछे अर्थ में उज़बेक में **क़रश क़रा** आता है। **उसु बोत**=उसके बाद। **वार के त**=जा कर तो। यह **बार** जैसा कि पीछे कहा गया है, उजबेक धातु **वर** है। **उन्याँ**=वहाँ। **नाल**=पास (पञ्जाबी शब्द)। **कुर्री**=काला (उज़बेक **कोर्रा**)। **कुमरतना**=कोयले की तरह तन वाला। उज़बेक प्रयोग है। उजबेक में '**कुम्र**' का अर्थ है 'कोयला'। **आँकि**=आँख। ज़प **ज़र्द**=बिल्कुल पीला (ताजिक प्रयोग)। उजबेक में इसे **सप सरक़** कहते हैं। **सप, जप** एक ही हैं। **ग़ज़ब**=क्रोध (उज़बेक शब्द)। हिन्दी में भी मूलतः यह शब्द है, किन्तु इस अर्थ में नहीं। **कईं ख़ातर**=क्यों, किस लिए। **हात**=हाथ। **लोयो**=लोहा। **अञ्चा**=जोर (उज़बेक शब्द)। **लव**=लोहू। **तिरेक मारना**=फव्वारा छूटना। **वाइ**=हाय, उफ़। यह शब्द उजबेक, ताजिक एवं अफ़ग़ानी में आता है। हिन्दी के भी एक फ़िल्मी गीत में **वइ-वइ** इस अर्थ में आया है। **दाद ना मारो**=धाड़ नही मारी, नही चिल्लायी (हिन्दी मुहावरा तथा '**दाद** उजबेक ताजिक शब्द)। **दरेग़**=आफ़त, अफ़सोस (उज़बेक शब्द)। **मिंजा**=मैंने। **राके चो**=रखा था। **वाद वाइ**=हाय-हाय (उज़बेक प्रयोग)। **मुरो**=मेरा। **जग**=जगह। **दुकई**=दुखती है। **काले**=सिर (उजबेक **कल्ला**=सिर)। **ओवा गो**=आवोगी। **उसू**=उसी। **गल**=बात (पञ्जाबी प्रयोग)। **इसी-इशरत**=ऐशो-इशरत। **पाचा**=पीछे। **वक़्ते-सरे**=वक़्त से पहले (ताजिक प्रयोग)। **कर**=घर (पञ्जाबी उच्चारण)। **आमि**=आदमी। **ढुण्**=ढूंढ़। **देको**=देखा। **खल्ता थैला**; भोजपुरी **खलिती**। **इसना कलो**=इसने किया। **हेका**=आगे (**आगे**>**एगा**>**एका**>**हेका**) **बगांये**=फेंका। **हैरान गो**=हैरान हो गया। **केयो**=कहा। **तिञ्जा**=तूने। **पेण**=बहिन (पञ्जाबी उच्चारण)। **सो गो**=सो गया। **बार**=बाहर। भोजपुरी में **बाहर निकलना** मुहावरा ठीक इसी अर्थ में है। इसका आशय है पेशाब-पाखाने जाना। **चूट**=झूठ (पञ्जाबी उच्चारण)। **कपस**=कफ़स। **सनोबर ब गुल चिकर्द, व गुल ब सनोबर चिकर्द**=सनोवर ने गुल के साथ क्या किया, और गुल ने सनोवर के साथ क्या किया, यह वाक्य ताजिक भाषा का है। **अवक़ात**=भोजन (उज़बेक शब्द)। **बगोव्इ**=रखता है, फेंकता है। **लुकुइ-मर्दुम**=लोक; **मर्दुम** यहाँ ताजिक शब्द है। **तसोम**=समाप्त। यह शब्द उजबेक एवं ताजिक में इसी रूप में उच्चरित होता है। (कई स्थानों पर कुछ शब्द एवं प्रयोग अस्पष्ट हैं। उन्हें मैंने इस टिप्पणी में नहीं लिया है।) इस सम्बन्ध में पाठकों के अनुमानों, सुझावों एव सम्मतियों का स्वागत है।

इस कहानी की ध्वन्यात्मक एवं व्याकरणिक प्रवृत्तियों से स्पष्ट है कि यह बोली ध्वन्यात्मक प्रवृत्तियों (घ>क, झ>च, ध>त, भ>प) में पञ्जाबी के निकट है, कुछ रूप राजस्थानी के है, किन्तु का परसर्ग, क्रिया रूप, एवं अन्य व्याकरणिक बातें पश्चिमी हिन्दी की हैं। इन आधारों से स्पष्ट है कि इसका मूल स्थान राजस्थानी एवं पञ्जाबी की सीमा के पास का पश्चिमी हिन्दी का कोई क्षेत्र रहा होगा।

मैं इस सीमा के पास प्रयुक्त आधुनिक बोलियों से इसकी तुलना कर रहा हूं और आशा है इस बोली का तुलनात्मक व्याकरण शीघ्र ही हिन्दी जगत् के समक्ष रख सकूँगा। प्रस्तुत लेख के लिखने में श्री ओरान्स्की के लेखों से बहुत सहायता मिली है उनका मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ

मधुर भक्ति-भाव का विकास : पृष्ठभूमि-स्थित विविध तत्व

•

देवीशङ्कर अवस्थी

मधुरा भक्ति के मूल में स्त्री-पुरुष के प्रेम-सम्बन्ध की धारणा विद्यमान है। अपने इष्ट-देव कृष्ण के प्रति जो राग (स्वारसिकी आविष्टता) ब्रजगोपिकाओं के हृदयों में था, उसी का अनुगमन करके मन में जो भावचिन्तन किया जाता है, वही परिपक्व होकर मधुराभक्ति में परिणत हो जाता है। समस्त साधना इसी उज्ज्वल भाव तक पहुँचने के लिये होती है। इस साधना की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और विकास की संक्षिप्त रूपरेखा देने की चेष्टा हम करेंगे।

इस साधना का प्रारम्भिक और एतत्सम्बन्धी रूप बहुत पुराना और उपमानपरक है। लौकिक सम्बन्ध उपमान एवं पारलौकिक सम्बन्ध उपमेय के रूप में बहुधा स्वीकार किया गया है। वैदिक संहिताओं से ऐसे उपमानपरक रूपों को प्रचुर मात्रा में उद्धृत किया जा सकता है। विद्वानों ने बृहदारण्यक उपनिषद् का यह मन्त्र इस सम्बन्ध में बहुत बार उद्धृत किया है :—

> तद्यथाप्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो
> न बाह्यम् किञ्चन वेदनान्तरम्।
> एवमेवायम् पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो,
> न बाह्यम् किञ्चन वेदनान्तरम्।[1]

वस्तुतः इस उद्धरण में सम्बन्धों के भी सादृश्य की ओर सङ्केत न करके स्थिति-सादृश्य को व्यञ्जित किया गया है। इस उपनिषद् वाक्य मे यौनसम्प्रयोग से उत्पन्न विलय को समाधि के आनन्द के समतुल्य बताया है। ब्रह्म और जीव के मध्य स्त्री-पुरुष सम्बन्ध दिखाना यहाँ पर अभिष्ट नहीं प्रतीत होता। पर इतना तो इससे प्राप्त ही किया जा सकता है कि गहन आवेग, आनन्द एवं भावात्मक सम्मिलन के लिये कामसुख के सादृश्य की ओर उस समय भी ध्यान आकर्षित हुआ था।

जीवन की एक प्रधान और महत्वपूर्ण वृत्ति काम है। वैदिक ऋषि ने अनुभव किया था कि के मूल मे काम विद्यमान है मनसो रेत प्रथम यदासीत"[2]

भारतीय समाजचिन्तकों ने इस शक्तिशाली वृत्ति को पालतू बनाने के लिये विवाह-संस्था का जिस रूप में विकास किया, उसने 'काम' को उन्नति अवस्था में लाकर उसके माध्यम से पितृ-ऋण जैसे दृश्य रूप में, साकार पर सामाजिक मूल्यों से सम्पृक्त कार्य कराने चाहे।

दूसरी ओर पातिव्रत एवं पत्नीव्रत के आदर्शों द्वारा इस अमर्यादित वृत्ति को मर्यादित करने की चेष्टा भी की गयी। पति-पत्नी विवाह के पश्चात् लौकिक-वासना की तृप्ति करते हुए भी एक अभिन्न एवं जन्मान्तरव्यापी अपरिवर्तनीय सूत्र में बँध कर जो एकत्व अनुभव करते हैं, उसमें 'काम' महत्वहीन हो जाता है अथवा यों कहें कि अधिक उदात्त बन कर मनुष्य को शक्ति और प्रेरणा देता है।

धीरे-धीरे स्त्री की सामाजिक हैसियत पुरुष की अपेक्षा गिरती जाती है, पातिव्रत धर्म का महत्त्व बढ़ जाता है एवं एक पत्नीव्रत का आदर्श समाप्त हो जाता है और पत्नी समर्पणशीला बन जाती है। उसके लिये आवश्यक माना गया कि दुर्बलताओं एवं तिरस्कार को सहन करके भी वह असीम और गम्भीर प्रेमवृत्ति के साथ पुरुष के प्रति अनुरक्त रहे। उसके चरित्र में एक कोमल मानवीय गहनता के साथ ही दिव्य एवं अलौकिक गुणों का अपूर्व समन्वय परिलक्षित होने लगा। इस निष्ठावान् अविचल प्रेम की प्रतिमूर्ति ही भारतीय काव्य-पुराणादि की नायिकाएँ हमें मिलती है। हमारा विचार है कि बहुपत्नीवाद के बीच से फूट कर आये हुए इस निष्ठावान् अखण्ड प्रेम के नारी-आदर्श ने मधुर भाव को विकसित होने में सहायता दी है। एक परमपुरुष की जीवात्मा रूपी अनेक स्त्रियाँ हैं एवं वे स्त्रीरूपी जीवात्माएँ अपने प्रियतम से वैसा ही दृढ़ प्रेम करें जैसा कि भर्तानिष्ठ स्त्री पति से करती है—यह आदर्श महत्वपूर्ण ढङ्ग से साधना के क्षेत्र मे स्वीकार किया गया है।

स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों एवं प्रेम-वृत्ति के सामन्तीकरण (Feudalisation of Love) का एक और रूप भी हमें मधुर भाव की साधना में विकसित होता मिलता है। जैसे एक सामन्त के ऊपर दूसरा सामन्त होता है और उसकी पीढ़ी-दर-पीढ़ी सेवा होती है; प्रेम की लगभग वैसी ही चर्या हमें उत्तर-मध्ययुग में प्राप्त होने लगती है। राधा हैं, कृष्ण हैं, उनकी प्रधान-प्रधान सखियाँ हैं, यूथेश्वरियाँ हैं और फिर उनकी भी सेविकाएँ, दासियाँ या मञ्जरियाँ हैं। यह सारा ढाँचा पूरी तौर से सामन्ती सामाजिक व्यवस्था पर आधारित है; मध्ययुग में व्यक्ति का व्यक्ति से प्रेम था या घृणा-भाव अधिक सशक्त थे। देवभक्ति या राष्ट्र-सेवा जैसे अरूप सम्बन्धों की अपेक्षा शरण मे आये हुए को रक्षा देने की या मित्र के लिये प्राण त्याग देने का या प्रेमिका के लिये वैयक्तिक आवेश के कारण ही प्रेम और विश्वासघात दोनों का ही रूप महान् था। उतना बड़ा प्रेम और विश्वासघात दोनों ही आज सम्भव नहीं हैं। उत्तर मध्य युग तक आते-आते प्रेम का आवेग एक नये रूप में शक्तिशाली हो उठा—यह बात दूसरी है कि उसकी वेशभूषा कुछ पुरानी ही रही। नम्रता, शिष्टता एवं एक प्रकार का व्यभिचार भी इस प्रेम के अङ्ग बन गये। सामन्त और प्रजाजन का सम्बन्ध प्रेम के क्षेत्र में नम्रता के रूप में प्रकट हुआ। दरबारी शिष्टता के मानदण्ड प्रेम के क्षेत्र में प्रेमी-प्रेमिका के पारस्परिक व्यवहार प्रतिबिम्बित होते हैं और तीसरे तत्त्व व्यभिचार के कारण और गहरे हैं सामन्ती विधान के भीतर पत्नी सम्पत्ति के एक टुकड़े की भाँति स्वीकृत थी अत उसके साथ प्रेम के अति   या रूमानी भावना को जोड़ने का प्रश्न

ही नही उठता था वह तो प्राप्त थी ही जमीदार के लिये जैसे भमि वैसे पति के लिये पत्नी—यह सामान्य धारणा थी इस प्रकार का परिस्थिति मे विवाह और प्रेम सम्पन्न न रह कर पृथक् मन:स्थितियाँ बन गये। 'प्रेम' के लिये विवाह उपयोगी नहीं रहा—यों विवाह की उपयोगिता और पत्नी की आवश्यकता अनिवार्यत: स्वीकृत थी—ऐन्द्रिक प्रसन्नता तथा 'घर' की सुरक्षित सुख-भावना के कारण। पर इसमें मध्ययुग का सर्वजयी रोमांस कहाँ उभर पाता है? परिणाम परकीया-प्रेम हुआ। वही स्त्री अपने पति के लिये महत्त्वहीन—पर वही स्त्री प्रेमी के लिये प्राणाधिका हो जाती है। सी० एस० लेविस का यह कथन इस प्रसङ्ग में नितान्त सार्थक हो जाता है, "विवाह को मात्र उपयोगी मानने वाले समाज में, यौन-प्रेम का आदर्शीकरण निश्चित ही व्यभिचार के आदर्शीकरण से प्रारम्भ होता है।"[3] उत्तर मध्ययुग में परकीया प्रेम के इस आदर्शीकरण के उदाहरण भारतीय भाषाओं के वैष्णव-भक्ति साहित्य में विरल नहीं है।[4]

इस परकीया-प्रेम के पीछे एक और मनोवैज्ञानिक कुण्ठा भी स्वीकार की जा सकती है। अभी हम कह चुके हैं कि दाम्पत्य-जीवन में जिन हिन्दू आदर्शों की प्रतिष्ठा हुई थी, उसमें 'काम' का स्थान महत्वहीन हो गया था। धीरे-धीरे उद्दाम आवेगमय वासनात्मक प्रेम को धर्म के वैराग्यशील पक्ष ने अनुचित ठहराना शुरू किया। स्त्रियों की भाँति-भाँति की निन्दा के स्वर हमे गौतम बुद्ध से लेकर मध्ययुग के कवियों—साधकों तक में मिलते हैं। परन्तु साहित्य में, चित्रों में यानी—कलाओं के क्षितिज के भीतर जब-जब परकीया-प्रेम का चित्रण हुआ, वह मानों एक प्रकार से धार्मिक वर्जनशीलता के प्रति विद्रोह था। विद्रोह की आत्यन्तिक विजय तब होती है जब कि साहित्य की प्रेम देवी राधा, अनन्य शक्तिरूपा बन कर धर्म के सिंहासन पर भी आसीन हो जाती है। इस प्रक्रिया की परिणति में राधा-कृष्ण का उद्दाम प्रेम, आवेगमयी लीलाएँ शत-शत कण्ठो से धर्म की पवित्रता के साथ फूट पड़ती हैं। परकीयावाद इन्हीं के साथ एक बौद्धिक दार्शनिक व्याख्या की मान्यता भी प्राप्त कर लेता है तथा इस विद्रोह का सबसे ऊबड़-खाबड़ रूप हमे वज्रयानियों के वेदविरोधी धक्कामार स्वर में मिलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पत्नी के समान आत्मसमर्पण, दृढ़निष्ठा एवं परकीया जैसा उद्दाम प्रेम तथा लीला एक ही समाज-व्यवस्था की मन:स्थितियों की देन हैं।

इस सामाजिक प्रेरणा के अतिरिक्त पूर्व-वैदिक युग के मातृसत्तात्मक कुटुम्बों ने भी धर्म-साधनाओं के भीतर से इस माधुर्यभाव को विकसित होने में सहायता दी है। स्त्री की प्रजनन-सामर्थ्य के कारण धर्म-साधनाओं एवं सृष्टि-सम्बन्धी विश्वासों में मूलत: एक शक्ति की कल्पना मातृसत्तात्मक कुटुम्बों की देन मानी जा सकती है। इस शक्तिवाद के साथ ही एक प्रकार की गुह्य-यौगिक साधना भी इस देश में प्रारम्भ से ही पल्लवित होती रही है। इन दोनों ने समस्त भारतीय साधनाओं, धर्ममतों, उपासना-प्रणालियों एवं दार्शनिक मान्यताओं को भीतर-भीतर प्रभावित किया है। इस शक्तिवाद के प्रभाव की विस्तृत विवेचना डॉ० शशिभूषण दास गुप्त ने अपने ग्रन्थ 'श्री राधा का क्रमविकास' में की है।[5] शक्तिमत के प्रभाव में ही प्रत्येक देवता के साथ उसकी शक्ति की कल्पना की गयी है। दार्शनिक रूप में शक्ति का चाहे जो स्वरूप हो, अपने लोकबोध के अनुरूप धर्मबोध को ग्रहण करने वाला समाज अपने देवता और उसकी शक्ति को पति-पत्नी-रूप में देखता है तथा सामाजिक जीवन के पति-पत्नी के आदर्श ही उनके ऊपर आरोपित करता है

यह शक्तिवाद ही वैष्णव में श्री या लक्ष्मी का रूप धारण करता है। अहिर्बुध्न्य संहिता में परमात्म-धर्म-धर्मी लक्ष्मीरूपा शक्ति को जगत् की योनि कहा गया है।[5] यह शक्तिवाद जब आर्य दार्शनिक मेधा के सम्पर्क में आया तो एक निरपेक्ष सत्ता के प्रवृत्यात्मक और निवृत्यात्मक दो रूप माने गये। निरपेक्ष रूप में अद्वय स्थिति स्वीकृत थी पर 'होने' की प्रक्रिया में तथा सृष्टि-निर्माण में यह इन दो रूपों में बँट जाता है। इस द्वित्व की भावना से गुजरना ही बन्धन और दुख है और उससे छुटकारा ही मोक्ष है। तमाम गुह्य साधनाएँ इस द्वैत के नाश और अद्वैत की प्राप्ति का ही प्रयास करती हैं। अद्वैत की इस अवस्था को ही अद्वय, मिथुन, युगनद्ध, यामल, समरस, युगल, सहज समाधि अथवा शून्य समाधि आदि संज्ञाओं से अविहित किया गया है।

यह सृष्टि क्यों कर होती है—इसकी व्याख्या के दौरान में लीलावाद की उत्पत्ति हुई। वैष्णव पाँचरात्रों में लीलावाद का स्पष्ट स्वर हमें मिलता है। इनमें समस्त सृष्टि को ही लीला-स्पन्दन कहा गया तथा भगवान् को लीलारस-समुत्सुक बताया गया है।[7] अहिर्बुध्न्य संहिता में ही शरणागति के छः प्रकारों की गिनती हुई है। ये प्रकार हैं—अनुकूलता का सङ्कल्प, प्रतिकूलता का वर्जन, विश्वास की रक्षा, गोप्तृत्ववरण, आत्मविक्षेप तथा कार्पण्य। शरणागति के इन रूपो के साथ पहले विवेचित पातिव्रत वाले प्रेमादर्श को मिला कर देखें तो आश्चर्यजनक समानता प्राप्त होती है। जिन गुणों की शरणागति में आवश्यकता है उन्हीं की मान्यता पत्नी के लिये भी है। इस समानता ने भी माधुर्यभाव के विकास में सहायता पहुँचायी होगी। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने इस समानता पर तो ध्यान नहीं दिया पर शरणागति-तत्त्व को मधुर उपासना में सहायक अवश्य माना है।[8]

पुराणों आदि के माध्यम से यह शक्ति-तत्त्व पत्नी-प्रतीक को स्वीकारता प्रतीत होता है। पुराणों में तत्त्व-दर्शन एव लोक-प्रचलित उपाख्यान एक में मिल जाते हैं। (आगे चल कर सूफियो मे भी यही प्रतीकवाद किञ्चित् बदले रूप में प्राप्त होता है। परन्तु उनमें युगल-तत्व की स्वीकृति नही है।) इस मिलन में लोक-प्रचलित किंवदन्तियाँ ही नहीं, साधानाएँ, विश्वास और रूढ़ियाँ भी समन्वित हो गयी हैं। परिणामस्वरूप तत्व-दर्शन के क्षेत्र में पुराणकारों ने बड़ी आसानी के साथ सांख्य के पुरुष और प्रकृति को तन्त्र के शिव-शक्ति से और वैष्णवों के विष्णु-लक्ष्मी से बिलकुल अभिन्न कर डाला है। इसके फलस्वरूप पुराणों में वर्णित लक्ष्मीस्तव में विष्णु और लक्ष्मी, वेदान्त के ब्रह्म और माया, सांख्य के पुरुष और प्रकृति तन्त्र के शिव और शक्ति—सभी अपनी-अपनी स्वतन्त्रता छोड़ कर मिल-जुल कर एक युगल मूर्ति धारण किये हुए हैं। बाद वाले काल के राधा-कृष्ण ने भी बड़ी आसानी से आकर इस युगल के सामने ही आत्मसमर्पण किया है।[9] इस प्रकार से भारतीय हृदय के पुरामान्य आदि युगल को हम प्रतिष्ठित देखते हैं। यह सब इतने लौकिक स्तर पर सम्पन्न होता है कि तत्व-दर्शन प्रतीक न रह कर वास्तविक सामाजिकता का भ्रम (Illusion of reality) पैदा कर देता है।

यह शक्तिवाद, वैष्णव मतवाद को ही नहीं शैव, शाक्त और बौद्ध-साधनाओं को भी प्रभावित कर रहा था। वैष्णव और शैव-शाक्त शास्त्रों में प्राप्त शक्तिवाद भाव, भाषा या विचार किसी भी दष्टि से बहुत भिन्न नहीं है

बौद्ध-साधना का माग जब महायान के अन्तगत [illegible] के लिय उन्मुक्त हो गया तब सहज ही लोग समस्त परम्परागत विचारों, मान्यताओं देवी-देवताओं, भूत-प्रेत, जादू-टोने के विश्वासों समेत उसके भीतर आ गये। उनके साथ ही हठयोग, लययोग, राजयोग, मन्त्रयोग भी घुसे और इन सबने एक व्यवस्थित बौद्ध तान्त्रिक साधना-विधि खड़ी कर दी; जिसका कि नैतिक-धार्मिक दृष्टिकोण ही मूलरूप से भिन्न हो गया।[१०] इसी में मिथुन योग भी आ मिला। यही पर धार्मिक निषेध की पूर्व चर्चित प्रतिक्रिया को हम याद कर लें। यह प्रतिक्रिया भी एक कारण थी कि इन लोगों ने जिन पंचमकार आदि प्रतीकों का प्रयोग किया, वे मनुष्य की उद्दाम यौन वृत्तियों से सम्बन्धित थे।

अस्तु शिव-शक्ति, विष्णु-लक्ष्मी, शून्यता और करुणा, प्रज्ञा और उपाय, चन्द्र और सूर्य ही राधा-कृष्ण एवं राम-सीता का रूप उत्तर-मध्ययुग में धारण कर लेते हैं। डॉ० शशिभूषण दास गुप्त के अनुसार भारतीय धर्म-साधना के क्षेत्र में शक्तिवाद तीन रूपों में दिखायी पडता है—

(१) एक अद्वय समरस तत्त्व निरपेक्ष सत्ता है। शिव और शक्ति दोनों उसके अशमात्र हैं। (२) शिव ही परमतत्त्व तथा शक्ति के मूल आश्रय हैं। अतः वे ही उपास्य हैं। शक्ति उन्हीं में निहित है। (३) शक्ति ही परम तत्त्व है और जिसके भीतर वे आधारीभूता है वे ही शिव हैं। अतः उपास्य शक्ति है न कि शिव।

बौद्ध साधनाओं एवं सहजिया वैष्णवों में प्रथम स्थिति अधिक मान्य रही है। शैवों तथा प्रारम्भिक वैष्णव-सम्प्रदायों (श्रीनिम्बार्क एवं वल्लभ) में दूसरी स्थिति के निकट पहुँचती हुई मान्यताएँ स्वीकृत हैं। गौड़ीय वैष्णवों में तीसरी विचारधारा (शाक्तमत) की ओर झुकाव मिलता है जो कि हरिदासी, राधावल्लभी और हरिव्यासी (परवर्ती निम्बार्की) में अधिक विकसित हुआ है। इसकी चरम पराकाष्ठा हमें वृन्दावन के ललित-सम्प्रदाय में दिखायी पडती है।

साधना के क्षेत्र में बौद्ध सिद्धों, रसेश्वर दर्शन एवं कौल-कापालिक सम्प्रदायों में पिण्ड से ही ब्रह्माण्ड की कल्पना करके अद्वय या युगनद्ध स्थिति की उपलब्धि का प्रयास किया जाता था। उनके अनुसार स्त्री और पुरुष अंश (शिव और शक्ति) मनुष्य शरीर के भीतर ही हैं। उनकी अद्वय उपलब्धि के लिये विभिन्न प्रकार की यौगिक प्रणालियों का आश्रय लिया जाता था तथा स्त्री का प्रयोग साधन-रूप में भी स्वीकार्य था। सब मिलाकर इसमें यौन-यौगिक साधनाएँ प्रचलित थीं। स्वाभाविक है कि ऐसी साधना प्रणालियों ने मधुरभाव के अङ्कुरित होने में सहायता दी होगी।

सहजिया वैष्णवों में आकर इस विश्वास का रूप थोड़ा बदल गया। पर प्रत्येक पुरुष में कृष्ण और प्रत्येक स्त्री में राधा का तत्त्व स्वीकार किया गया। इसके लिये आरोप-साधना की कल्पना की गयी। पुरुष किसी स्त्री में राधा का आरोप कर वैसा ही चिन्तन करे—उसके लिये व्याकुल हो एव स्त्री किसी अन्य पुरुष को कृष्ण-रूप में देखे। इस प्रकार स्त्री-पुरुष दोनों के ही शरीर, साधन बन गये। इस आरोप-साधना में परकीया-भाव को ही स्वीकृति मिली क्योंकि मिलन की चेष्टा वहीं अधिक तीव्र एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्त होती है

गौड़ीय वैष्णवों को यह सहजिया साधना उत्तराधिकार में मिली। उन्हीं के प्रभाव मे परकीया-भाव को उन्होंने स्वीकृति भी दी जो कि मध्यदेश में आकर या तो स्वकीया हो जाती है (जैसे कि पुष्टि-मार्ग में) या परकीया-स्वकीया-विवर्जित (राधावल्लभी)। पर सहजिया वैष्णव आरोप-साधना वैष्णवमतवादों मे आकर कुछ भिन्न रूप धारण कर लेती है। यहाँ पर किसी दूसरे की स्त्री पर राधा या दूसरे पुरुष पर कृष्ण का आरोप करने के स्थान पर अपने मन पर किसी पूर्व रागात्मिका भक्ति के साधक का आरोप करना होता है। इसे ही रागानुगा भक्ति कहा गया है। आरोप की यह साधना मनोवैज्ञानिक शब्दावली में आत्मसुझाव (Auto-suggestion) कहलावेगी तथा रहस्यानुभूति के क्षेत्र में इसको सर्वत्र मान्यता मिली है। पर दोनों प्रकार के आरोपों में, आरोप का केन्द्र बदल जाता है। सहजिया वैष्णवों में किसी दूसरे को राधा या कृष्ण मानकर चलना होता है एवं वैष्णव मतवादों में अपने को ही नन्द-यशोदा, हनूमान, सुबल, उद्धव या गोपी आदि अनुभव करने का अभ्यास करना पड़ता है।

आरोप के इस अभ्यास के सफल हो जाने के बाद ही वैष्णवों ने भाव और प्रेम-भक्ति की अवस्थाएँ मानी हैं। उस समय के आनन्द की कोटियों में भी समानता है। साधना की दृष्टि से बौद्धों, नाथ-तन्त्रों और वैष्णवों आदि में एक समानता और भी है। तन्त्रों के सात आचारो मे सर्वश्रेष्ठ कौलाचार माना गया है जिसमें कि सभी नियम अर्थहीन हो जाते हैं। वैष्णवों के यहाँ भी प्रेम की सर्वोच्च स्थितियों में किसी भी प्रकार के विधि-निषेध को स्वीकार नहीं किया गया है।

अस्तु, इस मधुर भाव की साधना की पृष्ठभूमि को सामाजिक प्रेरणा एवं समसामयिक साधनाओं के अतिरिक्त प्रभावित करनेवाला तीसरा तत्त्व है—साहित्य की परम्परा। साहित्य का अवलम्बन करके ही राधा का आविर्भाव और प्रसार हुआ है। इसके अतिरिक्त राधा-प्रेम का ढाँचा पूर्ववर्ती प्रेम-कविता से ही लिया गया है। भारतीय काव्य-धारा और काव्य-प्रणाली तथा प्रचलित कवि-प्रसिद्धियों को ही वैष्णवभक्त-कवियों ने भी पूरी तरह ग्रहण कर लिया है। इसमें उन्होंने अपनी-अपनी प्रतिभा और कल्पना से नये प्रसङ्गों, नूतन लीलाओं, नव-काव्यरूपो एव कथन-भङ्गिमाओं का भी समावेश किया है।[११]

चौथा अन्यतम तत्व है दक्षिण की भक्ति का प्रभाव। सी० एच० वोदवील का मत है कि भागवतधर्म (महाभारत-गीता काल) लौकिक प्रेम-सम्बन्धों तथा लोकोत्तर प्रेम अथवा भक्ति के बीच सादृश्य स्वीकार नही करता था।[१२] भक्त की आत्मा कृष्ण के प्रति वैसी ही भावना रखे जैसी कि एक निष्ठावती नारी अपने पति के प्रति रखती है; यह बात कहीं भी ध्वनित नहीं होती।[१३] लेखिका के अनुसार तमिल शैव सन्त माणिक्य वाशगर का तिरुक्कोव्य ब्रह्मजीव के गूढ़ सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिये लोकप्रिय रोमांस के प्रतीकात्मक प्रयोग का प्रथम प्रयास माना जा सकता है।[१४] बोदवील ने एक लोककथा के बहाने इस सम्बन्ध की अभिव्यञ्जना का सम्बन्ध सूफी-प्रभाव से जोड़ा है।[१५] हम इस बात की विस्तृत परीक्षा न करके मात्र इतना सङ्केत करना चाहते हैं कि पुराणो मे लोकाख्यानों और तत्त्ववाद, दोनों को समन्वित करके प्रेम-प्रतीकवाद के यथेष्ट उदाहरण मुस्लिमपूर्व युग के मिल जाते हैं जैनियो ने भी प्रेम-कथाओ के माध्यम से वैराग्य के

उपदेश दिये हैं। यह बात दूसरी है कि जैनियों के उपसंहार कुछ अ-कलात्मक ढङ्ग से आते हैं। पर यह लक्ष्यों की भिन्नता के कारण भी सम्भव है। (जैनी लोकप्रेम-पद्धति का प्रत्याख्यान करता था जबकि भक्तों ने उसे बहुमान प्रदान किया।) तथा यह प्रश्न कलात्मक विकास से भी सम्बद्ध है।

अस्तु, शैवभक्तों के प्रेम-प्रतीकवाद को वास्तविकता के स्तर पर आलवार भक्त ले आये। जो प्रतीक था वह भावजगत् की सचाई बन गया। नाम्मालवार तथा आण्डाल ने अपने को गोपी तथा श्रीरङ्गम् की पत्नी मानकर परमात्मा से प्रेम किया। यह भी एक प्रकार से सहजिया वैष्णवो की आरोप-भावना के अनुकूल था। नारद भक्ति-सूत्र में इसे ही 'यथा ब्रजगोपिकानां' कहा गया है। शाण्डिल्य सूत्रों के स्वप्नेश्वर भाष्य में भी तीसरे सूत्र के 'संस्था' शब्द के अर्थ की ओर एक सङ्केत दिया गया है। महाभारत के एक अवतरण के आधार पर 'संस्था' का आशय पति के प्रति पत्नी की भक्ति से है। उत्तरभारत की वैष्णव मधुरभाव की साधना में इस भाव के उत्तराधिकारी अधिकांशतः निर्गुण साधक और मीराबाई हैं। अन्य साधकों ने अपनी कल्पना सखा या सखियो के रूप में की है, न कि प्रेमिका या पत्नी के रूप में। वास्तव मे दक्षिण के भक्तो मे प्रेम-प्रतीकवाद विकसित हुआ था जबकि उत्तरभारत में युगल रूप का तत्त्व-दर्शन। इसी कारण दक्षिण के उत्तराधिकारी अपने को राम की बहुरिया कहते हैं पर राधावल्लभी, हरिदासी, निम्बार्की आदि सम्प्रदायों में नित्यविहार-लीला के दर्शन और उस विहार मे परिचर्या, का महत्त्व है। पुष्टिमार्ग, सूफी-सम्प्रदाय, शुक-सम्प्रदाय एवं स्वसुखी शाखा के रामोपासकों में दक्षिण की परम्परा में प्रेम-प्रतीकवाद भाव सत्य के स्तर पर विकसित हुआ है।

माधुर्योपासना को बढ़ावा देने वाला अन्तिम मुख्य तत्त्व है---सूफी-तत्त्व-दर्शन। सूफी भी अपने इष्ट को लौकिक प्रेम-प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। विरह-भाव का इनमे प्राधान्य है। इन्होंने मुख्य रूप से निर्गुणोपासकों को अपने इश्क के रङ्ग में रँगा है। सूफियों एव सन्तों की प्रेमानुभूति की व्यन्जना में इतना अन्तर अवश्य है कि सूफी अपने प्रेम के रूप में कहानी के पात्र ले आते हैं जबकि सन्तों ने सीधे आत्मपरक रूपक बाँधे हैं। इस कहानी के आवरण के अतिरिक्त दोनों की प्रेमानुभूति में बहुत अन्तर नहीं है।[१६] सगुणोपासकों में वल्लभ एवं गौडीय वैष्णवों में जो विरह-भाव का महत्त्व है, उस पर भी सूफी-मतवाद की छाप देखी जा सकती है ; रसोपासकों में नित्य विहार के अन्तर्गत विरह की स्थिति सूफीभाव से भिन्न हो गयी है।

ऊपर कही हुई सारी बातों को यदि समेट कर देखा जाय तो प्रतीत होगा कि मधुर भाव के मूल में दो तत्त्व हैं---लीलावाद तथा कान्ताभाव। प्रथम तत्त्व का विकास शक्तिवाद के माध्यम से विभिन्न साधनाओं के बीच से हुआ है तथा द्वितीय तत्त्व का आरम्भ प्रेम-प्रतीकवाद के रूप में होता है और जो धीरे-धीरे यथार्थता का बाना धारण कर लेता है। सम्भवतः इन दोनो का प्रथम कलात्मक समन्वय श्रीमद्भागवत में होता है एवं चरम परिणति सोलहवीं-सत्रहवी शती के वैष्णव-काव्य में प्राप्त होती है।

सन्दर्भ-सङ्केत—

१. बृहदारण्यक उपनिषद्, ४।३।२१

२. ऋग्वेद ८।७।१७, अथर्ववेद, १९।५२।१

३. "Any idealisation of sexual love, in a society where marriage is purely utilitarian, must begin by being an idealisation of adultery." C S. Lewis, Allegory of Love, p. 13 (Oxford University Press : 1948)

४. परकीया प्रेम के इस सामन्ती रूप का अनजाने ही एक प्रकाशन भागवत में हो गया है। शुकदेव से महाराज परीक्षित ने कृष्ण के परदाराभिमर्शन के औचित्य के बारे में प्रश्न किया। शुकदेव ने उत्तर देते हुए कहा कि, "तेजस्वियों के लिये कोई भी चीज दोष की नहीं है जैसे कि सर्वभुक् अग्नि (कोई मलिनता स्पर्श नहीं करती।) ईश्वरगणों का वाक्य ही सत्य है, लगातार आचरण सदैव सत्य नहीं होता..."। इस उत्तर में मानों कोई कह रहा है कि सामर्थ्यवान् शक्तिशाली सत्ताधीश के लिये कुछ भी दोष नहीं है। उसका शब्द ही कानून है। वही सचाई है, बाकी सब मिथ्या है। स्पष्ट है कि यह उत्तर सामन्ती भावना के एकदम अनुकूल है।

५. देखिए, प्रथम से षष्ठ अध्याय तक।

६. ५९।७

७. अहिर्बुध्न्य संहिता ४१।४

८. माधुर्यभक्ति की पृष्ठभूमि, अनुशीलन, वर्ष १३ : अङ्क १-२, पृ० ४९५

९. शशिभूषण दास गुप्त, श्री राधा का क्रम विकास, पृ० ७२

१०. S. B. Dasgupta, Obscure Religious cults, p. 21-22

११. शशिभूषणदास गुप्त, श्री राधा का क्रमविकास, पृ० १४८

१२. हिन्दी अनुशीलन : वर्ष १३, अङ्क १-२, पृ० २७१

१३. वही, पृ० २६९

१४. वही, पृ० २७२

१५. वही, पृ० २७४

१६. निर्गुणोपासकों एवं सूफियों, दोनों का ही सम्मिलन राजपूताने एवं पञ्जाब में मुख्य रूप से प्रारम्भ में हुआ होगा। प्रभाव ग्रहण की यह प्रक्रिया मुख्य रूप से १३-१४ वीं शताब्दी में ही हुयी होगी।

भारतीय नाट्य-परम्पराः संस्कार और जीवन-दर्शन

लक्ष्माकान्त वर्मा

नाट्य-कला, अन्य कला-विधाओं की अपेक्षा अधिक व्यापक जीवन को प्रस्तुत करनेवाला माध्यम है। जीवन के विस्तृत सामाजिक एवं व्यावहारिक तत्त्वों के साथ-साथ उसके समुचित सुख-दुख, हर्ष-विषाद आदि की भाव-व्यञ्जक अनुकृति है। प्रत्येक भाव के साधारणतः दो स्तर होते हैं—एक तो सामान्य और दूसरा नितान्त वैयक्तिक। सामान्य सुख-दुख, हर्ष-विषाद की भावना सर्वव्यापी है ही, किन्तु विचारों और आदर्शों के साथ सम्बद्ध होकर विशेष वैयक्तिक स्थिति मे सामान्य का भावान्तरण कभी-कभी इतना वैयक्तिक भी हो जाता है कि वह सर्वथा भिन्न व्यञ्जना देने लगता है। इस भिन्नता का प्रायः अर्थ ही बदल जाता है। विचार एवं भावना जब विशिष्ट होते हैं और सामान्य से भिन्न अर्थ व्यञ्जित करते हैं तो इनकी विशिष्टता और सामान्यता एक विन्दु पर आ कर एक नया सङ्घर्ष और नया द्वन्द्व पैदा करने लगते हैं। उनका सन्दर्भ और उनकी अनुभूति गहरी, मर्मस्पर्शी होने के साथ मानव-चेतना के स्तरों को उधेड़ कर रख देते हैं। जाना-पहचाना व्यक्ति अजनवी और अजनवी विल्कुल अपना सगा लगने लगता है। नाटक के माध्यम से हम मनुष्य की चेतना के इन विभिन्न स्तरों का अन्वेषण करते हैं। वस्तुत नाटक इन्हीं सामान्य, विशिष्ट और सूक्ष्म भावनाओं के अन्तर्द्वन्द्व में विकसित होता है। इसीलिये ऐसी भाव स्थितियाँ घटनाएँ मात्र नहीं रह जातीं। ये दृश्यवस्तु से कहीं अधिक दिखायी पड़ने वाली घटनाओं की पृष्ठभूमि में सूक्ष्म सार पर घटित होती हैं और उनके बीच सङ्घर्ष के चिह्न होते हैं—व्यावहारिक, व्यापारिक, सामाजिक एवं वैयक्तिक। इनके विरोधाभास और इनकी सफलता-विफलता नाटक के मूल भावात्मक तत्त्व होते हैं। यही कारण है कि सुख-दुख, हर्ष-विषाद आदि की भावनाएँ नाटक में दृष्टिगत होने से अधिक भाव-सन्दर्भो से जुड़ी प्रतीत होती है। दूसरे शब्दों में उनका सम्बन्ध जितना घटनाओं के वाह्य रूप से होता है, उससे कहीं अधिक वह उनके अन्तर में निहित रहता है।

एक प्रकार से यदि देखा जाय तो नाटक का मूल स्रोत हमारे सूक्ष्म भाव-स्तरों में होने वाले द्वन्द्व और सूक्ष्म से व्यापक-स्तर की अभिव्यक्ति स्वयं एक नाटकीय स्थिति है। इस प्रकार नाटक की रचना प्रक्रिया और उसके सारगर्भित अन्तर मे दो मुख्य तत्त्व होते हैं

वाह्य मर्यादा \ विरोध < सङ्घर्ष \ द्वन्द्व
आन्तरिक मर्यादा / उत्कर्ष /

वाह्य मर्यादा की अभिव्यक्ति सामाजिक और व्यावहारिक स्तर पर होती है। समाज के कुछ निश्चित मानदण्ड होते हैं। आचरण के कुछ मूल्य होते हैं जिन पर सामाजिक प्राणी परस्पर व्यवहार-व्यापार करते हैं। कभी-कभी ये मूल्य या व्यवहार या तो रुढ़िग्रस्त हो जाते है अथवा किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में ये मानवाचरण व्यंग्यास्पद और विरोध-प्रधान लगते है। वस्तुतः इन्हीं दो विरोधों में कुछ ऐसी स्थितियाँ होती हैं जो सम्पूर्ण व्यक्ति-मर्यादा और वाह्य मर्यादा को तोड़ देती हैं। सामाजिक सम्मान के लिये मनुष्य कुछ करता है, किन्तु चाहता कुछ और है। समाज की लोकशीलता उसे किसी दिशा की ओर ले जाना चाहती है और उसकी निजी अनुभूति कुछ और प्रेरणा देती है। इसका प्रभाव मनुष्य के आचरण और उसकी मूल्यगत दृष्टि पर समान रूप से पड़ता है। आन्तरिक मर्यादा से च्युत व्यक्ति कभी-कभी वाह्य मर्यादा को स्वीकार करके अपने वैयक्तिक मूल्यों को खोखला वना देता है। कभी व्यावहारिक अथवा वाह्य मर्यादा से च्युत होकर वह अपनी आन्तरिक मर्यादा को सवल वनाने की चेष्टा करता है। इन्ही विरोधाभासों में उसके जीवन की पर्तें प्रस्फुटित होती हैं। आन्तरिक मर्यादा और अनुभूति की तीव्रता जब वाह्य मर्यादाओं से टक्कर लेती है तो उस टक्कर में ही नाटक जन्म लेता है।

मान लीजिए कोई व्यक्ति किसी के बच्चे को कुछ खिला रहा है। ऐसी स्थिति में यह सोचा जा सकता है कि यदि वह बालक उसके हाथ से छूटकर गिर पड़े और उसका प्राणान्त हो जाय तो लोग उसे हत्यारा भी कह सकते हैं। लोगों के पास किसी की आन्तरिक वेदना को मापने का कोई साधन नहीं है, जिससे कभी-कभी यह स्थिति स्वयं में ही व्यंग्यात्मक बन जाती है। होता यह है कि आकार और स्थितियाँ वही की वही वनी रहती हैं किन्तु सन्दर्भ के बदल जाने से सारा अर्थ, सारी व्यञ्जना बदल जाती है। ठीक उसी प्रकार कभी-कभी सन्दर्भ वही रहता है किन्तु वाह्य स्थिति या मन-स्थिति के बदल जाने से व्यञ्जना बिलकुल ही भिन्न हो जाती है। वास्तव में नाटक इन दोनो चेतनाओं को समान रूप से चित्रित करता है। इन व्यंग्य-व्यञ्जनाओं से ही मनुष्य की वाह्य मर्यादा एवं आन्तरिक मर्यादा के साथ-साथ उसकी सामान्य स्थिति एवं विशेष स्थिति अथवा उसका सामान्य सन्दर्भ एवं विशेष सन्दर्भ भी बनता-विगड़ता रहता है। वास्तविक अर्थ में नाटक उन दोनों स्थितियों के विरोधाभास में विकसित होता है।

जिस वाह्य मर्यादा और आन्तरिक मर्यादा की समस्या का वर्णन ऊपर दिया गया है, उसके निर्माण एवं चयन में हमारे सामाजिक, धार्मिक एवं दार्शनिक तत्त्वों का वड़ा योग रहता है, क्योंकि 'हम' जहाँ पर नितान्त वैयक्तिक होते हैं वहीं उसी के साथ-साथ नितान्त सामाजिक भी होते है। जहाँ काव्य तथा अन्य माध्यमों में हमें अपने नितान्त आन्तरिक एवं वैयक्तिक होने की छूट स्वीकार करते हैं और उसका आचरण भी कर सकते हैं, वहीं नाटक में इस नितान्त आत्मपरक तत्त्व का निर्वाह हमसे सम्भव भी नहीं हो सकता और साथ ही वह अपेक्षित भी नहीं होता।

आदिम काल से ही सङ्घर्षशील मानव-चेतना में वाह्य मर्यादा और आन्तरिक मर्यादा का विरोध, उनके विरोध से उत्पन्न होनेवाले द्वन्द्व और सङ्घर्ष का उत्कर्ष रहा है। भाव-स्तर पर सामाजिक परिवेश का सस्कार और व्यक्तिगत हित का स्वार्थ तथा आत्म रक्षा एव

की अनिवायता भी मनुष्य मे एक अनिवाय स्थिति को जम देती रही है इन परिधियो मे
. . . . . स लेकर आ मोत्सग एव सुख से लेकर दुख तक की विवशताओ मे मनुष्य भटकता और थकता रहा है। हो सकता है, उस आदिम स्थिति में बड़ी-छोटी चीजों एवं मूल्यों के लिये ये सङ्घर्ष होते रहे हों, किन्तु भावात्मक स्तर पर उनके आघात-प्रतिघात तो तब भी थे। आज हमारी बिवेचना एवं विश्लेषण शक्ति बढ़ गयी है। इसलिये हमारे व्यवहार-व्यापार में थोड़ा आभिजात्य-तत्त्व आ गया है। फिर भी आभिजात्य और आदिम के सङ्घर्ष और विरोध तो तब भी रहा होगा। आज के जीवन में हमारा सङ्घर्ष उतना कठोर नहीं है, लेकिन सभ्यता के विकास के साथ-साथ हमारे सूक्ष्म स्तरों में वह द्वन्द्व आज पहले से अधिक तीखा और तीव्र हो गया है।

नाटक की समस्त वस्तु कहीं बाहर से नहीं आरोपित होती। उसका बहुत कुछ हमारे अन्तर में होता है। वस्तुतः नाटक तो हमारे आन्तरिक जीवन का एक चौथाई है। जो कुछ भी हम अर्थ, धर्म या काम के रूप में चाहते, करते और आदर्श मानते हैं, उन्हीं के क्रिया-कलाप में नाटक का सूत्रपात होता है। कभी-कभी हमारी अर्थ, धर्म और काम की इच्छाएँ संशय, अपवाद, अपकर्ष आदि स्थितियों का शिकार बन जाती हैं। मनुष्य अपनी इच्छा-शक्ति से इस पर विजय पाने का प्रयास करता है और उत्कर्ष एवं उपलब्धि तक अपनी इच्छा शक्ति के आधार पर पहुँच जाता है। कर्म, उत्कर्ष और स्वप्नरत स्थिति हम सब की होती है, किन्तु जो वस्तु हमारे अन्तर में बार-बार हमारे व्यक्तित्व से टक्कर लेती है, वह है संशय, अपकर्ष और सन्दिग्ध द्विविधा-प्रधान तत्त्व। नाटक मे तो इस सम्पूर्ण स्थिति का केवल क्रियाशील भाग ही दिखलायी पड़ता है। उसका अधिकाश तो हमारे अन्तर्मन में घटित होता है।

जब हम मानव-इतिहास की सापेक्षता में यह द्वन्द्व देखते और उसका बिश्लेषण करते हैं तब हमारे सामने उनके बिभिन्न रूप और विभिन्न पक्ष स्पष्टतः दीख पड़ते हैं। आदिम समाज मे अज्ञानवश जो भय था, आज वह भय हमें अपने विषम और जटिल व्यवस्था के विरोधाभासो द्वारा मिलता है। वेदों की ऋचाओं में जो संवाद हमें प्रकृति-उपासना के रूप में मिलता है, या आदिम यूनानी समाज में 'डायोनिसियस' के प्रति श्रद्धा में डूबकर गाये गये और अभिनय किये गये जो संवाद मिलते हैं, उनमें भी हमारी अर्थ, धर्म और काम की मूल भावनाएँ निहित है। जीने की चेष्टा एक ओर प्रबल रूप में होती है, दूसरी ओर उस चेष्टा को हतोत्साह करने वाली बाधाएँ होती हैं। पहले हम ऋचाओं को सङ्केत-स्वर में गा कर अथवा 'डायोनिसियस' की प्रार्थना समूह में नाच कर अपनी जीवन्त चेष्टा को शक्ति दे लेते थे। आज ज्ञान के विकास के साथ-साथ जीवन के साधन और उपकरण इतने जटिल और सन्दिग्ध हो गये हैं कि उन आदिम उपकरणों के अतिरिक्त जो चेष्टा और संशय हमारी आत्मा और सम्पूर्ण व्यक्तित्व में सदैव वर्तमान रहता है, हम उस से तो जूझते ही रहते हैं, साथ ही वाह्य उपकरणों से भी सङ्घर्ष करने के लिये विवश हो जाते हैं यह स्थिति आज इतनी व्यापक है कि इससे किसी का भी बचना

हो जाती हैं। इस एक स्थिति के गर्भ में कई छोटी-छोटी स्थितियाँ और घटनाएँ होती हैं जिनके सम्मिश्रण से एक विशिष्ट स्थिति का जन्म होता है। नाटक इन समस्त घटनाओं को समेट कर विकसित होता है और एक तीव्र गति से चेतना के जागरूक (+) और अजागरूक (−) स्तरों को समान रूप से उद्वेलित करता हुआ एक उत्कर्ष का निर्माण करता है।

आदिम काल में, हो सकता है, चेतना के इन स्तरों में केवल भय और संशय का ही आरोप रहा हो। आज के सन्दर्भ में सभ्यता के विकास और जीवन के विभिन्न स्तरों के जटिल विकास के साथ आज भय, आशङ्का, दुविधा के साथ-साथ मूल्यगत आग्रह का भी योग रहता ही है। शॉ या गाल्सवर्दी के नाटकों में इन मूल्यों के प्रति सचेष्ट जगरूकता रहती है। उनका और व्यक्तिगत तत्त्वों का सङ्घर्ष आज अधिक तीखा हो गया है। प्रागैतिहासिक या ऐतिहासिक काल में तो हमारे व्यक्तित्व का अधिकाश उस वर्ग-नेता या जाति-नेता के समक्ष समर्पित होता था और उसमें व्यक्तित्व की खोज या व्यक्तित्व के प्रति इतना आग्रह नहीं था। आज वह स्थिति नहीं है। चेतना और मूल्य के बीच में व्यक्तित्व और आत्मसङ्कल्प के विवेकपूर्ण सन्दर्भ भी अन्तर्धारा के समान प्रवाहित होते रहते है।

आधुनिक नाटकों में जो विशेष तत्त्व इधर विकसित हो रहा है वह 'अपनी खोज' के रूप मे भी दृष्टिगत होता है। नाटक धीरे-धीरे सर्वमान्य को प्रतिष्ठित करने की अपेक्षा अपने स्वत्व की प्रतिष्ठा की ओर भी विकसित हुआ है। जैसे उपन्यास और कथा के साहित्य में एक निश्चित मोड हमें व्यक्ति की खोज की ओर मिलती है, ठीक उसी प्रकार नाटक में भी अपने व्यक्ति के अन्तर्विरोधों को अङ्कित कर के अपनी उपलब्धि के प्रति आग्रह बढ़ रहा है। इस प्रयास मे कई प्रकार की संवेदनाएँ विकसित हो रही है। अमूर्त्तन, व्यंग्य, विकारों की दुरूहता में आत्मद्वन्द्व आदि अनेक वस्तुएँ एक साथ विकसित होकर एक नये अर्थ-सन्दर्भ से जुड़ रही हैं। मानव-मूल्य के बदलते स्तरों में और जीवन की चेष्टापूर्ण क्रियाशीलता में जो तनाव और सङ्घर्ष हमारे अपने नित्य के जीवन में है, वही सम्पूर्ण रूप से हमारे कला के साथ-साथ हमारे व्यक्तित्व की भी समस्या हो जाती है। आज के सन्दर्भ मे नाटक के क्षेत्र में दो विभिन्न प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही हैं। एक तो वडी सामाजिक समस्याओं के पीछे, जिनमें लोग-बाग 'मानव' को प्रतीकाकार ग्रहण कर लेते है, और दूसरी विराट् को छोड़ कर बहिर्जगत् के स्थान पर अन्तर्जगत् की खोज में, जैसा कि 'वर्ल्ड ड्रामा' में ए० निकॉल ने सङ्केत किया है—(पृष्ठ ७५७)। ज्यों-ज्यों बाह्य का विस्तार स्थानीय, क्षेत्रीय, प्रान्तीय, राष्ट्रीय, अन्ताराष्ट्रीय और अन्तरिक्ष की ओर होता जाता है, वैसे-वैसे हमारी चेतना का विन्दु भी वैसी ही तीव्र गति से अपने अन्तर के केन्द्रों की खोज में डूबता जाता है। वस्तुत: ये दोनों स्थितियाँ एक ही सन्दर्भ की दो प्रतिक्रियाएँ हैं। यद्यपि एक में बाह्य उपकरण के माध्यम से आन्तरिक मानव मन को जोड़ने की बात है और दूसरे में व्यक्ति-विश्लेषण और अन्वेषण के माध्यम से बाह्य को परखने की बात है, किन्तु दोनों की पद्धति में अन्तर होने के नाते नाटक के प्रारूपों में भी परिवर्तन आ जाता है। यह परिवर्तन न तो बाह्यारोपित है और न यह जबर्दस्ती का व्यक्तिवाद है, आधुनिक जीवन की विषम स्थितियों में व्यंग्यात्मक परिस्थितियों द्वारा एक आन्तरिक साक्ष्य का दर्शन है।

नाटक का इस आन्तरिक जटिलता को कहाँ तक ग्रहण कर सकता है यह भी एक

प्रश्न है, जो इसी के साथ उठता है, किन्तु नाटक के माध्यम में ही यह शक्ति भी है जो हमारे अन्तर्मन के नाटक' और बाह्य जगत् के 'व्यापार' को एक साथ ले कर चल सकता है। इसलिये नाटक के अध्ययन में जहाँ उसके विभिन्न ऐतिहासिक और सामाजिक तथ्यों का अध्ययन करना आवश्यक है, वहीं तो शायद इस विधा का भविष्य केवल एक श्रुति बन कर रह जायगा।

वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों स्तरों पर जीवन की तीव्रतम अनुभूतियों का स्रोत हमारे जीवन-दर्शन और मूल्य-प्रेषण के तत्वों से प्रशासित होता है। चाहे मनुष्य के सामाजिक परिवेश में उसके व्यक्तित्व की खोज की जाय या उसके व्यक्तित्व के सूक्ष्म स्तरों में व्याप्त भाव-जगत् के तन्तुओं को खुर्दबीन की दृष्टि से ढूँढ़ा जाय, दोनों स्तरों पर उसके अर्जित संस्कार और क्रियानिष्ठ व्यक्तित्व का हाथ होता है। संस्कार का बहुत बड़ा अंश हमारे जीवन-दर्शन का अङ्ग है जो हम सब के व्यक्तित्व की जाने-अनजाने ढङ्ग से पूर्व-पीठिका है।

हिन्दी-नाटक और रङ्गमञ्च की व्याख्या या उसका अध्ययन करने के पूर्व नाट्य-विधा ने इस जीवन-दर्शन को कहाँ तक और कैसे ग्रहण किया है, यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जहाँ हिन्दी-नाटक का वर्तमान रूप पाश्चात्य नाटक-परम्परा से काफ़ी प्रभावित है, वहीं यह भी सत्य है कि हिन्दी नाटकों में चित्रित जीवन-दृष्टि आज भी अधिकांश रूप में हमारे संस्कार और जीवन-दर्शन से उद्भूत हैं। यद्यपि इन तत्वों के दर्शन नितान्त सूक्ष्म हैं, किन्तु इनकी गहराई आज भी हमें छू जाती है, हमें एक तीखा दर्द तथा एक संवेदना दे जाती है।

भारतीय जीवन दृष्टि का मूलाधार अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ही रहा है। हम अर्थ धर्म और काम के सन्तुलन से ही मोक्ष के अधिकारी हो सकते हैं। यह विचार हमें आज से नहीं, इतिहास के हजारों वर्षों की परम्परा से मिलता आया है। अनेक प्रकार की जीवन-दृष्टियाँ हमारे विचारों एवं संस्कारों में समय-समय पर आती और मिलती रही हैं, किन्तु उनका ढलाव हमारी अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमि में ही होता रहा है। यद्यपि इस नितान्त संशय वाली विचार-पद्धति से कई प्रकार के अवरोध भी हम में आते रहे, किन्तु उन अवरोधो के बावजूद भी हम उन से मुक्ति नहीं पा सके ! गाँधी, टैगोर, और अरविन्द भी, जो हमारे समकालीन रहे हैं और जो नितान्त आधुनिक यथार्थ के सन्दर्भ में हमारे जीवन और कर्म को समग्र रूप से प्रभावित करते रहे हैं, इन संस्कारों का जीर्णोद्धार ही कर सके हैं, उसके आगे वे कुछ जोड़ नहीं सके। भारतीय जीवन में जागरूकता एवं उसमें पुनरुत्थान का प्रश्न जब-जब आया है, हमारे देश के चिन्तकों को इन्हीं आधारों को पकड़ना पड़ा है। तिलक को गीता से कर्मयोग की प्रेरणा मिली, गाँधी को अनासक्त योग की और अरविन्द को आत्मयोग की तो, टैगोर को उसी के तत्त्व-चिन्तन एवं उपनिषद् और कबीरदास के माध्यम से 'गीताञ्जलि' की दर्शन-भूमि की उपलब्धि हुई। जीवन-दर्शन का यह सबल पक्ष और उसकी कर्मनिष्ठता का यह रूप हमारे दर्शन का मूल तत्त्व है।

भारतीय कर्म-पद्धति और उसके आधार पर जीवन में फलों को भोगने की शक्ति का सिद्धान्त जिस प्रकार भारतीय कला की अन्य विधाओं में स्पष्ट रूप से अपना प्रभाव छोड़ गया है, ठीक उसी प्रकार नाटक के क्षेत्र में भी है। कर्म की अनिवार्यता और फल के प्रति अनासक्ति से ही धीरोदात्त नायक की उद्भावना हुई है। कर्म और फल की बाध्यता और उसके अन्योन्याश्रित सम्बन्धों को स्वीकार करने के कारण ही प्राचीन नाटय में घटना

कथानक और अन्य वस्तुओं की अपेक्षा रस एवं भाव पर अधिक बल दिया गया है। नाटक की परिभाषा भी रस और भाव की इस स्वीकृति के साथ-साथ काव्य के एक भेद अर्थात् दृश्य-काव्य के रूप मे की गयी है और स्वयं काव्य, रसात्मक काव्य के रूप में मान्य हुआ है।

जीवन और मृत्यु के प्रति भारतीय दृष्टि भी इसी प्रकार भारत के जीवन-दर्शन पर आधारित है। मृत्यु का वह अर्थ भारतीय जीवन में है ही नहीं जो प्रायः पाश्चात्य देशों में है। मृत्यु केवल एक परिवर्तन है। आत्मा चिरन्तन है, इसलिये मृत्यु केवल एक आवर्तन-विशेष के सिवा और कुछ नहीं है। इसीलिये हमारे यहाँ दुःखान्तकी अर्थात् त्रासदी का रूप ही नही है। भवभूति जैसा करुणरस-प्रधान नाटककार भी इसीलिये केवल करुण रस के रस-पक्ष तक ही आ पाता है। ठीक इसी प्रकार जीवन केवल माया की लीला है। यही कारण है कि धीरोदात्त की कल्पना बहुत बड़ी कल्पना के रूप हमारे यहाँ के आचार्यों में विकसित हो पायी है।

भारतीय जीवन का तीसरा महत्त्वपूर्ण अङ्ग जाति और वर्ण-व्यवस्था है। इस वर्ण-व्यवस्था के माध्यम से हमारी जीवन-शक्ति की क्रियाशीलता विकसित होती है। चार वर्णों की कल्पना भी कर्म पर आधारित है, न कि जन्म पर। जीवन-लीला का पार्ट जैसे सब के लिये पूर्व निश्चित है। यही कारण है कि सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र में जहाँ कहीं भी नाटक के विभिन्न भेदों का वर्णन किया गया है, वहाँ आधार कथानक या परिवेश नहीं है, वरन् नायक का वर्ग और वर्ण है। नाटक का रूप ही इस पर आधारित कर दिया गया है कि उसका नायक राजर्षि है या राजा है, क्षत्रिय है या वैश्य है या शूद्र है। शूद्र के नायक होने की कोई सम्भावना ही नही थी, इसलिये वर्ण-व्यवस्था का यह प्रभाव हमें अपने प्राचीन नाट्य-परम्परा में भी मिलता है।

चौथी महत्त्वपूर्ण व्यवस्था आश्रम की कल्पना और आश्रम-धर्म का निरूपण है। जीवन के कर्म क्षेत्रों को ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वाणप्रस्थ और संन्यास के चार अवस्थागत श्रेणियों में बाँट दिया गया है। वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था के कारण समाज में ऐसी तमाम समस्याओं की सम्भावना ही नहीं रह जाती जो हमें ग्रीक या रोमन नाटक साहित्य में देखने को मिलती हैं और जिनके कारण रेचन (कैथार्सिस) अथवा अन्य प्रकार की विकृतियों के दर्शन होते हैं। शकुन्तला हमारे आश्रम-जीवन की सर्वोत्कृष्ट निधि है। उसके रूप, सौन्दर्य और आचार-विचार मे जिस स्तर की पावनता और निश्छलता है, वह शायद ही किसी अन्य भाषा में हो। जीवन के इन्ही अनुशासन सूत्रों की मर्यादा से ही हमारे यहाँ की अन्य कलाओं की भाँति नाट्य-कला भी विकसित हुई है।

इन चार महत्त्वपूर्ण तत्त्वों के साथ-साथ एक अन्य तत्त्व भी हमारे जीवन का मूलभूत अङ्ग रहा है और वह है भोग के प्रति सन्तुलित दृष्टि। भारतीय पौराणिक कथाओं एवं अन्य क्लासिक्स में भी कर्म-दर्शन की निहित भावना भोग की अनिवार्यता को एक भिन्न स्तर के भोग-सिद्धान्त से बाँध देती है। भोग अनासक्त हो कर हो अथवा 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द' के रूप में सर्व-शक्तिमान् के प्रति अर्पित हो, उसका एक रूप-विधान और एक योजना-बद्ध दर्शन हमारे कर्मों के साथ-साथ बंधा होता है। उससे किसी को मुक्ति नही मिल सकती। इस प्रकार कर्म के उस पक्ष के प्रति जो अनिवार्य है और जिसे बदला नहीं जा सकता, हमारे यहाँ कोई विशेष आग्रह नहीं है सम्पूण आग्रह इसीलिय भोग की स्थिति और उस स्थिति से सम्बद्ध रस, भाव आदि पक्षों

पर अधिक है कर्म भी इसी रस और भाव की स्थिति को जन्म देता है—भोग को पूर्णता प्रदान करता है। मेलोड्रामा या इसी प्रकार की अन्य अतिरञ्जित स्थितियाँ भी इसीलिये हमारे नाट्य-शास्त्र में वर्जित हैं। उनके स्थान पर जिस तत्त्व को महत्व दिया गया है, वह है उदात्त भाव, धीर भाव एवं संयम। इसीलियें सुख-दुख दोनों में समभाव की स्थिति ही सर्वश्रेष्ठ स्थिति मानी गयी है।

माया, जीव और ब्रह्म, इन तीनों के प्रति जो दृष्टि भारतीय दर्शन में प्रस्तुत की गयी है, वह स्वयम् इतनी नाटकीय और सम्पूर्ण है तथा जीवन को नाटक के तत्त्वों से परिपूर्ण करती है कि उसकी तुलना शायद ही कहीं किसी अन्य धर्मशास्त्र में उपलब्ध हो सके। ईसाई विचार-धारा में मान्य है कि ईश्वर ने इच्छा की और सृष्टि हो गयी। उसने कहा कि आग हो जाय और आग पैदा हो गयी, उसने कहा, हवा हो जाय और हवा पैदा हो गई। सृष्टि की इस कल्पना मे केवल एक आदिम प्रवृत्ति की ही झलक मिलती है। भारतीय जीवन-दर्शन में ऐसा नहीं है। सृष्टिकर्ता अपनी वृत्ति में रमता है। वह अपनी इच्छा-शक्ति से सृष्टि की रचना तो करता है, किन्तु वह स्वयं भी उस प्रक्रिया का एक जीवित अंश होता है। कच्छप का रूप धारण कर के वह सागर मथता है, मछली का रूप धारण कर के सृष्टि के सत्य की रक्षा करता है, बाराह का रूप धारण कर के उसे भी रक्षित करता है। कहने का सारांश यह कि ब्रह्म भी इस सृष्टि का एक भोगकर्त्ता अंश है।

ब्रह्म की कल्पना विश्वव्यापक नियन्ता, कर्ता और द्रष्टा के रूप में हुई है। वह संसार के समस्त कार्य-व्यापार का सूत्रपात करता है। वह तटस्थ भी है और समय पड़ने पर स्वयं भी रूप धारण कर के अनेक प्रकार की लीलाएँ करता है। वह जब लीला करता है तब उसके भोग की स्थिति एक ओर तो अनासक्त रूप में यह जानते हुए कि वह केवल अभिनय अथवा लीला कर रहा है और साथ ही भोग के क्षण की समस्त प्राकृतिक और स्वाभाविक स्थितियों की रस सृष्टि के साथ होती है। अवतार और लीला की यह धारणा रस के सम्पूर्ण और नित्य औचित्य का निर्वाह करती है। भोग की इस प्रक्रिया में, अवतार की इस कल्पना में, अविवेकपूर्ण सङ्कल्प-शक्ति नही है वरन् एक क्रियाशील चेतना की लीला है।

जीव की कल्पना भी इसी प्रकार ब्रह्म के अंश के रूप मे ही की गयी है। जीव को सर्व-व्यापक चेतना से पृथक् करने वाली वस्तु माया मानी गयी है। जीव ब्रह्म का अंश होने के नाते उसके सम्पूर्ण स्वत्व की सम्भावना है किन्तु वह माया लिप्त होने के नाते ब्रह्म से पृथक् रहता है। जीव की इस कल्पना में भी एक नाटकीयता है जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। साथ ही यह भी सत्य है कि जीव की अपनी भी इच्छा-शक्ति है। माया से सतत सङ्घर्ष करने की क्षमता उसकी कल्पना में निहित है। यदि वह चाहे तो माया के समस्त जालों को काट कर स्वयं अपनी आत्मा का विकास कर सकता है और उस विकास के साथ-साथ ही वह फिर पूर्ण ब्रह्म में लीन हो सकता है। जीव की इस सतत क्रियाशीलता में और ब्रह्म की तटस्थ अनासक्त क्रियाशीलता मे जो तत्त्व-विशेष मार्मिक है, वह है जीव की अपनी इच्छा-शक्ति और उसका स्वगत विवेक। जीव चाहे तो अपनी शक्ति को अपने कर्म से प्रज्ज्वलित कर सकता है। अन्य सभी जीवन-दर्शनो मे जीव की यह सत्ता है ही नहीं। या तो वह जीव पूर्व निश्चयवाद से बंधा है या उसकी स्वय

की इच्छा-शक्ति ही नहीं है। परिणाम यह होता है कि पात्र स्वतन्त्र नहीं रह पाते। जीव अन्य पात्रों की भाँति स्वानुशासित प्राणी है जिसकी निष्कृति केवल कर्म के आधार एवं उसके भोग के सम्पूर्ण दायित्व पर ही मानी गयी है।

माया की कल्पना भी सम्पूर्ण जीवन-दर्शन को वही नाटकीय तत्त्व प्रदान करती है जो ब्रह्म और जीव करते हैं। माया, परिवेश और तात्कालिक सत्य के रूप में स्वीकार की गयी है। वह ब्रह्म के शाश्वत एवं चिरन्तन, अपरिवर्तनशील और आदि सत्ता के समक्ष स्वयं प्रस्तुत होती है और एक ओर जीव को वह अपने साथ ले जाकर भ्रमित करने की चेष्टा करती है तथा दूसरी ओर उसकी आत्मा में निहित उसकी संस्कारगत निष्ठा उसे पूर्णता की ओर ले जाना चाहती है।

निष्कृति, मुक्ति या पञ्चतत्त्वों को छोड़कर पूर्ण ब्रह्म में मिलने की कल्पना के साथ-साथ जो तर्क-दर्शन चलता है, वह कर्म के भोग का है। बिना भोग के मुक्ति नही मिलेगी। कर्म की प्रक्रिया में ही भोग के प्रकारों एवं गुणों की भी निर्धारणा होती चलती है। माया के भ्रम को तोड़ते रहने एवं पूर्वकर्मों के फल को भोगते हुए ही एक बिन्दु ऐसा आ सकता है जहाँ माया का भ्रम नि शक्त हो जाय और अर्जित कर्मों की भी स्थिति में शेष कुछ न बचे या सत्य कर्मों की पुञ्जीभूत शक्ति के सहयोग से समस्त विषाक्त स्थितियाँ केवल कर्म के आधार पर नष्ट हो जाये और जीव अपने पूर्ण अंश ब्रह्म में लीन हो जाय। जीव का पूर्णत्व जब उसके कर्म से ही मिलता है तो जितना भी नाटकीय तत्त्व है वह इस कर्म के गुण-दोष पर आधारित है और यह गुण-दोष केवल भ्रमित कर सकता है, उसकी परिणति नितान्त दुःखान्त नहीं हो सकता।

निष्कृति या मुक्ति की कल्पना भी इस प्रकार पूर्वनिश्चित या मात्र-दैविक नहीं होती। मनुष्य स्वयं ही अपने भविष्य का कर्णधार है और जब चाहता है उसे अपने अनुकूल बना लेता है। इस अनुकूलता के लिये उसे केवल पूर्वकर्मों के दुख, विषाद और व्यंग्य को भोगना पड़ेगा, साथ ही आगे के कर्मों को सुधारना पड़ेगा। भारतीय जीवन के इस कर्म-सिद्धान्त ने ही पूर्वनिश्चित नितान्त आकस्मिक और अदृश्य रहस्यमय तत्त्व की अपेक्षा रस, भाव और व्यञ्जना को महत्त्व प्रदान किया है। दैविक और पूर्वनिश्चयवादी प्रवृत्ति, जो काफी समय तक पाश्चात्य नाटकों का प्राण तत्त्व रही है, यहाँ कभी उठी ही नहीं।

माया और लीला के रूप में समस्त विश्व को मिथ्या समझने के कारण ही संस्कृत एवं प्राचीन नाटकों की परम्परा सदैव एक सहज और सन्तुलित दृष्टि देती रही है। आज से हजारो वर्षो की यह कल्पना जीवन के कितने निकट और कितने विवेकपूर्ण सन्तुलन की ओर हमें ले गयी है इसका प्रमाण हमें अपनी कला की अन्तरात्मा में स्पष्ट मिल जाता है। हमारे यहाँ के नाट्य-साहित्य के इतने अधिक भावुकता प्रधान एव तीव्रतम सन्दर्भो से युक्त नही होने का एक कारण

कर देते है और तब रस विशेष पर दर्शक का चित्त एकाग्र कराने के बाद वे स्वय पृष्ठभूमि मे चले जाते हे

इसी प्रकार ईश्वरीय लीला की कल्पना भी भारतीय जीवन-दर्शन को एक भिन्न एव नयी दृष्टि देती है। जीव के पूर्ण तत्त्व ब्रह्म की लीला का विशेष गुण यह है कि वह जब अवतार लेता है तो सर्वशक्तिमान् होते हुए भी प्राकृत मनुष्य की तरह आचरण करता है। राम, सीताहरण के समय वैसे ही विलाप करते हैं जैसे कोई भी साधारण मनुष्य अपनी पत्नी के हरण के अवसर पर करता। कृष्ण को यशोदा उसी प्रकार ओखली में बाँध कर प्रताड़ित करती हैं जैसे कि कोई भी सामान्य माता अपने पुत्र को करती रही होगी। भोग की यह स्थिति आदर्श है क्योकि इसमें लीला करने वाला सर्वशक्तिमान् सच्चिदानन्द परम ब्रह्म वैसा ही आचरण करता है जैसा कि कोई भी साधारण जन करता, किन्तु वह यह जानता है कि वह उस लीला को इसलिये करता है ताकि मानव-धर्म की सहजता किसी प्रकार भी खण्डित न हो।

भारतीय जीवन-दर्शन की यह विशेषता है कि वह मनुष्य को उसके स्वाभाविक एवं सहज गुण को भोगने की प्रेरणा देने के बावजूद भी उसे यह विवेक प्रदान करता है कि वह भोग की सम्पूर्ण स्थिति को वहन करते हुए भी उसे तटस्थ होकर भोगे। जैसे ईश्वर सहज रूप में समस्त मानवीय संवेदनाओ को भोगते हुए यह जानता है कि वह एक तटस्थ भोगी है, उसी प्रकार प्रत्येक साधारण जन को भी जीवन की समस्त यातनाओं और व्यंग्यों को भोगने के साथ-साथ कहीं न कहीं उसे यह विवेक होता ही है कि जो कुछ भी वह भोग रहा है, वह मात्र एक बाह्य उपकरण का प्रतिरूप है। धीरोदात्त नायक की कल्पना के पीछे यही भाव काम करता रहा है। तटस्थ रूप से भोगने की इस भावभङ्गिमा में नाटक का सम्पूर्ण उद्दण्ड और केवल भावुकता के अतिरेक का अश छूट जाता है और उसके स्थान पर केवल दो बातें रह जाती हैः——(अ) आभिजात्य-भावना तथा (ब) तटस्थ रस-उत्पत्ति की योजना। भारतीय जीवन-दर्शन की यह भूमिका अपने मे महत्वपूर्ण है।

प्रस्तुत जीवन-दर्शन को पृष्ठ-भूमि में रखकर हम भारतीय नाट्य-परम्परा का अध्ययन करते हैं तो उसमें हमें कई महत्त्वपूर्ण तत्त्व मिलते हैं। पहला तो यह कि प्राचीन नाट्य-परम्परा अर्थात् संस्कृत नाट्य-परम्परा में भारतीय जीवन-दर्शन की बड़ी गहरी छाप है। भारतीय जीवन-दर्शन में व्याप्त व्यवस्था और आदर्शो की कल्पना, कर्म और आवागमन के सिद्धान्त, लीला और माया की कल्पनाएँ नाटक के कार्य-क्षेत्र से बहुत-सी अनगढ़ता और क्रूरता को नष्ट कर देती है। सम्पूर्ण जीवन को सतत् क्रियाशीलता से बाँधने वाला कर्म-सिद्धान्त एवं उससे सम्बन्धित भारतीय जीवन-पद्धति का सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब हमें संस्कृत-नाटकों में मिलता है।

संस्कृत-नाटकों में सबसे बड़ी बात यह है कि किसी भी मानवीय तपस्या, या संवेदना या अन्याय का परिष्कार उसे जीवन में ही मिलता है। चाहे अपनी भूल से हो या किसी काल-गति की भूल से हो, मनुष्य जितनी भी पीड़ा वहन करता है, अन्त में उसका परिष्कार मिलता है। यह मत भी कर्म-प्रधान दर्शन से ही निकलता है। यह अटल विश्वास भी संस्कृत नाटक के आन्तरिक गठन और उसकी रचना प्रक्रिया को काफी प्रभावित करता है तप की शक्ति और उस शक्ति के आधार पर जीवन की से मुक्ति की प्ररणा संस्कृत-नाटकों की मूलमत

प्रेरणा है। मानव तप का यह पक्ष उन मूल तत्वों की ओर हमें ले जाता है जहाँ निष्कृति की भावना और 'यातना से मुक्ति' की भावना विकसित होती है। सत्यवादी हरिश्चन्द्र अपनी एक भूल के लिए अनेक प्रताड़नाएँ सहन करते हैं, किन्तु अन्त में सत्यनिष्ठा के तप के आधार पर वे सीधे सदेह एवं सपरिवार स्वर्ग चले जाते हैं। शकुन्तला की साधारण सी भूल उसके सम्पूर्ण जीवन की यातना बन जाती है किन्तु अन्त में उसे भी उन समस्त यातनाओं से मुक्ति मिलती है और नाटक की परिणति सुखान्त हो जाती है।

इस मानव चूक के प्रति भारतीय जीवन-दर्शन में परिणामों से मुक्ति की कल्पना है ही नहीं। किन्तु इसी मानवीय चूक पर संस्कृत-नाटक का अधिकांश आधारित है। शकुन्तला ने इसी चूक की यातना भोगी है। सती-मोह और पार्वती-शिव के विवाह का कारण और इसी प्रकार के अन्य चूकों का यह परिणाम था कि भरत जैसी सन्तान की माता होने पर भी उसे निर्वासित एवम् अभिशापित जीवन व्यतीत करना पड़ा। किन्तु उसी के साथ-साथ यह भी सत्य है कि प्रत्येक मानवीय त्रुटि का भी निराकरण होता है और वह हमें संस्कृत नाटकों में प्रायः मिल जाता है।

इसी प्रकार संस्कृत-नाटकों के अधिकतर धर्म और पुराण पर आधारित होने के नाते उनमें एक प्रकार की नैतिकता और आदर्श के प्रति भी आग्रह तथा समस्त त्रुटियों को वर्जित करने का आग्रह मिलता है। धीरोदात्त नायक की आदर्श कल्पना में यह निहित है कि उसमें सत्कर्मों की स्थापना और दुष्कर्मों के निवारण का आग्रह सामान्य रूप से विद्यमान हो। साथ ही नायक के उदात्त चरित्र को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिये खलनायकों तक को क्षमा करवा दिया गया है। यह स्थिति एक प्रकार से कर्म-प्रधान जीवन-दर्शन को खण्डित करती हुयी-सी लगती है किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि नायक तो केवल व्यावहारिक जगत् के स्तर पर क्षमा या अभय-दान करता है। अन्तिम रूप में यह क्षमा सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रकृति और ईश्वरीय शक्तियाँ उसे दण्डित करेंगी ही।

यही कारण है कि संस्कृत-नाटकों में **दुःखान्तकियों** या त्रासदियों का बहिष्कार कर दिया गया था और इनके स्थान पर उदात्त भावों एवं सद्व्यवहारों के अत्यन्त रूढ़िग्रस्त वर्जनाओं को स्थापित कर दिया गया था। संस्कृत-नाटकों में इसी दृष्टि से कहीं भी अत्यन्त कठोर या नितान्त हृदय-विदारक या मन को बिलकुल उचटा देने वाले वर्णन नहीं मिलते। किसी भी रूप में हृदय को दुःख पहुँचाने वाली या साधारण मानव-व्यवहार को खण्डित करने वाली स्थितियाँ भी वर्जित कर दी गई हैं। जहाँ शेक्सपियर के नाटकों में हत्या, मृत्यु, षड्यन्त्र और इसी प्रकार की अनेक स्थितियों से बिंधा हुआ नाटक हमें मिलता है, वहीं संस्कृत-नाटक की परम्परा में हमें ऐसी स्थितियों का पूर्ण रूप से बहिष्कार मिलता है।

अन्य देशों की भाँति जहाँ प्राचीन काल में भारत में भी धर्मगत मतों को विशेष प्रश्रय मिला था, वहीं यह भी सत्य है कि उस धर्म-प्रेरित दृष्टि में एक आदर्श मानव और आदर्श समाज की भी खोज थी। संस्कृत नाटकों में इसी दृष्टि से प्रायः सूत्रधारों या नट-नटी द्वारा जहाँ नाटक का कथा सूत्र बतला दिया जाता है, वहीं इसका भी उल्लेख मिल जाता है कि किस प्रकार की जनता या श्रोता के लिये इस नाटक-विशेष की योजना की गयी है। ऐसा दो कारणों से है. एक तो इसलिये कि रस-उत्पत्ति के लिये एक विशिष्ट प्रकार के एव विचार की

है दूसरे यह भी कि उस घोषणा में ही नाटक की मूल प्रकृति को व्यञ्जित कर देने से अभिनय के विभिन्न रूपों और प्रकारों पर भी विचार करने का अवसर मिल जाता है रस और अलङ्कार की पद्धति से अनुप्राणित होने के नाते 'मानव-जीवन' में निहित मानवता की संवेदना के प्रति उतना आग्रहशील होना सम्भव नहीं हो पाता। वे तो रस-सिद्धि और अलङ्कार-प्रयोग को स्थापित कर के तुष्ट हो जाते हैं।

संस्कृत-नाटक इसीलिये मुख्यतः विभिन्न स्त्री-पुरुष पात्रों के समवेत सम्मिलन को, रस के विभिन्न स्तरों को व्यञ्जित करने के लिए एक साथ चित्रित करता है। कुछ स्टॉक कैरेक्टर्स या चरित्र तो केवल उसी के लिये ही चुने जाते हैं। विदूषक की कल्पना, विट का प्रत्येक नाटकों में होना या शकार के रूप में पात्रों का परिचय हमें उसी स्थिति का बोध कराता है। पाश्चात्य नाट्य-परम्परा के अनुसार केवल नायक-नायिका के सुख-दुख से नाटक नहीं बंधता। नाटक का एक सम्पूर्ण गठन विभिन्न रसों पर आधारित होकर विकसित होता है।

संस्कृत-नाटकों में सहज प्रणय और शृङ्गार की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिये भी इसी प्रकार की वर्जनाएँ हैं। जहाँ एक ओर ब्राह्मणों को समस्त सांसारिक मोह-माया से मुक्त चित्रित करने की परम्परा रही है वहीं स्त्रियों के चित्रण में भी कुछ स्थितियों को नाटक में नही चित्रित किया गया है। विवाहिता स्त्रियों का प्रेम किसी अन्य पुरुष से कहीं दिखलाया ही नही गया है। इन्हीं सहज भावों की स्थितियों में अविवाहित स्त्रियो को ही चित्रित किया गया है। सहज सुख और हर्ष के दृश्यों में अविवाहित स्त्रियों द्वारा विनोद भी प्रस्तुत किया गया है किन्तु इससे पृथक् उस यथार्थवादी दृष्टि की सर्वथा अवहेलना की गयी है जो वस्तु-जगत् की स्वाभाविकता के साथ विकसित होती है। आदर्श और रस की स्थापना के प्रयास में यथार्थ की कटुता और उसकी गहनता की अपेक्षा 'रोमैण्टिक' और नितान्त भावुकतापूर्ण स्थितियाँ ही चित्रित हो पाती थीं।

संस्कृत नाटकों में यह रोमैण्टिक प्रवृत्ति कुछ तो धर्म-सापेक्षता और कुछ नैसर्गिक पात्रो के कारण आयी है। अधिकांश नाटक केवल पुराणों की कथाओं को ही चित्रित करते हैं। शकुन्तला स्वयं महाभारत की एक कथा पर आधारित है। राजाओं, ब्रह्मर्षियों या देवताओं के चित्रण के नाते वैसे भी सहज मानवीय स्तर की भावनाएँ छँट जाती थीं। साधारण जन-जीवन से नायक चुनने की परम्परा ही नहीं थी। आभिजात्य एवं विशिष्टता के प्रति संस्कृत-नाटककारो का यह मोह प्रौढ़ नाट्य-शास्त्र के बावजूद भी जीवन-समग्रता से वञ्चित ही रहा।

घटना या दुर्घटना को संस्कृत-नाटकों में इतना महत्त्व ही नहीं दिया गया है। जैसे कि पहले कहा गया है, कर्म के फलाफल भोग द्वारा वे घटनाएँ मात्र विस्मयपूर्ण स्थितियों में नही विकसित होतीं। वे निश्चित तथा कर्मों द्वारा पूर्व निर्धारित भी होती हैं। ऐसा होने से घटनाओ की आकस्मिकता से उत्पन्न होने वाली विस्मयकारिता और तीव्रता संस्कृत नाटकों में देखने को नही मिलती।

मानव नियति की एक संदिग्ध स्थिति पाश्चात्य नाटकों में स्थूल द्वन्द्व पैदा करती है और उस द्वन्द्व का वाह्य इसीलिये अधिक प्रबल होकर नाटकों में उभर कर आता है भारतीय मे नियति एक घटना बनकर आकस्मिक रूप में नही आती मानव

नियति से अधिक बड़ा उसका सङ्कल्प, उसकी आत्मशक्ति और उसके आचरण और शक्ति की मर्यादा है। प्रत्येक कर्म की एक निश्चित परिधि और परिणति है और उसको हमारे यहाँ की परम्परा सहर्ष स्वीकार करती है। कभी-कभी इतनी अधिक दृढ़सूत्री प्रवृत्ति को देखकर आश्चर्य होता है। पूर्वनिश्चयवाद या नियतिवाद को न स्वीकार करते हुए कर्मों के फल और उनकी स्वीकृति मन में एक निश्चित द्विविधा की स्थिति पैदा कर देती है। क्या है इस जीवन की तारतम्यता में ? घटनाएँ तो अपने आप घटित होती ही हैं।

एक दृष्टि से देखा जाय तो संस्कृत-नाटक मूलतः अमूर्त्तन-जगत् की ओर केवल भाव-स्तर और रस-निष्पत्ति की दृष्टि से अग्रसर होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि संस्कृत-नाटकों में रोचकता नहीं होती, किन्तु यह भी सत्य है कि संस्कृत-नाटकों में जीवन के सभी स्तर और उनकी प्रत्येक गतिविधि छूट जाती है। केवल भाव और उससे सम्बन्धित रस का मोह और आकर्षण ही जीवन को प्रभावित करता है। शकुन्तला या वसन्तसेना या मालविका के रागात्मक द्वन्द्वों की काव्यात्मकता और रस के प्रौढ़ एवं हृदयग्राही तत्त्व उतने ही तीव्रतम होकर उभर आते हैं। भाव के द्वन्द्वों का वाह्य उपकरण उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता, उसकी सूक्ष्म व्यञ्जना ही महत्वपूर्ण हो जाती है।

स्टॉक कैरेक्टर संस्कृत-नाटकों में रस-समृद्धि और रस-सन्तुलन की दृष्टि से नितान्त आवश्यक है। शकार यदि खलनायक है तो विदूषक चिर-क्षुधा-ग्रस्त राजमनीषी, जो एक साथ कई काम करता है। नाटक की सूचनाओं से लेकर अपने चिरलोलुप मोदक-रुचि से हास्य और कभी-कभी गम्भीर षड्यन्त्रों को जानने अथवा मापने वाला होता है। एक प्रकार से विदूषक नायक का बुद्धिमान् सहचर है और विट खलनायक का मूढ़ मित्र। शूद्रक के नाटक 'मृच्छकटिकम्' मे विदूषक और विट दोनों का चित्रण बड़े सफल ढङ्ग से हुआ है और दोनों ही एक प्रकार के रस-स्निग्ध वातावरण की रचना करते हैं। इसी प्रकार नट-नटी, सूत्रधार, सूचक आदि भी हैं। एक प्रकार से देखा जाय तो संस्कृत-नाटक मुख्यतः इन समस्त रसों और वर्ग-मानवों का एक काम्पोजीशन है जिसकी रचना एवं अभिनय से एक विशेष प्रकार का भाव उत्पन्न होता है।

वर्ग-भाषा और वर्ग-मर्यादा भी संस्कृत नाटकों का एक विशेष गुण है। स्त्री-पात्र, शूद्र आदि संस्कृत भाषा में वाद-विवाद नहीं करते। यहाँ तक की शकुन्तला भी प्राकृत में ही बोलती है। शूद्रेतर तीन वर्णों के पुरुष-पात्र संस्कृत में वार्तालाप करते हैं। स्त्रियों और शूद्रों को देव-वाणी में बोलने का अधिकार नहीं दिया गया है। कुछ लोग यह समझ सकते हैं कि स्त्रियाँ संस्कृत-भाषा बोलने या पढ़ने में विदुषी नहीं रही होंगी, किन्तु यह बात नहीं है। कम से कम शकुन्तला जैसी नायिका- जो कण्व ऋषि के आश्रम में बाल्यावस्था में ही रही. संस्कृत न जाने. यह सम्भव नहीं है किन्तु कालिदास ने लोक का ही अनुसरण किया जो स्प

इतनी शास्त्रीय हो गयी है कि उसको सफलतापूर्वक वहन करना साधारण अभिनेता के वश की बात नहीं रह गयी है

संस्कृत-नाटकों के अध्ययन से उनकी परम्परा का जो भी बोध होता है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दर्शन में जहाँ हमारे देश के मनीषियों ने जीवन-दृष्टि और मानव-ज्ञान की अनेक स्थितियाँ खोजी थीं और एक जीवन-पद्धति का सङ्गठन किया था, वहीं यह भी सत्य है कि कला, काव्य और नाटक के क्षेत्र में भी उन्हीं मनीषियों का समान शासन वर्तमान रहा है। उनके निर्धारित नियमों का पालन करके ही कोई लेखक या अभिनेता आभिजात्य-वर्ग में प्रवेश पा सकता था। इस शास्त्रीय अभिनय-सिद्धान्त के कई संस्कार स्वतः बन गये थे। इसके आग्रह से अन्य मानवीय संवेदनाओं के नाटकीय तत्त्वों के विकसित होने की सम्भावना ही नष्ट हो गयी।

(१) अभिजात भावाभिनय संस्कृत-नाटक का विशेष गुण है। निम्नस्तर के भावों को कला के स्तर पर व्यक्त करने के कुछ विशिष्ट प्रतीकों, मुद्राओं का माध्यम ही भाषा रूप मे स्वीकार किया गया था। उसकी अभिव्यक्ति ही शिष्ट और प्रामाणिक मानी जाती थी।

(२) महाकाव्यों या पुराणों के पात्रों को नाटक के नायक के रूप में और कथानक को नाटक के विषय-वस्तु के रूप में ग्रहण करने से नाटक की साधारण भावाभिव्यञ्जना का विकास नहीं हो पाया। संस्कृत नाटक इस रूढ़ि में पड़ जाने के कारण स्वयं एक दल-दल में फंस गया जहाँ से आगे उसका विकास नहीं हो पाया।

(३) शास्त्रीय प्रामाणिकता पर आग्रह इसलिये भी था कि नाट्य-कला के दर्शक प्राय शिक्षित वर्ग के लोग, राजा या देवता हुआ करते थे। भरत-नाट्यशास्त्र का अधिकांश देव-स्थापना, गुरु-पूजा और इस प्रकार के अन्य लोकाचारों से भरा है।

(४) राज्याश्रय और ललित भावों के प्रति आग्रह विशेष रूप में प्रश्रय पाता था। राज्याश्रय और राजा के मनोरञ्जन के लिये जो भी नाटक लिखे गये, उनमें एक तो क्रूरता स्वत वर्जित हो जाती थी, दूसरे राजा के लिये शृङ्गार और लास्य के अतिरिक्त और कुछ प्रेषणीय होता भी नहीं।

(५) प्रेक्षक के रूप में यह नाटक-परम्परा केवल भारतीय नाट्यशास्त्र के विद्वानो के लिये ही है। बिना शास्त्र के अध्ययन के और उसकी निपुणता के किसी को भी नाटक का सम्पूर्ण रस मिल ही नहीं सकता। संस्कृत नाटकों में नये अभिनय की अपेक्षा संश्लिष्ट अभिनय पर सदैव बल दिया गया है।

(६) ऐसी स्थिति में नाटक का रचना-विधान उसी प्रकार शास्त्रबद्ध था। जिस प्रकार अभिनेता की भाव-मुद्रा नाट्य-विधा के आन्तरिक गठन में जो नियम निर्धारित थे उस प्रकार उनके प्रारूप के विभिन्न पक्षों को अदल-बदल कर प्रस्तुत करने की छूट तो संस्कृत नाटको मे थी, किन्तु सर्वथा नयी रचनाविधि का प्रयोग वर्जित था।

यही कारण है कि संस्कृत-नाटक एक सीमा तक विकसित होकर स्वतः शिथिल पड़ गया। इस शिथिलता और पतन का एक मात्र कारण था उसकी विविधता की सम्भावना को विकसित होने में शास्त्रीय बन्धन वैयक्तिक संवेदना की इस हत्या के कारण ही संस्कृत नाटक आगे नहीं बढ़ सका और एक लोक रङ्गमञ्च का उद्भव हुआ

द्विवेदी-युग : भाषा, रूप, शैली

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

चौमुखी राष्ट्रीय जागरण के युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जो भाव-चेतना उत्पन्न की थी वह निरन्तर विकासोन्मुख होती हुई आलोच्य-काल के उत्तर भाग में अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गई। श्रीधर पाठक और महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उसका पोषण किया, मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, नाथूराम शंकर शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही 'त्रिशूल', गोपालशरण सिंह, 'हरिऔध', माधव शुक्ल, भगवानदीन, रूपनारायण पाण्डेय, लोचनप्रसाद पाण्डेय, रामनरेश त्रिपाठी आदि ने अपनी-अपनी काव्य-प्रतिभा के पावन जल से उसे सिञ्चित किया। नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि के क्षेत्र में 'प्रसाद', बदरीनाथ भट्ट, प्रेमचन्द, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, माखनलाल चतुर्वेदी, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', लज्जाराम मेहता, गोपालराम गहमरी, किशोरीलाल गोस्वामी, गोविन्दवल्लभ पन्त, 'हृदयेश', राधिकारमण सिंह, ज्वालादत्त शर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, रामचन्द्र शुक्ल, पद्मसिंह शर्मा, महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, गोविन्द नारायण मिश्र आदि अनेक लेखकों ने प्रखर प्रहरी बन साहित्य का समुचित संस्कार किया। 'प्रसाद' ने अपने 'सज्जन' (१९१०-११ ई०), 'प्रायश्चित' (१९१४ई०), 'राज्यश्री' (१९१५ ई०), 'विशाख' (१९२१ ई०), 'अजातशत्रु' (१९२२ ई०), 'कामना' (१९२३-२४ ई०—प्रकाशित १९२७ ई०) और प्रेमचन्द ने अपने 'सेवासदन' (१९१८ ई०), 'प्रेमाश्रम' (१९२१ ई०), 'रंगभूमि' (१९२२ ई०), 'कायाकल्प' (१९२४ ई०) में राष्ट्र की नवोदित आकांक्षाओं का अनुसन्धान किया। कवियों और लेखकों की दृष्टि में समस्त जीवन-पथ आ चुका था। द्विवेदी-युग के अन्त तक इनमें से बहुत-से कवि और लेखक तो विश्राम तक ग्रहण करने लगे थे। साहित्य के गद्य-रूप तो बहुत दिनों तक देश और समाज के जीवन का समान गति से विश्लेषण करते रहे। यथार्थ जीवन और युग के सम्पर्क में वे बहुत अधिक काल तक रहे। काव्य भी यथेष्ट समय तक स्थूल बहिर्जगत् और वस्तु-जगत् की उपेक्षा न कर इतिवृत्तात्मक, उपदेशात्मक आदि रूपों में अभिव्यक्ति पाता रहा। किन्तु स्थूल लोक पक्ष, गद्य की अपेक्षा काव्य में अपनी चरम सीमा को शीघ्र पहुँच गया और उसमें भावान्तरण दृष्टिगोचर होने लगा। स्थूल वस्तु-जगत् के प्रति उसमें सहज-स्वाभाविक प्रतिक्रिया हुई और बाह्य के स्थान पर आन्तरिक की ओर

प्रकट होने लगा। इस प्रकार द्विवेदी युग के अंतिम वर्षों मे हिन्दी कविता मे आत्मानुभूति और आत्मगत कविताओं का सूत्रपात हुआ। वैसे तो इस युग के प्रारम्भ से ही द्विवेदी मण्डल से बाहर रह कर जयशंकर 'प्रसाद', एक भारतीय आत्मा आदि ने स्वच्छन्दता प्रकट कर भाव-प्रधान आत्मानुभूतिमयी रचनाएँ प्रस्तुत की थीं। द्विवेदी-युग के समाप्त होते-होते कविता और भी अधिक आत्मानुभूति की ओर मुड़ गई। अन्य अनेक कवियों के अतिरिक्त, 'प्रसाद', पन्त और 'निराला' ने भी इस नए रूप के समाविष्ट होने में विशेष योग दिया। भावों के अनुकूल भाषा में अर्थ-व्यञ्जना, रूप व्यञ्जना, विशेषण-विपर्यय, लाक्षणिकता, ध्वन्यात्मकता, चित्रोपमता आदि का जन्म हुआ। छन्दों ने भी नवीन रूप धारण करना शुरू किया। वाह्य जीवन-सापेक्ष्य कविता में 'कंस', 'दुःशासन', 'द्रौपदी', 'कृष्ण', 'मोहन', 'वसुदेव','देवकी' आदि प्रतीकों की एक अपनी योजना तैयार हो गई थी। जब कवियों ने अपने भाव-जगत् का तादात्म्य वस्तु-जगत् से कर संवेदनामूलक अनुभूति व्यक्त करना प्रारम्भ किया तो उसके अपने अप्रस्तुत या प्रतीक विधान और अन्योक्ति पद्धति जिससे ध्वनि और व्यञ्जना की शक्ति में वृद्धि होती है—द्वारा आन्तरिक अनुभूति, अन्तर्वेदना, परोक्ष दर्शन, प्रेम, वासना, आशा, निराशा, वेदना, पीड़ा, प्रकृति का सर्वचेतन दर्शन, कल्पना, विस्मय आदि की अभिव्यञ्जना हुई। कविता का यह नूतन स्वर छायावाद के नाम से अभिहित किया गया जिसका आलोच्य-काल में सर्वोत्कृष्ट उदाहरण 'प्रसाद' कृत 'झरना' है। छायावाद से ही एक चरण आगे की भाव-भूमि रहस्यवाद है। कवि जब प्रकृति या जीवन के रूप-व्यापारों के पीछे किसी अनन्त रमणीय सत्ता का आभास पाकर आत्माभिव्यक्ति करता है तो रहस्यवाद की भूमि आ जाती है। उस समय ससीम में असीम समा जाता है और परम अद्वैत से लेकर प्रेम-विरह-मिलन की अनुभूतियों का प्रकटीकरण होता है। द्विवेदी-युग के बाद इन दोनों भाव-भूमियों का पूर्ण प्रस्फुटन हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा लगाई भाव लता के ये दो सुन्दर मुकुल हैं, जो निकट भविष्य में अपनी सुरभि से काव्य-कानन को सुरभित कर साहित्य-रसिकों के लिये आनन्द विधायक बने। द्विवेदी-युग की काव्यधारा हेतुवाद, लोक-सेवा और जीवन की कठोर भूमि पर सञ्चरण करती हुई भाव-लोक जा पहुँची जहाँ उसने व्यक्तिगत, सार्वभौम और सार्वकालिक सभी पार्श्व स्पर्श किये।

पीछे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा 'कालचक्र' में दिये गये उस नोट का उल्लेख किया जा चुका है जिसमें उन्होंने लिखा है—'हिन्दी नए चाल मे ढली, सन् १८७३ ई०'। यह वर्ष 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' के प्रकाशन का है। इस वर्ष से खड़ीबोली गद्य का वह परिष्कृत और परिमार्जित रूप पाठकों के सामने आया जिसे उन्होंने उत्कण्ठापूर्वक अपनाया। 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' के प्रकाशन से गद्य और पद्य दोनों ने नवीन विविधता-सम्पन्न रूप धारण किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी की एक नई भाषा और शैली के प्रवर्तक थे। उनकी भाषा टकसाली भाषा मानी जाती थी, किन्तु इतने पर भी उनकी भाषा एकदम दोष-रहित नहीं थी। और जब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है तो अन्य साहित्य-निर्माताओं के बारे मे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगी भाषा को विविध विषयों से पूर्ण बनाने में लगे रहे। भाषा के परिमार्जन और परिष्करण की ओर किसी का ध्यान न गया भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की मृत्यु के बाद तो परिस्थिति और भी

पूर्ण हो गई। इसके बाद साहित्य के निर्माता तो अनेकानेक हुए, किन्तु भाषा का जो सुधार महावीर प्रसाद द्विवेदी ने किया, वह लगभग सौ वर्षों में और कोई नहीं कर सका। गद्य और पद्य दोनों की खडीबोली के परिमार्जन का श्रेय उन्हीं को है। 'सरस्वती' के सम्पादक तथा स्वयं एक उच्चकोटि के गम्भीर लेखक होने के नाते उन्होंने इस गुरुतर कार्य का भली-भाँति निर्वाह किया। हिन्दी भाषा के पण्डित तो वे थे ही, संस्कृत और मराठी आदि भाषाओं और साहित्यों का भी उन्होंने अध्ययन किया था। प्रारम्भ में स्वयं उनकी निजी रचनाओं में, जैसे 'बेकन-विचार-रत्नावली', 'शिक्षावली' आदि में, व्याकरण एवं रचना-सम्बन्धी दोष विद्यमान रहते थे। ये दोष अन्य अनेक लेखकों की रचनाओं में भी प्रचुर मात्रा में मिलते थे। जिस प्रकार द्विवेदी जी की भाषा पर संस्कृत और मराठी का प्रभाव था, उसी प्रकार किसी लेखक की भाषा पर बँगला का, किसी की भाषा पर अँगरेज़ी का और किसी की भाषा पर उर्दू का प्रभाव रहता था। हिन्दी का अपनापन दृष्टि-गोचर न होता था। किन्तु ज्यों-ज्यों द्विवेदी जी का अध्ययन-मनन बढ़ता गया और उनकी आलोचनात्मक दृष्टिकोण का विकास होता गया, वे अपनी तथा दूसरों की अशुद्धियों की ओर ध्यान देने लगे। 'सरस्वती' में आये प्रकाशनार्थ लेखों के संशोधन-कार्य से उन्हें स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ।

तत्कालीन लेखकों की भाषा में व्याकरण-सम्बन्धी अराजकता रहती थी और शब्दो के रूपान्तरों में अव्यवस्था। इससे भाषा और शब्दों की बड़ी दुर्दशा हो गई थी। कोई 'सौंदर्यता' लिखता था, तो कोई 'माधुर्यता'। भाववाचक संज्ञा बनाने में अशुद्ध प्रयोगों का व्यवहार चल पड़ा था। ब्रजभाषा का प्रभाव तो बहुत-कुछ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से ही चला आ रहा था और लेखक खड़ीबोली में 'आय', 'जाय', 'सुनाय' आदि का प्रयोग किये विना न रहते थे, जो खड़ीबोली के व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध हैं। इसी प्रकार 'विन्हों का', 'जिन्हों का' का 'उनका', 'जिनका' शुद्ध रूपों के स्थान पर होता था। अँगरेज़ी के प्रभाव के कारण भी अशुद्धियाँ हो जाया करती थीं। 'मुझे मेरी पुस्तक मिल गई', 'उसको उसका मित्र मिला' आदि मे निजत्व का बोध 'अपनी' और 'अपना' से होना चाहिये था। किन्तु उस समय अँगरेज़ी वाक्यो के अनुरूप हिन्दी वाक्य भी बना लिये जाते थे। शब्दों के रूपों में तो इतनी भिन्नता रहती थी कि साधारण पाठक तो समझ ही नहीं पाता था कि वास्तव मे शुद्ध रूप कौन सा है। 'हुआ', 'हुवा', 'हुए', 'हुये', 'हुवे', 'चाहिये', 'चाहिए', 'गये', 'गए', 'ऊपर', उपर', 'हिन्दु', 'हिन्दू', 'नयी', 'नई', आदि की भूल-भुलैया में साधारण पाठक उलझ जाता था। स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी के शब्दो मे 'इस विषमता ने उदर में शूल उत्पन्न कर दिया।' 'भ्रष्ट' के स्थान पर 'भृष्ट', 'दृश्य' के स्थान पर 'द्रश्य', 'सिद्धि' के स्थान पर 'सिद्धी', 'भगीरथ' के स्थान पर 'भागीरथ' जैसे प्रयोग द्विवेदी जी को लेखों में पढ़ने के लिये सामान्यतः मिल जाया करते थे। काव्योपयुक्त शब्दों तथा रूपों का प्रयोग गद्य में और गद्योपयुक्त शब्दों तथा रूपों का प्रयोग काव्य में प्रायः हुआ करते थे। 'जाने' के स्थान पर 'जानैं', 'धीरों' के स्थान पर 'धीरौं' का प्रयोग इस काल की व्यापक प्रवृत्ति है। ह्रस्वान्त का दीर्घान्त और दीर्घान्त का ह्रस्वान्त रूप प्रायः लेखकों और कवियों की रचनाओ मे मिल जाता है। ह्रस्व 'इ' या उसकी मात्रा के प्रयोग के विपरीत दीर्घ 'ई' या उसकी मात्रा के प्रयोग पर तो मराठी प्रभाव लक्षित होता है। 'हुवा', 'लावो' आदि में 'वो' उर्दू प्रभाव के कारण है। 'छोड़' को 'छोड' 'जोड़' को 'जोड' लिखना अथवा 'ब' और 'व' में भेद न करना भी मराठी प्रभाव

ही प्रतीत होता है। इसी प्रकार व्यञ्जनों के प्रयोग, विशेषणों से .... संज्ञा बनाने, वर्णों में क्रमविपर्यय, अशुद्ध वर्तनी, 'ई', 'य', 'व', 'स', 'श', 'ष', अनुस्वार और चन्द्रबिन्दु, 'न', 'ल' आदि के प्रयोगों में लेखक अनुचित स्वच्छन्दता से कार्य कर रहे थे। विदेशी शब्दों के लिखने में भी कोई नियम नहीं था, जो जैसा चाहता था लिखता था। कोई शब्द स्वरान्त हो या व्यञ्जनान्त, इस सम्बन्ध में कोई एकरूपता नहीं थी। सर्वनामों के प्रयोगों में भी अशुद्धियाँ रहा करती थीं। कारक विभक्ति-चिह्नों का उचित प्रयोग करना बहुत कम लोग जानते थे। एक ही वाक्य में एक ही क्रिया के कई कर्त्ता हों तो क्रिया का लिङ्ग अन्तिम कर्त्ता के अनुसार होना चाहिये, हिन्दी व्याकरण का यह साधारण नियम है। किन्तु इस नियम की भी सामान्यतः अवहेलना हुई। 'चिट्ठी लिखा', 'छुट्टियों की उपलक्ष्य में', 'मुझे यह बात करना है', 'भाषा शुद्ध होना चाहिये' जैसे अशुद्ध लिङ्ग-प्रयोग बड़े-बड़े लेखकों की रचनाओं में रहते थे। लिङ्ग और वचन की अशुद्धि, अथवा विभक्ति-चिह्नों का निरर्थक प्रयोग आलोच्य-काल में सामान्यतः पाया जाता है। लिङ्ग की दृष्टि से कोई संस्कृत व्याकरण का आश्रय ग्रहण करता था, कोई हिन्दी व्याकरण का। 'आत्मा' संस्कृत में पुंलिङ्ग है, हिन्दी में स्त्रीलिङ्ग, किन्तु लेखकों ने इस सम्बन्ध में किसी एक नियम का पालन नहीं किया। उर्दू और अँगरेजी शब्दों के लिङ्ग-निर्धारण में तो और भी अव्यवस्था थी। वचन-सम्बन्धी अशुद्धियाँ अपेक्षाकृत कम होती थीं। कुछ उपन्यासों की भाषा में 'मेरे लिए' के लिये 'मेरे को' प्रयोग मिलता है, जो स्पष्टतः पञ्जाबी प्रभाव है। किन्तु पञ्जाबी प्रभाव अत्यन्त न्यून है। क्रिया-रूपों में भी अनेक प्रकार की अशुद्धियाँ मिलती हैं। सन्धि के नियमों में शिथिलता बरती जाती थी। प्रत्ययों के प्रयोग में अनेक लेखकों ने भूलें कीं। शब्दों की सन्निधि और क्रम में उन्होंने व्याकरण-विरुद्ध विपर्यय किया। सकर्मक और अकर्मक क्रियाओं में अँगरेजी की अभिव्यक्ति-प्रणाली का प्रभाव आये बिना न रह सका। बँगला की भाँति अँगरेजी ग्रन्थों और लेखों का आये दिन अनुवाद होता रहता था। उस समय हिन्दी की अभिव्यञ्जना प्रणाली को आघात पहुँचना स्वाभाविक था। व्याकरण, वाक्य-विन्यास, तथा शब्द-रूपान्तर की दृष्टि से इस प्रकार की अन्य अनेक अशुद्धियों की ओर सङ्केत किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त द्विवेदी-युग के लेखकों ने विराम-चिह्नों के ठीक-ठीक प्रयोग की ओर भी ध्यान न दिया। सम्पादक के रूप में द्विवेदी जी को यह कार्य भी करना पड़ता था। अनुच्छेदों की कला तक में उन्हें मार्ग-प्रदर्शन करना पड़ता था। एक और महत्वपूर्ण दोष इस युग के लेखकों में यह था कि मुहावरों और कहावतों का लोक-प्रचलित रूप व्यवहार में न लाकर लेखक प्रायः उनका या तो संस्कृत शब्दावली में अनुवाद कर देते थे, जिससे मुहावरों और कहावतों की जान ही निकल जाती थी, अथवा हिन्दी की प्रकृति पहिचाने बिना अँगरेजी के मुहावरों का शाब्दिक अनुवाद कर दिया जाता था। 'पानी पी घर पूछना' में जो शक्ति है वह 'जल पी गृह पूछना' में नहीं है। वास्तव में भाषा की प्रकृति का सम्यक् ज्ञान न होने के कारण ही लेखकों से इस प्रकार की भूलें होती थीं। शुद्ध एवं उपयुक्त शब्द-चयन, सुगठित वाक्य-विन्यास, व्याकरण-सम्बन्धी नियमों आदि के अभाव में न तो गद्य में और न पद्य में, खड़ीबोली के सुगठित, परिष्कृत और परिमार्जित रूप की प्रतिष्ठा नहीं हो पा रही थी अनेक चिन्त्य प्रयोगों से भाषा का सहज प्रवाह नष्ट हुआ जा रहा था

खड़ीबोली के क्षेत्र में इस शिथिलता के कारण थे। ब्रजभाषा तो कई शताब्दियों तक काव्य-भाषा रहने के कारण मँज चुकी थी। भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग में उसकी शक्ति भी क्षीण हो गई और कविगण पिष्टपेषण-मात्र से सन्तोष कर लेते थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उसके सरल, स्वाभाविक और मधुर रूप की प्रतिष्ठा की। तत्पश्चात् आलोच्य-काल के लगभग अन्त में जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने उसका व्याकरणसम्मत रूप निर्धारित कर पुरानी दीवारों पर पच्चीकारी की। किन्तु इतिहास अब ब्रजभाषा के पक्ष में नहीं था। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से खड़ीबोली ने साहित्य में निश्चित स्थान प्राप्त करना शुरू कर दिया। प्रेस तथा जीवन की नवीन आवश्यकताओं ने उसे प्रश्रय दिया। प्रारम्भ में तो उसका कोई स्वरूप ही निश्चित न हो पाया। ब्रजभाषा और प्रादेशिक बोलियों के प्रभाव से भी वह बच न पाई। विदेशी वैयाकरणों ने उसके जो व्याकरण सम्बन्धी नियम बनाये वे उसकी प्रकृति के अनुरूप नहीं थे। वास्तव में खड़ीबोली का व्याकरण अँगरेजी व्याकरण का अनुकरण मात्र था। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में गद्य-भाषा खड़ी-बोली अपनी बाल्यावस्था की अपरिपक्वता लिये रही। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने काव्य-क्षेत्र में तो उसे कोई स्थान दिया ही नहीं था। गद्य-क्षेत्र में खड़ीबोली को विविधता-सम्पन्न बनाने में अधिक लगे रहे। उसके सुघड़ रूप की ओर उनका ध्यान न गया। अस्तु, द्विवेदी-युग तक खड़ीबोली गद्य के वैज्ञानिक या व्याकरण-सम्मत रूप स्थिर करने की चेष्टा हुई ही नहीं थी। पिछले सौ-वर्षों में उसने उच्चकोटि के भाव और विचार व्यक्त करने की शक्ति तो अर्जित कर ली थी, किन्तु उसका बाह्य आवरण ढीला-ढाला था; उसे काट-छाँट कर दुरुस्त करने का अवसर उपस्थित नहीं हुआ था। पद्य के क्षेत्र में उसका प्रयोग हुए अभी दो ही दिन हुए थे। अतएव काव्य-भाषा के रूप तथा उसके परिष्करण के लिये स्वभावतः समय की अपेक्षा थी। फिर अँगरेज़ी और उर्दू के कारण भी उसका विकास अवरुद्ध रहा। इसलिये महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भाषा-सुधार अर्थात् खड़ीबोली-सुधार का जो प्रयत्न किया वह अपने में ही महत्वपूर्ण नहीं था, वरन् उसका ऐतिहासिक महत्व भी था।

इसके अतिरिक्त प्रचार कार्य से खड़ीबोली का प्रचार तो यथेष्ट हुआ, किन्तु इससे उसका वैज्ञानिक रूप स्थिर न हो सका। अँगरेज़ी और उर्दू की प्रतिद्वन्द्विता में उसकी जो दुर्दशा हो गई थी, वह भारतेन्दु-युग के साहित्य-सेवियों के सामने स्पष्ट थी। राष्ट्रीय-जागरण के साथ-साथ हिन्दी प्रचार-कार्य भी शुरू हुआ और ज्यों-ज्यों राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक आवश्यकताएँ बढ़ती गई त्यों-त्यों उसका प्रचार आन्दोलन वृहत् रूप धारण करता गया। अँगरेज़ी और उर्दू-शिक्षित लोगों तथा सरकारी विभागों से उसमें कार्य करने के लिये अनुरोध होने लगे और निस्सन्देह कुछ सफलता मिली भी। मातृभाषा की सेवा के लिये उत्साह और आत्म-विश्वास दृष्टिगोचर होने लगा। किन्तु इस उत्साह में भाषा का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना लोग भूल गये थे। संस्कृत, बँगला, मराठी, अँगरेज़ी और उर्दू पढ़े-लिखे लोगों ने जब मातृभाषा की ओर ध्यान दिया तो वे अपनी-अपनी भाषागत विशेषताएँ लेते आये। उनके अपने शब्दों, पदावलियों, अभि-व्यञ्जनाओं, यहाँ तक कि क्रिया-रूपों तक का प्रचार होने लगा। प्रत्येक भाषा की अपनी-अपनी अलग प्रकृति थी और उनकी बातें हिन्दी में खप नहीं पा रही थीं। इधर अयोध्यासिंह उपाध्याय 'ठेठ हिन्दी का ठाठ और अधखिला फूल' द्वारा भाषा सम्बन्धी प्रयोग कर रहे थे जिससे ग्रामीण

और स्थानीय शब्दो और रूपो का खडीबोली मे प्रचार हुए बिना न रह सका इस हिंदी प्रचार के साथ भाषा और शब्दा के भिन्न भिन्न रूपो का प्रयोग होने लगा अगरेजी शिक्षित व्यक्ति जब हिन्दी में लिखने का उत्साह प्रकट करता था तो अपने उत्साह में उसे व्याकरण (वाक्य-रचना, सर्वनाम, क्रियारूपों, सन्धि-नियमों, लिङ्ग, शब्द-रूपान्तर आदि) का बिल्कुल ध्यान न रहता था। शब्द-भण्डार सीमित होने के कारण हिन्दी के नये उत्साही लेखकों को कठिनाई का सामना करना पडता था। इस अभाव की पूर्ति उन्हें बोल-चाल के अथवा प्रादेशिक (पञ्जाबी, मराठी, बङ्गला, बिहारी आदि) अन्य भाषाओं अथवा गढ़े हुए शब्दों के प्रयोग द्वारा करनी पड़ती थी। हिन्दी-उर्दू का सङ्घर्ष, बँगला अनुवादों द्वारा बँगला की अभिव्यञ्जनाओं और शब्दों का प्रयोग, संस्कृत-गर्भित और बोलचाल की भाषा का सङ्घर्ष आदि समस्याओं के कारण भाषा का रूप स्थिर नही हो पा रहा था। व्याकरण, भाषा-रूप, शब्द-भाण्डार आदि की दृष्टि से अनिश्चिता बनी रही, यद्यपि गद्य के विविध रूपों, विषयों और उपकरणों एवं उपादानों की दृष्टि से अद्भुत विकास हुआ। अनेक प्रकार की भाषा-सम्बन्धी रुचियों और आदर्शों के कारण भाषा विशृङ्खल और अराजकता-पूर्ण हो गई।

भाषा-सुधार का गुरुतर कार्य द्विवेदी जी ने अपने निरन्तर अध्यवसाय और दृढ सङ्कल्प द्वारा सम्पन्न किया। 'हिन्दी शिक्षावली' (१८९९ ई०), 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' (१८८५ ई० 'हिन्दोस्थान' में प्रकाशित, १९०१ ई० में पुस्तकाकार प्रकाशित) आदि मे उन्होंने व्याकरण-सम्बन्धी भूलों की कड़ी आलोचना की। 'सरस्वती' का सम्पादन करते समय भी द्विवेदी जी ने लेखकों का उनकी व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियों की ओर ध्यान दिलाया। भाषा के क्षेत्र में सुरुचि और संस्कार की आवश्यकता बताते हुए १९०५-६ ई० की 'सरस्वती' में उन्होने 'भाषा और व्याकरण' दो लेख प्रकाशित किये जिन्होंने साहित्य-जगत् में काफ़ी उत्तेजना पैदा की। मैथिलीशरण गुप्त, मिश्रबन्धु, केशवराम भट्ट, सुधाकर द्विवेदी, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', बालमुकुन्द गुप्त जैसे लेखकों तक की त्रुटियों को उन्होंने न छोड़ा। व्याकरण के अतिरिक्त विराम-चिह्नों, अनुच्छेद-विभाजन तथा शब्दों के लिखने की त्रुटियों आदि से सम्बन्धित दोषों का परिहार करने की भी चेष्टा की। 'सरस्वती' का सम्पादन करते समय संशोधन-कार्य, पुस्तक-समीक्षाएँ, सम्पादकीय, स्वतन्त्र लेख आदि उनके साधन थे। उन्होंने भाषा और व्याकरण-सम्बन्धी अनेक विवादास्पद विषय स्पष्ट किये, जैसे, विभक्तियाँ शब्दों से मिलाकर लिखनी चाहिये या हटा कर, या विदेशी शब्दों का लिङ्ग-निर्धारण किस प्रकार चाहिये आदि। अन्य अनेक साहित्यिक विद्वानो ने इस प्रकार के वाद-विवादों में भाग लिया। 'स्थिर' और 'अनस्थिर' को लेकर बालमुकुन्द गुप्त, महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि साहित्यिकों में जो वाद-विवाद हुआ वह आधुनिक हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक घटना है। अस्तु, स्वयं द्विवेदी जी के सतर्क रहने के अतिरिक्त भाषा-सम्बन्धी एक व्यापक चेतना उत्पन्न हुई और प्रथम महायुद्ध के समाप्त होते-होते जो भाषा विशृङ्खल और अव्यवस्थित थी, उसे निश्चित और स्थिररूप प्राप्त हुआ। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि खड़ीबोली गतिहीन भाषा हो गई। समस्त वाद-विवाद के उपरान्त द्विवेदी जी तथा अन्य साहित्यिक लेखकों का ध्यान इस ओर अवश्य रहता था कि हिन्दी एक जीवित और गतिशील भाषा है और उसकी ग्राहिका

 शक्ति को निरन्तर बढाते रहना है यही कारण है कि विदेशी शब्दों को पचाने

की जो प्रक्रिया खड़ीबोली ने अपने बाल्यकाल ही से प्रकट की थी, वह कालानुसार, आलोच्य-काल में भी बनी रही। खड़ीबोली में अँगरेजी तथा अन्य विदेशी भाषाओं, उर्दू, बँगला आदि के शब्दों और पदावलियों का प्रचार हुआ। द्विवेदी-युग के उत्तरांश के छायावादी कवियों, विशेषत 'प्रसाद', पन्त और 'निराला' ने अनेक नवीन कोमल और श्रुतिमधुर शब्दों का निर्माण किया। साहित्यिक विषयों को छोड़कर वैज्ञानिक और उपयोगी विषयों से सम्बन्धित शब्दों का निर्माण भी इस युग में हुआ। जिन शब्दों में जान थी वे आज भी जीवित हैं।

द्विवेदी जी ने भाषा-सुधार-सम्बन्धी जो कार्य किया वह निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण था। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में जो अराजकता फैली हुई थी वह उनके प्रयत्नों के द्वारा उत्पन्न व्यापक चेतना द्वारा नियन्त्रित हुई और भाषा का परिष्कृत एवं व्याकरण-सम्मत रूप स्थापित हुआ। किन्तु आर्य-समाज आन्दोलन, बँगला अनुवादों और व्यापक पुनरुत्थानकालीन भावना से प्रभावित हो द्विवेदी-युग ने संस्कृत तत्व पर आवश्यकता से अधिक ज़ोर दिया। अनेक प्राचीन तथा धातुओं के आधार पर गढ़े गये नये संस्कृत शब्दों से खड़ीबोली भर गई। यह बात कोई बुरी नहीं थी। किन्तु खड़ी-बोली का भी अपना एक स्वरूप था जो शताब्दियों से अलिखित रूप में और पिछली लगभग एक शताब्दी से लिखित रूप में चला आ रहा था। द्विवेदी-युग में इस ओर ध्यान न दिया गया। 'कपाट मुद्रित थे अतः मैं परावर्तित हुआ' जैसे वाक्य खड़ीबोली हिन्दी के स्वभाव के विरुद्ध हैं। उसका अपना एक जातीय रूप था जिसकी ओर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र सिद्धान्त और व्यावहारिक रूप मे सङ्केत कर चुके थे। अनलङ्कृत, संस्कृत की सरल एवं सुबोध शब्दावली से पूर्ण होने के साथ-साथ उसमें तद्भव और देशज शब्दों, कहावतों तथा मुहावरों का प्राधान्य होना चाहिये। विदेशी शब्द उसमें वे ही आने चाहिये जो जनसाधारण में सरलतापूर्वक समझे जा सकते हैं और जो भाषा के अङ्ग बन गये हैं। इस रूप का सर्वोत्तम उदाहरण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मौलिक नाटकों, विशेषतः 'चन्द्रावली' (१८७६ ई०) नाटिका में मिलता है। द्विवेदी-युग में भाषा को व्याकरण-सम्मत बनाने के उत्साह में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा निर्धारित मार्ग दृष्टि-पथ से ओझल हो गया। 'सरस्वती' में ही ऐसे अनेक लेख प्रकाशित होते थे और गोविन्द नारायण मिश्र भी अपनी ऐसी रचनाएँ पाठकों के सम्मुख रख रहे थे जिनमें संस्कृत, बँगला और मराठी भाषी शैलियों के दर्शन होते हैं। किन्तु उनमें हिन्दी का अपनापन नहीं है। शाब्दिकता, अलङ्कारप्रियता आदि की अपनी शैलीगत विशेषताएँ नहीं हैं। किसी-किसी लेख में तो भाव के स्थान पर भाषा का महत्व ही अधिक पाया जाता है। प्रेमचन्द, बालमुकुन्द गुप्त और पद्मसिंह शर्मा जैसे लेखकों ने भारतेन्दु के मार्ग का अनुसरण किया। फलतः उनकी भाषाशैली में प्रवाह और शक्ति है, जो सीधे पाठक का हृदय स्पर्श करती है। अन्यथा इस युग के अधिकांश लेखकों की भाषा में प्रवाह नही है, उसकी गति मन्द ही नहीं कुण्ठित है और वह बामुहावरा नहीं है। वह भले ही गम्भीर और पाण्डित्यपूर्ण हो, किन्तु उसमें रवानगी नहीं है जो भाषा का सौन्दर्य है। जहाँ कुछ सरलता और माधुर्य है, वहाँ हिन्दी अपने जातीय रूप में नहीं है। इस अभाव का उत्तरदायित्व द्विवेदी-युग पर है।

भारतेन्दु-युग में खड़ीबोली को साहित्यिक रूप प्राप्त होने के साथ-साथ उसमे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र की निजी विशेष शैलियों का जन्म हुआ था आलोच्य-काल में भाषा एव साहित्य सम्बन्धी बहुमुखी के अन्य अनेक

लेखकों की व्यक्तिगत [illegible] सैलियों का उदय हुआ और विषय तथा उपादानों की परिधि विस्तृत हुई। यद्यपि द्विवेदी जी का अधिकांश साहित्य न तो उच्चकोटि का है और न वह स्थायी है, तो भी उन्होंने स्वयं अपनी कई प्रकार की शैलियों को जन्म दिया। विवेचनात्मक, वर्णनात्मक, भाषणात्मक, भावात्मक, संलापात्मक, व्यंग्यात्मक तथा कथात्मक आदि कई प्रकार की शैलियों से उनकी रचनाएँ सुसज्जित हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में ही बालमुकुन्द गुप्त अपने निबन्धों द्वारा व्यंग्यात्मक, ओजपूर्ण और प्रवाहपूर्ण शैली प्रस्तुत कर रहे थे। वास्तव में बालमुकुन्द गुप्त की भाषा और शैली का सौन्दर्य इस युग के बहुत कम लेखकों में दृष्टिगोचर होता है। इसी समय पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने भावों या मनोविकारों पर निबन्ध लिखने प्रारम्भ कर दिये थे। साथ ही उन्होंने अपने आलोचनात्मक प्रबन्धों का भी निर्माण किया। उनकी शैली गम्भीर और अध्ययनपूर्ण है। पाण्डित्यपूर्ण अनुभवों द्वारा प्राप्त विचार उनकी रचनाओं में कस-कस कर भरे हुए मिलते हैं। यद्यपि उनकी बुद्धि के साथ-साथ उनके हृदय का भी संयोग मिलता है, तो भी बुद्धि की प्रधानता कुछ अधिक हो जाने के कारण उनकी शैली बोझिल, शुष्क और नीरस हो गई है। अनेक साहित्यिक कार्यों में उनके सहयोगी बाबू (बाद को डॉ०) श्यामसुन्दरदास की शैली में अध्यापक की शैली की लगभग सभी विशेषताएँ पायी जाती हैं। कक्षा में भाषण देते हुए अध्यापक जिस प्रकार अपनी बात को सीधी और सरल भाषा में समझाता जाता है अथवा सब बातों का निचोड़ निष्कर्ष-रूप में रखता जाता है, विद्यार्थियों से प्रश्न पूछता जाता है, उसी प्रकार की विशेषताएँ बाबू साहब की शैली में दृष्टिगोचर होती हैं। इसी भाँति किसी लेखक की शैली में भाषण देने की शैली पाई जाती है, जिसमें ओज, नाटकीयता, किसी वस्तु या घटना का चित्र प्रस्तुत कर देने की शक्ति आदि विशेषताएँ होती हैं, तो किसी लेखक की रचनाओं में सरस और मधुर हास्य एवं व्यंग्य से समन्वित शैली। 'प्रसाद' और चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' जैसे लेखकों ने अलङ्कृत शैली का अनुसरण कर काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया। उनके भावों में भी सूक्ष्मता रहती है। कल्पना के मिश्रण से उनमें आनन्दविधायिनी शक्ति उत्पन्न हो जाती है। प्रेमचन्द ने अपनी अनलङ्कृत और सरल, किन्तु शक्तिपूर्ण वर्णन शैली में, अनेक सुन्दर भावपूर्ण चित्र प्रस्तुत किये। मनोवैज्ञानिकता ने उनकी शैली में चार चाँद लगा दिये। वियोगी हरि ने नाद, लय, संगील के मिश्रण से भाषा की अभिव्यञ्जनात्मक शक्ति में वृद्धि की। उन्होंने इस प्रकार की शैली ग्रहण कर अपने भाव-चित्र अनेक सुन्दर रंगों से भरे। उन्हीं के समान राय कृष्णदास ने अपने आत्मगत सूक्ष्म भावनाएँ व्यक्त की। उनमें उनकी भावुकता, संगील-प्रियता और लयात्मकता स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होती है। अनेक लेखकों, विशेषतः कहानीकारों ने, अपनी रचनाओं में संवाद-कला के गुण प्रकट किये। पद्मसिंह शर्मा ने अपनी व्यंग्यपूर्ण, भावात्मक और भाषणात्मक शैलियों में रचनाएँ कर हिन्दी खड़ीबोली गद्य की श्रीवृद्धि की।

अस्तु, आलोच्य-काल में भाषा के संस्कार, परिष्कार होने के साथ-साथ वर्णनात्मक, कथात्मक, व्यंग्यात्मक, भाषणात्मक, संवादात्मक, व्यक्तित्वपूर्ण, प्रतीकात्मक, भावात्मक, विवेचनात्मक, कवित्वपूर्ण, हास्यपूर्ण, तर्कपूर्ण या, व्याख्यात्मक, आत्म-चरित्रात्मक, अलङ्कार प्रधान आदि अनेक शैलियों का माविर्भाव हुआ किसी लेखक की एक ही रचना में एक से अधिक

शैलियों के दर्शन भी हो जाते हैं। उपर्युक्त लेखकों के अतिरिक्त अध्यापक पूर्णसिंह, माधव मिश्र, यशोदानन्दन अखौरी, चतुर्भुज औदीच्य, 'उग्र', चतुरसेन शास्त्री, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' आदि अन्य अनेक लेखकों ने हिन्दी गद्य के शैलीकरण में अपना योग प्रदान किया। वास्तव में नवीन चेतना, विशेषतः साहित्य में स्वच्छन्दवादी आन्दोलन के जन्म के फलस्वरूप लेखकों के निजी व्यक्तित्वों के प्रकाश में भाषा के कलात्मक रूप का सँवारा जाना भी स्वाभाविक था। भाषा के दृष्टि से ही नहीं, इस युग में शैलियों की दृष्टि से भी खड़ीबोली का परिमार्जन हुआ। प्रसादात्मकता, सुबोधता, शुद्धता, लालित्य, सप्राणता, लाक्षणिकता आदि द्वारा शब्द-सौन्दर्य ओर भाव-सौन्दर्य दोनों के आधार पर शैली-शिल्प का निर्माण किया गया।

द्विवेदी-युग के इस राष्ट्रीय जागरण और व्यापक चेतना की प्रतिक्रिया साहित्यिक रूपों और शैलियों के विकास में भी प्रतिबिम्बित हुई। नवीन भाव-कोटियों के लिये नवीन आवरण और शृंगार-प्रसाधन की आवश्यकता थी। आलोच्यकालीन साहित्य का यह कलात्मक पक्ष भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में खड़ीबोली गद्य की जो परम्परा चली थी, उसके तीन प्रधान माध्यम थे——समाचार-पत्र, शिक्षा-पुस्तकें और ईसाई धर्म-प्रचार। ललित साहित्य ने अभी उसका भार वहन न किया था। यह कार्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में सम्पन्न हुआ और उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, समालोचना आदि गद्य-रूपों के विकास से हिन्दी साहित्य में नवयुग की अवतारणा हुई। आलोच्य-काल में इन रूपों ने और भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण किया और तत्सम्बन्धी भारतेन्दुकालीन सीधे-सरल कला-रूपों के स्थान पर विविध कलात्मक श्रेणियों के जन्म से उन्हें नवीन रूप प्राप्त हुआ। उपन्यास क्षेत्र में देवकीनन्दन खत्री कृत 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' से तिलिस्मी एवं अय्यारी उपन्यासों की परम्परा के साथ-साथ जासूसी उपन्यासों की परम्परा भी चली। इस प्रकार के उपन्यासों को यथेष्ट लोक-प्रियता प्राप्त हुई, यद्यपि उनमें मानवी भावनाओं और मनोविकारों के लिये अधिक स्थान नहीं था। इसके अतिरिक्त उपन्यासों में प्रेम और नाटकीय गुणों को स्थान मिला। ये दोनों गुण पारसी रङ्गमञ्च से विशेषतः प्रभावित थे । उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पारसी रङ्ग-मञ्च से प्रभावित नाटककारों ने 'लैला मजनूं', 'शीरीं फरहाद', 'गुलबकावली' आदि के स्थान पर पौराणिक आख्यानों या ऐतिहासिक वृत्तों के आधार पर चरित्र-निर्माण की दृष्टि से अथवा कोई उपदेश प्रदान करने के लिये नाटकों की रचना की थी। उसी प्रकार द्विवेदी-युग के उपन्यासकारों ने प्रेम और नाटकीयता आदि गुण लिये तो पारसी रङ्ग-मञ्च से, किन्तु आख्यान पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा गार्हस्थ्य जीवन से चुने जिनमें किसी-न-किसी आदर्श की ओर सङ्केत किया गया। इसी प्रकार प्रेमचन्द जैसे उपन्यास-लेखक ने दैवी घटनाओं के स्थान पर मनोविज्ञान, मनुष्य की बुद्धि और हृदय को स्थान दिया तो उपन्यास-कला का विकास एक महत्वपूर्ण श्रेणी पर पहुँच गया। नवीन विज्ञान-सम्मत युग में सत्य और यथार्थ को स्थान मिलना युग के अनुरूप ही था। जिन उपन्यास-लेखकों ने कवि-हृदय प्राप्त किया था, जैसे, चण्डीप्रसाद 'हृदयेश', उन्होंने उपन्यासों के वाह्य और आन्तरिक रूपों में काव्य-सौन्दर्य उत्पन्न करने की चेष्टा की। इस कला-रूप के विकास के साथ-साथ उपन्यासों की कथा कहने की शैली मे भी परिवर्तन हुआ उन्नीसवी शताब्दी में लेखक एक श्रोता

मण्डली के सामने कथावाचक के रूप मे था और शिक्षा एव सुधार उसका प्रधान उद्देश्य रहता था किन्तु अब लेखक पाठको के सामने नही आता वह केवल अपनी शक्ति द्वारा पात्रो और घटनाओ का चित्र चित्रित करता जाता है और मनोवैज्ञानिक वातावरण उत्पन्न करता हुआ अपने अन्तिम उद्देश्य तक पहुँच जाता है। कथोपकथन और चरित्र-चित्रण की नवोदित कला से भी इस कार्य में सहायता ली गई। कथोपकथनों द्वारा चरित्र पर प्रकाश पड़ने लगा और कथानक को गति प्राप्त हुई। प्रत्येक पात्र अपना-अपना व्यक्तित्व लेकर सामने आने लगा। इस दृष्टि से उपन्यासों की आत्मकथात्मक शैली के साथ-साथ अभिनयात्मक और विश्लेषणात्मक शैलियों ने अपना विशेष सौन्दर्य प्रकट किया। कुछ उपन्यास पत्र और डायरी शैली में भी लिखे गये। इन सब शैलियों के अपने-अपने गुण-दोष दोनों थे। किन्तु वे उपन्यास-कला-विकास की नवीनता का प्रतिनिधित्व करती थी, यह निर्विवाद है। देवकीनन्दन खत्री, प्रेमचन्द, विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक', चुतरसेन शास्त्री, 'उग्र', किशोरीलाल गोस्वामी आदि अनेक उपन्यास-लेखको ने मनोरञ्जन के अतिरिक्त राष्ट्रीय जीवन के विविध पार्श्वों का स्पर्श करते हुए उपन्यास-साहित्य का निर्माण किया। तिलस्मी, जासूसी, ऐतिहासिक, पौराणिक, प्रेमप्रधान आदि कथानक-प्रधान उपन्यासों, प्रेमचन्द के मनोवैज्ञानिक चरित्र-प्रधान उपन्यासों ('सेवासदन', १९१८ ई०, 'प्रेमाश्रम', १९२१ ई०, 'रंगभूमि', १९२२ ई० और 'कायाकल्प' १९२४ ई०), चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन आदि द्वारा मानव-समाज की कुरूपताओं का दिग्दर्शन कराने वाले उपन्यासों और कवित्वपूर्ण-शैली के मौलिक और अनूदित उपन्यासों में हिन्दी प्रदेश की नवीन साहित्यक चेतना स्पष्टतः स्पन्दित है।

आधुनिक अर्थ में हिन्दी कहानी तो पाश्चात्य प्रभाव के अन्तर्गत द्विवेदी-युग की ही देन है। प्रारम्भ में संस्कृत, बँगला या अँगरेजी से अनूदित या रूपान्तरित कहानियाँ 'सरस्वती' मे प्रकाशित हुआ करती थीं। क्रमशः लेखक या तो अपने ओर के सामयिक जीवन या अपनी कल्पना के आधार पर श्रेष्ठ कहानियों की रचना करने लगे। प्रेमचन्द और 'प्रसाद' आधुनिक कहानी साहित्य के मूल स्रोत है जिनसे हिन्दी कहानियों की यथार्थवादी-आदर्शवादी और भाव-प्रधान धाराएँ निकलीं। 'प्रसाद' जी अपनी कहानियाँ 'इन्दु' में प्रकाशित करते थे। प्रारम्भ में हिन्दी कहानियों में मनोरन्जन और दैव-संयोग से घटित घटनाओं का प्राधान्य रहता था। किन्तु शीघ्र ही उपन्यासों की भाँति, कथोपकथन और चरित्र-चित्रण द्वारा मनोवैज्ञानिकता को प्रश्रय मिला। उनमें भी नाटकीयता रहने लगी। अँगरेजी के प्रसिद्ध लेखक रॉबर्ट लुइ स्टीवेन्सन ने कहानी लिखने की तीन प्रधान रीतियों का उल्लेख किया है:—(१) पात्र लेकर उसके अनुरूप घटनाओ और परिस्थितियों का निर्माण करना, (२) वातावरण लेकर उसके प्रादुर्भाव के लिये पात्र और घटनाएँ चुनना, और (३) कथानक लेकर उसमें पात्र का स्थान निर्धारित करना। इन तीन रीतियों के अनुसार कहानी के तीन प्रधान वर्ग निर्धारित हो सकते है—चरित्र-प्रधान, वातावरण-प्रधान और कथानक या घटना-प्रधान। हास्य-प्रधान, साहसिक कार्य-प्रधान, सुधारवादी, प्रतीक-वादी आदि कहानी के अन्य भेदोपभेद इन्हीं तीन प्रधान वर्गों के अन्तर्गत आ जाते हैं। द्विवेदी-युग मे इन भेदोपभेदों सहित तीनों वर्गों की कहानियों का निर्माण हुआ। प्रेमचन्द ('बड़े घर की बेटी'), 'प्रसाद' ('आकाश दीप') और 'कौशिक' ('पावन-पतित') के अतिरिक्त प्रस्त

ऋषभचरण जैन, ज्वालादत्त शर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, चतुरसेन शास्त्री, सुदर्शन, चन्द्रधर-शर्मा गुलेरी, 'हृदयेश' आदि ने कहानी-साहित्य को विविधता-सम्पन्न बनाया। उन्होंने पत्र-शैली, डायरी शैली, आत्मचरित शैली, अभिनयात्मक शैली और विश्लेषणात्मक शैली में अनेक कलात्मक कृतियाँ हिन्दी को दीं। वास्तव में कहानी का जितनी तीव्र गति से विकास हुआ उतना अन्य किसी साहित्यिक रूप का न हुआ था।

नाट्य-कला भारतवर्ष या हिन्दी के लिये कोई नवीन कला नहीं थी, संस्कृत साहित्य इसका साक्षात् प्रमाण है। काल-गति से मध्य युग में इस कला का ह्रास हो गया था, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में व्यापक नवोत्थानकालीन भावना और अँगरेजी साहित्य के साथ स्थापित सम्पर्क द्वारा इस कला का फिर से उदय हुआ और हिन्दी नाटक-साहित्य के जनक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नवीन और प्राचीन के समन्वय से हिन्दी के अपने नाट्य-धर्म का प्रवर्तन किया जिसका अनुसरण करते हुए अच्छे-बुरे दोनों तरह के दिन देखते हुए, हिन्दी के नाटक-साहित्य ने द्विवेदी-युग में पदार्पण किया। रामलीलाओं और रासलीलाओं के पौराणिक एवं अर्द्ध-ऐतिहासिक कथाओं का अब भी अभिनय हो रहा था और पारसी नाटक तथा रङ्ग-मञ्च अब भी लोकप्रिय बना हुआ था। प० अयोध्यासिंह उपाध्याय, बाबू रामकृष्ण वर्मा आदि ने बँगला-अनुवादों तथा उत्कृष्ट मौलिक नाटकों की रचनाओं से हिन्दी जनता की नाट्य-रुचि परिष्कृत करनी चाही थी, किन्तु उन्हे सफलता प्राप्त न हो सकी। अस्तु, आलोच्य-काल के प्रारम्भ में नाटक अपने दुर्दिन व्यतीत कर रहा था। उच्च कोटि के मौलिक नाटकों का अभाव था और अनुवादों—अँगरेज़ी और बँगला से—की भरमार थी। पारसी रङ्गमञ्च पर अतिनाटकीयता, कथा-वैचित्र्य, मनोरञ्जन और नाच-गानों की प्रधानता थी। दूसरी ओर राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' कृत 'चन्द्रकला भानुकुमार नाटक' जैसे नाटकों में साहित्यिकता की प्रचुरता थी।

द्विवेदी-युग में पारसी रङ्गमञ्च के लिये लिखने वालों में राधेश्याम कथावाचक, श्रीकृष्ण हसरत, बेताब, मुहम्मद जलाल अहमद साहब, आगा हश्र कश्मीरी, हरिकृष्ण जौहर, तुलसीदत्त शैदा आदि प्रसिद्ध थे। उन्होंने अपनी कृतियों में ऐसे कथानकों को प्रधानता दी जो अतिरञ्जना-पूर्ण अद्भुत और कुतूहलवर्द्धक थे। वे दर्शकों को विस्मय और आश्चर्य में डाल देने वाले, अति-नाटकीयता एवं चमत्कारपूर्ण और रोमञ्चकारी थे। धार्मिक और पौराणिक कथानकों में भी यही प्रवृत्ति प्रधानतः पाई जाती है। शेक्सपियर के 'क्लाउन' के अनुकरण पर उनमें विदूषक हास्य रस की अवतारणा करते थे जिसका सम्बन्ध प्रधान गम्भीर कथानक से न होता था। हिन्दी की साधु अभिनयशालाओं के अभाव में ऐसे ही अभिनयों का प्रदर्शन हिन्दी जनता का मनोरञ्जन कर रहा था, किन्तु उनमें सुरुचि और कला का अभाव रहता था।

उसकी प्रतिक्रिया के रूप में डी० एल० राय तथा गिरीश घोष आदि के बँगला-नाटकों द्वारा अभावपूर्त्ति करने की सोची गई। परिणाम यह हुआ कि प्रथम महायुद्ध के लगभग तक हिन्दी की कोई श्रेष्ठ मौलिक नाट्य-कृति नहीं मिलती।

नाट्य-रचना-पद्धति की दृष्टि से किसी भी प्रकार के नाटक में प्राचीन नाट्य-शास्त्र के अनसार पूर्व रङ्ग, प्रस्तावना, प्ररोचना, अर्थ-प्रकृतियों, कार्यावस्थाओं, सन्धियों तथा भरत-वाक्य आदि का लोप हो गया था भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से ही उनका प्रचार बहुत कम हो चला था

वास्तव मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा स्थापित नवीन नाटय धम मे उनका रहना आवश्यक नही माना गया बाद मे भी हिन्दी पद्धति का विकास निरतर नवीनोन्मख ही रहा है अङ्कों और दृश्यों की व्यवस्था और उनके विभाजन में पाश्चात्य पद्धति का अनुसरण किया जाने लगा। सामान्यत: तीन अङ्कों की प्रथा चल पड़ी और दृश्यों की संख्या इच्छानुसार रखी जाने लगी। अँगरेजी ढङ्ग के अनुसार तीनों अङ्कों में सुविधानुसार आरम्भ, विकास, चरम सीमा, निगति और फल-प्राप्ति को स्थान दिया जाने लगा। स्वगत-भाषणों का प्रयोग अवश्य होता था, किन्तु अब उनकी अस्वाभाविकता के सम्बन्ध में विचार किया जाने लगा था। बँगला नाटकों के प्रभावान्तर्गत स्वगत-भाषणों का प्रचार बन्द न हो सका था। भावुकतापूर्ण स्थलों पर तो स्वगत-भाषण आर भी अधिक अयथार्थ हो जाते थे। 'प्रसाद' के नाटकों के स्वगत-भाषण इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। कथोपकथन और स्वगत-भाषण दोनों के उस रूप की ओर ध्यान जाने लगा जो चरित्र-चित्रण पर प्रकाश डालने वाला और कथानक को विकसित करने वाला होता है। छोटे-छोटे सरल, व्यावहारिक कथोपकथनों से नाटक को सुसज्जित किया जाने लगा। साहित्यिक कथोपकथन जैसे 'प्रसाद' जी के नाटकों में मिलते हैं, साधारण जनता के लिये बोधगम्य न होते थे । पद्यात्मक वार्तालाप तो भारतेन्दु-युग से चला आ रहा था। पारसी कम्पनी के लेखकों में ही नहीं माखन-लाल चतुर्वेदी, बदरीनाथ भट्ट, और 'प्रसाद' जैसे साहित्यिक लेखकों की कृतियों में यह प्रवृत्ति बराबर पाई जाती है। किन्तु नाटकों में ऐसे स्थल भी मिलते हैं जब पद्य का केवल सम्भाषण के लिये नही, वरन् भाव-सौन्दर्य अथवा प्रार्थना या उपयुक्त गति के रूप मे भी प्रयोग हुआ है। ऐसे स्थलो पर पद्य का प्रयोग असङ्गत नहीं जान पड़ता। वास्तव में दृश्य-काव्य के अन्तर्गत माने जाने के कारण और रस-निष्पत्ति की दृष्टि से भारतीय नाट्य-साहित्य में किसी-न-किसी रूप में पद्यों का प्रयोग होता आया है। उसी परम्परा का पालन आलोच्य-काल में भी हो रहा था। लेकिन युग के प्रभावा-न्तर्गत उसकी अस्वाभाविकता का बोध होने लगा और 'प्रसाद', 'उग्र' आदि लेखकों ने इस प्रवृत्ति को दूर करने की चेष्टा की। पारसी रङ्गमञ्च के लिये लिखी गई कृतियों में तो पद्यों की अत्यधिक सख्या रहती थी। साहित्यिक लेखकों ने गानों में साहित्यिक पुट रखने का प्रयास किया। ऐसा प्रतीत होता है कि पाश्चात्य पद्धति क रने पर भी हिन्दी के नाटककारो ने भारतीय दृष्टि से कवित्वपूर्ण वातावरण की सृष्टि करनी चाही। इस समय तो संस्कृत नाटकों का आदर्शवाद और आदर्शवाद के अन्तर्गत सुखान्त-प्रणाली भी सुरक्षित दृष्टिगोचर होती है। बहुत कम नाटक ऐसे मिलते है जो दु:खान्त हों। कथानकों की दृष्टि से भारतेन्दु-युग की अपेक्षा कोई नवीन विकास नही मिलता। क्योंकि उस समय की भाँति आलोच्य-काल में भी पौराणिक, धार्मिक, प्रेमाख्यानक, ऐतिहासिक, राष्ट्रीय और सामाजिक एवं धार्मिक सुधारवादी सामयिक कथानकों का प्राधान्य मिलता है। एकाध प्रतीकवादी नाटक भी लिखा गया यथा 'प्रसाद' कृत 'कामना। पारसी रङ्गमञ्च के लेखको ने या तो प्रेमाख्यानकों के आधार पर चमत्कारपूर्ण नाटकों की रचना की, अथवा साधारण जनता की धार्मिक वृत्ति की तुष्टि के लिये पौराणिक नाटकों का निर्माण किया। बेताब, राधेश्याम आदि की रचनाएँ इसी दृष्टिकोण से हुई । किन्तु बदरीनाथ भट्ट, मैथिलीशरण गुप्त आदि ने साहित्यिक दृष्टि से पौराणिक नाटको की रचना की। कथोपकथन चरित्र-चित्रण आदि को देखते हुए उनमें और पारसी रङ्गमञ्च के लिये लिखे गये नाटको का अन्तर स्पष्ट हो जाता है राष्ट्रीय

जागरण के युग में इतिहास की ओर दृष्टि जाना स्वाभाविक ही था। ऐतिहासिक नाटकों के लेखकों में 'प्रसाद' का नाम अग्रगण्य है, वैसे सुदर्शन, प्रेमचन्द, गोपालराम 'गहमरी' आदि ने भी कुछ ऐतिहासिक कथानक चुने। वास्तव में हिन्दी नाट्य-कला के इतिहास में 'प्रसाद' की कृतियाँ एक नवीन युग की सूचना देती हैं। खोज, उद्देश्य, अन्तर्द्वन्द्व, वाह्य-सङ्घर्ष, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, भाषा, कवित्व-शक्ति, आदर्शवाद, सांस्कृतिक चेतना, राष्ट्रीय गौरव, दार्शनिकता आदि का जो गुण-दोषमय रूप 'प्रसाद' तथा उनका अनुसरण करने वाले नाटककारों की कृतियों में मिलता है वह पहले नही दिखाई देता। यह कहना अनुचित न होगा कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा स्थापित रचना-पद्धति ने 'प्रसाद' की कृतियों में ही करवट बदली। उनकी रचनाओं पर हिन्दी काव्यगत स्वच्छन्दवादी आन्दोलन का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। कला-पक्ष के विकास की दृष्टि से सामयिक सुधारवादी कथानकों पर आधारित नाटकों की रचना बहुत महत्वपूर्ण नही है।

वैसे तो हास्य-व्यंग्यपूर्ण दृश्यों की आयोजना पारसी रङ्गमञ्च तथा साहित्यिक दृष्टि से लिखे गये नाटकों में रहती थी, किन्तु प्रहसनों के प्रमुख लेखक जी०पी० श्रीवास्तव की स्वतन्त्र रचनाओं में भी हास्य का अत्यन्त भद्दा रूप मिलता है। विचित्र शब्दों और नामों के माध्यम द्वारा ही हास्य उत्पन्न करने की चेष्टा उनमें मिलती है। हास्यरसपूर्ण प्रसङ्गों और दृश्यों की अवतरणा का उनमे अभाव है। जी० पी० श्रीवास्तव की अपेक्षा तो बदरीनाथ भट्ट का हास्य अधिक उत्कृष्ट है।

संस्कृत नाटकों में उच्च श्रेणी के पात्रों द्वारा संस्कृत और स्त्रियों तथा हीन कोटि के पात्रों द्वारा प्राकृत के प्रयोग की पद्धति पाई जाती है। उसी अनुकरण पर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे खड़ीबोली और व्रजभाषा तथा अवधी का प्रयोग हुआ। आलोच्य-काल में भी बहुत दिनो तक यही प्रवृत्ति मिलती है। किन्तु नवीन शिक्षा-प्रणाली, जिसके अन्तर्गत हीन से हीन श्रेणी का व्यक्ति भी सुसंस्कृत भाषा का प्रयोग कर सकता था और प्रजातन्त्रवादी विचारों और सामाजिक सुधारवादी आन्दोलनों के फलस्वरूप उक्त प्रकार का भेदभाव अब अरुचिकर प्रतीत होने लगा था। फलतः खड़ीबोली ही सब पात्रों की भाषा बनी।

वास्तव में साधु अभिनयशाला के अभाव और प्रचारात्मकता का प्राबल्य होने के कारण आलोच्य-काल में नाट्यकला का जैसा विकास होना चाहिये था वैसा न हो सका। केवल 'प्रसाद' ने ही आशा की किरण छोड़ रखी थी।

उपर्युक्त गद्य-रूपों की भाँति निबन्ध का जन्म भी आधुनिक काल में हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रेस, पत्रों और पाश्चात्य साहित्य के साथ स्थापित सम्पर्क के फल-स्वरूप बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र ने निबन्धों की रचना की। इस सम्बन्ध में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नामोल्लेख भी होता है, किन्तु उनकी रचनाएँ शास्त्रीय दृष्टि से साहित्यिक लेखों के अन्तर्गत आती हैं, न कि साहित्यिक निबन्धों के अन्तर्गत। व्यावहारिक दृष्टि से भले ही लेख और निबन्ध पर्यायवाची शब्द हो गये हों, फिर भी उनके सैद्धान्तिक भेद पर ध्यान रखना आवश्यक है।[1] 'सरस्वती', 'इन्दु', 'मर्यादा' आदि पत्रों के प्रकाशन से आलोच्य-काल में निबन्धों में अभूतपूर्व विषय-विस्तार हुआ। उत्सव, तीर्थस्थान, स्वप्न, भाव या मनोविकार, कल्पना, प्रकृति, समाज, धर्म राजनीति यात्रा मनोविज्ञान साहित्य आदि सभी निबन्धों के विषय बने और गुप्त

द्विवेदी असौरी चतुर्भुज औदीच्य माधव मिश्र पूर्णसिंह

शर्मा गुलेरी, केशवप्रसाद सिंह, श्यामसुन्दरदास और रामचन्द्र शुक्ल जैसे निबन्धकार हुए। विषयों के साथ-साथ उन्होंने निबन्ध के रूपों और शैली में भी विकास उपस्थित किया। बालकृष्ण भट्ट या प्रतापनारायण मिश्र की अपेक्षा उनका मानसिक क्षितिज अत्यधिक विस्तीर्ण है। उन्होंने भावों का मानवीकरण कर, किसी काल्पनिक रूप में चित्रण कर, कवित्वमय रूप प्रदान कर, आत्म-चरित के रूप में, भाषण की विशेषताओं से समन्वित रूप में, स्वगत भाषण और आत्म-चिन्तन के रूप में, संवाद के रूप में तथा अन्य अनेक प्रकार के रूपों और शैलियों में निबन्धों की रचना की। गद्य-गीतों का निर्माण भी आलोच्यकालीन युग की अपनी विशेषता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर कृत 'गीताञ्जलि' और निबन्धों की कवित्व पूर्ण शैली ने उन्हें प्रोत्साहन दिया। राय कृष्णदास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री आदि इस युग के प्रमुख गद्य-गीत-लेखक हैं। निबन्ध-रूपों और शैलियों के विकास के साथ-साथ उसके कथात्मक, वर्णनात्मक, विवेचनात्मक, भावात्मक, तर्कप्रधान, हास्य-प्रधान आदि विविध प्रकारों का सर्जन भी हुआ है। वास्तव में निबन्ध कला की दृष्टि से आलोच्य-काल उसका स्वर्ण-युग है।

भारतेन्दु-युग में आधुनिकता के सूत्रपात के साथ-साथ समालोचना का विकास भी हुआ। समालोचना, साहित्य का प्रधान अङ्ग है। उसके बिना साहित्य में बिखरी हुई अनन्त विभूतियों के अस्तित्व का पता नहीं चलता। आलोच्य-काल से पूर्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, 'प्रेमघन' और बाल-कृष्ण भट्ट ने समीक्षाओं और गुण-दोष-विवेचन के रूप में समालोचना का प्रवर्तन किया था। १८९८ ई० तथा बाद के 'हिन्दोस्थान' (१८८५ई०) में महावीरप्रसाद द्विवेदी लिखित 'हिन्दी कालि-दास की समालोचना' में गुण-दोष-दर्शन वाली प्रवृत्ति ही मिलती है। १८९७ ई० में 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन से हिन्दी समालोचना साहित्य की विशेष वृद्धि हुई। उसने गम्भीर अध्ययन के बाद लिखे गये गवेषणात्मक और समालोचना-सिद्धान्त सम्बन्धी लेखों की परम्परा को जन्म दिया। श्यामसुन्दरदास, 'रत्नाकर', राधाकृष्णदास, सिद्धेश्वर शर्मा, गङ्गाप्रसाद अग्निहोत्री आदि लेखकों ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया और फिर 'सरस्वती' ने उसका पोषण किया। अस्तु, आलोच्य-काल में पहले से चली आ रही साहित्य-समीक्षा-प्रणाली, समालोचना का सैद्धान्तिक निरूपण, खोज और अध्ययन तथा गम्भीर समालोचना के रूप में समालोचना साहित्य मिलता है। महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दरदास (साहित्यालोचन, १९२२ ई०), रामचन्द्र शुक्ल, ('जायसी', १९२२ ई०, 'तुलसी' १९२३ ई०, 'भ्रमरगीत सार', १९२५ ई०) कन्हैयालाल पोद्दार, भगवानदीन, मिश्रबन्धु ('हिन्दी नवरत्न', १९१०-११ई०, 'मिश्रबन्धु-विनोद', १९१३ई०) पद्मसिंह शर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, कृष्णबिहारी मिश्र आदि ने किसी-न-किसी रूप में समालोचना के उक्त चारों रूपों की पूर्ति की और तुलनात्मक (पद्मसिंह शर्मा), सैद्धान्तिक, व्याख्यात्मक, निर्णयात्मक, प्रभाववादी, आदि विभिन्न शैलियों की नींव डाली। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् कवियों की काव्यगत विशेषताओं के अतिरिक्त जीवन की विविध परिस्थितियों के अध्ययन के साथ-साथ कवियों और लेखकों की अन्तःप्रवृत्तियों की ओर भी ध्यान जाने लगा। आलोच्य-काल की समालोचना के क्षेत्र में भारतीय पद्धति का व्यवहार तो हुआ ही, किन्तु भारतीय और पाश्चात्य पद्धतियों का समन्वय भी प्रारम्भ हुआ। हिन्दी-भाषा भाषियों ने समालोचना-साहित्य में बुद्धि और हृदय का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए साहित्य और जीवन को विविध पार्श्वों

से देखना प्रारम्भ किया। किन्तु साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि आलोच्य-काल मे हिन्दी समालोचना का बहुत अधिक विकास न हो सका। समालोचना के रूप में जो कुछ लिखा गया उसका ऐतिहासिक महत्व अवश्य है, फिर भी उच्चकोटि के आलोचनात्मक ग्रन्थ बहुत कम मिलते हैं।

पीछे यह कहा जा चुका है कि आलोच्य-काल में कविता इतिवृत्तात्मक और उपदेशात्मक स्थितियों और अवस्थाओं में होती हुई भावात्मक कोटि की चरम परिणति तक पहुँच गई। इसके अतिरिक्त उसने अभिनव कलेवर भी इस समय धारण किया। परम्पराविहित हिन्दी साहित्य मे प्रबन्ध और मुक्तक काव्यों तथा गीति-रचनाओं का अभाव नहीं था। द्विवेदी-युग के जीवन की परिस्थितियाँ प्रबन्ध-काव्य-रचना के अनुकूल थीं, क्योंकि उस समय परम्पराओं और रूढ़ियों के स्थान पर नवीन आदर्शों की स्थापना करनी थी और जिसके लिये कथा-अख्यानों की आवश्यकता थी। पिछले युग में श्रीधर पाठक कृत 'एकांतवासी योगी' और 'उड़ड़ ग्राम' (ब्रजभाषा) नामक प्रबन्ध-काव्यों की रचना हो चुकी थी। आलोच्य-काल में महावीरप्रसाद द्विवेदी 'कुमार सम्भव' (अनुवाद), श्रीधर पाठक 'श्रान्त पथिक' (अनुवाद), मैथिलीशरण गुप्त (रंग में भंग', १९०९ई० 'जयद्रथ-वध' १९१० ई०), जयशंकर प्रसाद ('प्रेम पथिक' १९१३ ई०, 'महाराणा का महत्व', १९१४ ई०), सियारामशरण गुप्त ('मौर्य-विजय', १९१४ ई०) आदि ने प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत खण्डकाव्यों के लिये विविध ऐतिहासिक एवं पौराणिक आख्यान चुने। उनमें वीरता, साहस, प्रेम, पराक्रम, शक्ति, उत्साह आदि के सञ्चार के साथ-साथ सरल एव मनोवैज्ञानिक वर्णन मिलते है। प्रभावोत्पादन के लिये कवियों ने अनेक प्रकार के अलङ्कारों का प्रयोग किया है। वे गेय और नाटकीय तत्वों से भी विभूषित हैं। खड़ीबोली का आदि महाकाव्य 'प्रियप्रवास' (१९१३ ई०) इसी युग की देन है। खण्ड-काव्यों तथा महाकाव्यों में रस, अलङ्कार और भाषा के निखरे हुए रूप में साहित्यिकता मिलती है। प्रकृति, प्रेम और वीर-कृत्यों के आधार पर कथानकों को विविध भावों से सुसज्जित किया गया। उनमें नाटकीय प्रसङ्गों, संवादों एवं कथोपकथनों, चरित्र-चित्रण काव्यत्व, कथा-चमत्कार आदि के कारण साहित्यिक सौन्दर्य और प्रभावात्मकता पाई जाती है। इनके विपरीत मुक्तकों के रूप में प्राकृतिक वस्तुओं, उक्तियों, सूक्तियों, अन्योक्तियों अथवा जीवन मे चारों ओर पाई जाने वाली अनेक वस्तुओं से सम्बन्धित विविध अलङ्कारों की व्यञ्जना सहित रीति-शैली पर कवित्त, सवैया, चौपदे, दोहा, आर्या आदि के द्वारा कोई चित्र विशेष या भाव प्रस्फुटित हुआ है। नाथूराम शंकर शर्मा, 'रत्नाकर', 'हरिऔध', गोपालशरण सिंह, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही 'त्रिशूल', भगवानदीन, रामचरित उपाध्याय तथा अनेक कवियों ने मुक्तकों की रचना की। प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ तक मुक्तकों की काफ़ी संख्या में रचना हुई। उसके बाद प्रबन्धकाव्यों की प्रधानता हुई। आलोच्य-काल के काव्य-रूपों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण रूप गीति-काव्य का था। हिन्दी साहित्य के लिये यह कोई नवीन रूप नहीं था, किन्तु व्यक्तिगत और आत्मगत भावनाओ से समन्वित रूप द्विवेदी-युग के उत्तरांश की निजी विशेपता है। सङ्गीत, नाद, लय, ध्वनि, चित्रात्मकता, सर्वचेतनवाद, भावनाओं का मानवीकरण, वेदना, विरह, सुख-दुःख, हर्ष-शोक, कल्पना का स्पर्श अनुभूति की विदग्धता आदि से समन्वित गीतिकाव्य की रचना ने युद्धोत्तरकालीन काव्य-साहित्य को विशेष रूप दिया गीतों की जो सत्ता पहले प्रबन्ध-काव्यो मे निहित थी वह

प्रथम महायुद्ध के बाद स्वतन्त्र रूप से प्रवाहित होने लगी नाटय-गीतो चम्पू शोक-गीतो (Elegy) ओडस (Odes आदि गीति काव्य के विविध रूपो द्वारा आलोच्य काल की भाव निधि प्रस्फुटित हुई। 'प्रसाद', सुमित्रानन्दन पन्त, 'निराला', माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, तथा अन्य कवियों ने या तो वस्तुओं और व्यापारों का हृदय की कोमल भावनाओं के रंग में रँग कर, अथवा अपने हृदय पर पड़ी प्रतिक्रिया का, अथवा अपने ही अनुभवों और भावों की व्यञ्जना की। आलोच्य-काल की समाप्ति तक कविता के प्रायः सभी पार्श्वों में निखार आ जाता है।

हिन्दी का परम्परागत छन्द-विधान प्रधानतः दोहा, चौपाई, कवित्त और सवैया तक सीमित था। किन्तु आलोच्यकालीन जागरण के आलोक में उनके तथा मध्ययुगीन अन्य अनेक छन्दों के प्रति असन्तोष उत्पन्न हुआ। द्विवेदी-युग की पीठिका मे इस बात की ओर सङ्केत किया जा चुका है कि राष्ट्रीय नव निर्माण में अतीत गौरव भी प्रेरणा प्रदान कर रहा था। अतीतोन्मुखी भावना और कुछ मराठी के प्रभावान्तर्गत हिन्दी में संस्कृत वृत्तों की धूम मच गई। शार्दूलविक्रीडित, द्रुतविलम्बित, शिखरिणी, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, मालिनी, त्रोटक आदि वर्णिक छन्द थे। अन्त्यानुप्रास के बन्धन से मुक्ति पाने की स्वच्छन्दवादी वृत्ति ने हिन्दी मे प्राचीन छन्दों का फिर से प्रचार किया। हिन्दी के अपने छप्पय, रोला, हरिगीतिका, लावनी, वीर, कुण्डलियाँ, सार जैसे मात्रिक छन्दों का भी व्यापक रूप में प्रयोग हुआ। खड़ीबोली कविता मे भारतेन्दु-युग से उर्दू से बह्रों का चलन हो गया था। इस युग में 'हरिऔध', भगवानदीन आदि ने उस परम्परा को थोड़ा-बहुत सुरक्षित रखा। संस्कृत वृत्तों के लिये संस्कृत-गर्भित और बह्रो के लिये साधारण बोलचाल की भाषा का प्रयोग हुआ। बँगला और अँगरेज़ी के साथ सम्पर्क स्थापित होने से बँगला 'त्रिपदी' और 'पयार' और अंगरेज़ी के 'सानेट' भी हिन्दी में प्रचलित हुए। किन्तु वे अधिक लोकप्रिय न हो सके। प्रबन्ध-काव्यों और गीतियों के लिए गज़ल तथा लावनी और मात्रिक तथा वर्णिक छन्दों की विशेषताओं के मिश्रण से नवीन छन्दों की रचना कर हिन्दी के कवियो ने अपनी कलात्मक शक्ति का परिचय दिया। वर्णिक छन्दों में तो संस्कृत-परम्परानुसार तुक पर अधिक जोर दिया ही नहीं गया, किन्तु 'प्रसाद' ने 'प्रेम-पथिक' में तथा उनके बाद अन्य कवियों ने अतुकान्त मात्रिक छन्दों का प्रयोग कर अपनी नव-सर्जनात्मक कला-प्रतिभा प्रकट की। कुछ कवियो ने अतुकान्त मुक्तक छन्दों का भी आविष्कार किया। स्वच्छन्दवादी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर पन्त जैसे कलाप्रिय छायावादी कवियों ने एक ही पद के विभिन्न चरणों की मात्राओं में अपनी इच्छानुसार विभिन्नता रखी। इसीलिए ऐसे छन्दों को 'स्वच्छन्द छन्द' कहा गया। यह छन्द कवि के भाव और रस के अनुसार परिवर्तित होता चलता था। प्रभाव की तीव्रता में वृद्धि करने की दृष्टि से चरणों को छोटा-बड़ा भी रखा जाने लगा। इस छन्द-रचना से कवियों की कलात्मकता की अभि-व्यक्ति हुई। परम्पराविहित छन्द-बन्धन के प्रति विद्रोह यहीं तक सीमित नहीं रहा। 'निराला' के 'मुक्त-छन्द' में उसने एक क़दम और आगे बढ़ाया। मात्राओं का बन्धन न होते हुए भी वह छन्द है, भाव-लय ही उसका बन्धन है। वास्तव में द्विवेदी युग के कवियों की, कवि-कर्त्तव्य और कवि-धर्म के सम्बन्ध में निश्चित धारणाएँ थीं। इन धारणाओं को अतीत-गौरव-प्रेम के साथ-साथ जागरण की शुभ वेला के फलस्वरूप अपने निजी अस्तित्वज्ञान ने रूप प्रदान किया। भाव, छन्द, रस अलङ्कार आदि सभी दृष्टियों से उन्होंने अपने कवि-धर्म का पालन किया अलङ्कार प्रियता

के स्थान पर भाव-सौन्दर्य की सृष्टि और सामाजिक भूमिका में रसों की व्यञ्जना इस युग की अपनी विशेषताएं हैं। परम्परा और उससे भी अधिक, परिवर्तन की भावना से प्रेरित उनकी कला का उद्देश्य मङ्गलमय था।

ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में पूर्वोल्लिखित कारणों के फलस्वरूप हिन्दी साहित्य के गद्य और पद्य क्षेत्रों में भाषा और भाव की दृष्टि से जो क्रान्तिकारी प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, वह द्विवेदी युग के अन्त तक अपनी सफल चरम कोटि तक पहुँच जाती है। सवा-सौ वर्षों में खड़ीबोली, साहित्य के कोने-कोने में छा गई। तुकबन्दी और स्थूल भावों से लेकर सूक्ष्म भावाभिव्यञ्जना की क्षमता ग्रहण कर वह हिन्दी भाषा-भाषियों के भौतिक और मानसिक-जगत् में अठारहवीं शताब्दी के तुहिनाच्छादित जीवनान्धकार के बाद प्रत्यूष-वेला लेकर आई। भाँति-भाँति के पुष्पों से सुसज्जित हो साहित्य का कलेवर ही बदल गया। मुद्रण-कला के प्रचार के साथ-साथ गद्य-साहित्य की प्रचुर मात्रा में सृष्टि हुई। दर्शन, विज्ञान, इतिहास, राजनीति, तर्क, शिक्षा आदि के लिये हिन्दी के मनीषियों ने गद्य का आश्रय लिया। प्राचीन ग्रन्थों के रूपान्तरों के साथ-साथ अनेकानेक उपयोगी विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए। शब्द-भाण्डार में वृद्धि हुई और भाषा परिमार्जन के अतिरिक्त, नवीन शैलियों का आविर्भाव हुआ। जीवन की नवीन परिस्थितियों के अनुरूप उत्पन्न नवीन-भावों और विचारों ने साहित्य में प्रवेश किया और जीवन का पुनस्संस्कार होने लगा, वैज्ञानिक युग ने भाषा-शैली में नाविन्य को जन्म दिया और विभिन्न विषयों की शास्त्रीय प्रतिपादन-प्रणाली प्रतिष्ठित की। जिस प्रकार प्रेमचन्द और 'प्रसाद' ने अपनी विशिष्ट गद्य-शैलियों द्वारा अन्य कलाकारों का मार्ग-प्रदर्शन किया, उसी प्रकार अनेक लेखकों ने उपयोगी और वैज्ञानिक रचनाएँ प्रस्तुत कर भाषा में विज्ञान के विभिन्न अङ्ग व्यक्त करने की क्षमता पैदा की।

गद्य की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी का कम महत्व नहीं है। किन्तु, 'रत्नाकर' जैसे उच्च-कोटि के ब्रजभाषा-कवि के होते हुए भी, खड़ीबोली कविता ने निश्चित रूप से आलोच्य-काल मे अङ्कुरित हो उत्कर्ष प्राप्त किया। भारतेन्दु-काल में तो उसका केवल बीजारोपण मात्र हुआ था। द्विवेदी-काल में वह सींची गई, अङ्कुरित हुई और इसी काल में वह एक विशाल अश्वत्थ वृक्ष के रूप में फैल गई। उसने पुराना आवरण उतार कर नवीन आवरण धारण किया। उसके बाह्य और आन्तरिक, दोनों रूपों का संस्कार हुआ। कविता ने अपनी दयनीय अवस्था का परित्याग कर नए स्वप्न देखे। इस काल में गद्य और पद्य की भाषा एक हो गई। यह एक महान् कार्य था जो उन्नीसवीं शताब्दी में सम्पन्न न हो सका था। राष्ट्रभाषा हिन्दी को इससे जो अतीव लाभ हुआ, वह स्पष्ट है। सरल-सुबोध, व्याकरण-सम्मत, रसानुरूप, भावानुरूप और अर्थ-चमत्कारपूर्ण खड़ीबोली ने चीटीं से लेकर उपनिषदों के दर्शन तक का वर्णन किया। निस्सन्देह खड़ीबोली की परम्परा अमीर खुसरो के समय से चली आ रही थी, किन्तु साहित्य के सिंहासन पर ब्रजभाषा विराजमान रही। मँजते-मँजते वह लोक-सामान्य भूमि से भी अलग हट चली थी। भारतेन्दु कालीन नव-चेतना के जन्म के समय साहित्य को फिर से जीवन के निकट लाने की जो चेष्टा की गई, वह द्विवेदी-युग में खड़ीबोली द्वारा सफलीभूत हुई। इतना ही नहीं उसने साहित्य को प्रादेशिक परिधि से निकाल कर राष्ट्रीय धरातल पर प्रतिष्ठित किया। श्रीधर पाठक कृत 'एकान्तवासी-योगी' १८८६ ई० और   खत्री के आन्दोलन ने खड़ीबोली के मार्ग की विघ्न

बाधाएँ साफ़ की। महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा उनके सहयोगियो ने वह मार्ग प्रशस्त किया और खड़ीबोली-कविता को वास्तविक आभा प्राप्त हुई। ब्रजभाषा के छन्दों और शब्दावली का प्रभाव तिरोहित होने लगा। खड़ीबोली ने 'चाँद वो सूरज गगन में घूमते हैं रात-दिन'—से लेकर 'रूपोद्यान प्रफुल्लप्राय कलिका राकेन्दु बिम्बानना' (हरिऔध) तक विविध रूप धारण किये। मौलिक और अनूदित दोनों प्रकार के काव्य ग्रन्थों में उसने अपनी शक्ति का परिचय दिया यद्यपि ब्रजभाषा की शताब्दियों की ललित और मधुर शब्दावली के सामने खड़ीबोली की खड-खडाहट, भारतेन्दु हरिश्चन्द और प्रतापनारायण मिश्र की भाँति, अनेक कला-मर्मियों को अरुचिकर प्रतीत हुई, किन्तु मैथिलीशरण गुप्त, 'हरिऔध', 'प्रसाद', पन्त और 'निराला' जैसे यशस्वी कवियों ने उसमें लालित्य और माधुर्य का इसी युग में विकास उत्पन्न किया। साथ ही भाषा का तत्सम रूप अधिक प्रमुख हुआ, यद्यपि यह प्रवृत्ति बहुत अच्छी नहीं थी, और भाषा के सरल-सामान्य रूप का भी नितान्त अभाव नहीं है। दोनों प्रवृत्तियों को ग्रहण करते हुए खड़ीबोली ने अपना भाषा-शिल्प प्रकट किया। ब्रजभाषा और स्थानीय शब्दों और रूपों से भी खड़ीबोली बिल्कुल मुक्त न हो पाई, वरन् संस्कृत वृत्तों के कारण इस प्रकार के प्रयोग प्रायः अनिवार्य हो जाते थे। इन सब बातों के रहते हुए कवियों ने भाषा के लालित्य, माधुर्य, प्रसादात्मकता आदि गुणों की ओर सदैव ध्यान रखा। यद्यपि काव्य-भाषा में मुहावरों का कम प्रयोग हुआ, तो भी 'हरिऔध' ने इस दृष्टि से सुन्दर प्रयोग किये। खड़ीबोली कविता ने संस्कृत, उर्दू और अंगरेज़ी से रूपान्तरित शब्द ग्रहण करने में सङ्कोच से काम न लिया। उसमें कोमलता के स्थान पर जो गद्यानुकूलता थी, वह भी प्रथम महायुद्ध के बाद छायावादी कवियों द्वारा दूर हो गई और अनेक कोमल संस्कृत शब्दों और ध्वनि व्यञ्जक शब्दों द्वारा वह विभूषित हुई। अनेक नवीन ध्वन्यर्थ-व्यञ्जक शब्दों, विशेषणों और भाववाचक शब्दों से खड़ीबोली का भाण्डार भरा गया। साथ ही उसमें ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता और चित्रात्मकता की अद्भुत शक्ति आ गई। भाषा-परिपाटी और व्याकरण की दृष्टि से पन्त जैसे कवि ने अनेक स्वेच्छाचारी प्रयोग किये। वास्तव मे द्विवेदी-युग के लगभग पहले आधे भाग में जिस प्रकार रीतिकालीन और भारतेन्दु युगीन परम्पराओं के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में नवीनता का आलोक फैला, उसी प्रकार जीवन के विविध परिस्थितियों से प्रभावित खड़ीबोली कविता के स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रयाण में भाषा-शैली, छन्द विधान, शब्द-चयन आदि की दृष्टि से अद्भुत क्रान्ति उत्पन्न कर दी। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के उस युग मे सब प्रकार के पुराने बन्धनों के प्रति विद्रोह किया गया और पाश्चात्य प्रभाव स्वीकार करने मे कवियों ने अपनी-अपनी रुचि प्रकट की। मानवीकरण, ध्वनि और व्यञ्जना की दृष्टि से भाषा मे अनेक प्रतीकों और सङ्केतों की सृष्टि हुई। द्विवेदी-युग में ही मुकुटधर पाण्डेय, मैथिलीशरण गुप्त, बदरीनाथ भट्ट आदि ने जिस नये युग का आभास दिया था, उसी नये युगान्तर की निश्चित सूचना 'प्रसाद', पन्त और 'निराला' ने प्रेम, प्रकृति और दर्शन के माध्यम द्वारा दी। आगे चल कर तीनों खड़ीबोली कविता के स्वर्ण-युग के विधाता बने।

औपन्यासिक यथार्थवाद : उपलब्धियाँ और सम्भावनाएँ

डॉक्टर सुरेश सिनहा

यथार्थवाद का वास्तविक सम्बन्ध फ्रेञ्च यथार्थवादी स्कूल से है, जिसका प्रथम प्रयोग १८३५ में आदर्शवादी विचारधारा में विश्वास रखने वालों के विरुद्ध सौन्दर्यवादी विवरण के रूप में हुआ था। बाद में १८५६ ई० में एक पत्रिका 'रियलिज्म' की स्थापना के पश्चात् इसका प्रयोग साहित्य में भी होने लगा। दुर्भाग्य से यथार्थवाद का विशेष महत्त्व फ्लावेयर और उनके सहयोगियों द्वारा साहित्य मे अपनायी जाने वाली अनैतिक मान्यताओं एवं 'निम्न कोटि' के विषयो के विरुद्ध उठे कटु विवाद के रूप में बहुत कुछ अंशों में न्यून हो गया। इसके परिणामस्वरूप यथार्थ-वाद का प्रयोग आदर्शवाद के भिन्न रूप के ही अर्थ में ग्रहण किया जाने लगा। यह वास्तव मे फ्रेञ्च यथार्थवादियों के विरोधियों द्वारा ग्रहण किये गये दृष्टिकोण से प्रतिध्वनित रूप था। इसने उपन्यास-लेखन-शिला के ऊपर अपना स्थायी प्रभाव डाला और जितनी भी साहित्यिक विधाएँ उस समय प्रचलित थीं, उनमें उपन्यास साहित्य ही इससे सर्वाधिक प्रभावित हुआ और उपन्यासो ने यथार्थवाद को ही अपना मुख्य आधार-स्तम्भ समझना प्रारम्भ किया। तभी वह जन-जीवन के अधिक निकट आया, साथ ही उपन्यासों की लोकप्रियता में भी आशातीत वृद्धि हुई, क्योंकि इस स्थिति में उपन्यासों में सत्यता एवं स्वाभाविकता का आभास अधिक मात्रा में प्रतिध्वनित होने लगा। अभी तक कल्पनाशीलता और अस्वाभाविकता के जिस वातावरण ने उपन्यासो को अपने वातावरण में जकड़ रखा था, यथार्थवाद ने समय से उसका मूलोच्छेदन करके उपन्यासों को उचित रूप से दिशोन्मुख किया।

यथार्थवाद वास्तव में वस्तुओं के यथातथ्य चित्रण पर नहीं अपितु सत्यानुभूति से प्रेरित चित्रण पर बल देता है। यदि कोई उपन्यास मात्र इसलिये यथार्थवादी है कि उसमें जीवन का चित्रण तटस्थ दृष्टि से किया गया है, तो यह केवल अन्वेषित रोमांस ही होगा। यथार्थवाद बहुविधि मानव अनुभवों के पूर्ण चित्रण का प्रयत्न करता है न कि किसी विशेष साहित्यिक दृष्टिकोण का। यथार्थवाद, उस जीवन-प्रकार में नहीं अवस्थित रहता, जो उपन्यासों में प्रस्तुत किया जाता है, वरन् उस जीवन-प्रकार के प्रस्तुतीकरण की शैली में विद्यमान रहता है और विकसित होता है। यह वास्तव मे स्वय फ्रञ्च की स्थिति के अत्यधिक निकट है जिनका मत था कि

यदि उनके उपन्यास बहुप्रचलित एवं ख्यातिप्राप्त नीति शास्त्र सम्बन्धी साहित्यिक एवं सामाजिक मान्यताओं के क्रोड में प्रस्तुत मानवता के अतिरञ्जित चित्रों से भिन्न हैं तो मात्र इसीलिये कि उनके उपन्यास जीवन के आवेशहीन और वैज्ञानिक परीक्षण से प्रभावित सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति के प्रभाव से उत्पन्न सृजन-प्रक्रिया के परिणाम हैं, जैसा पहले कभी नहीं हुआ था। यथार्थवाद इस सत्य का समर्थन करता है कि साहित्य सृजन न तो प्राणहीन स्तर पर जीवित रह सकता है, जैसा कि प्रकृतवादियों ने दावा किया था और न किसी व्यक्तिवादी सिद्धान्त पर जो स्वयं अपने स्वत्व का शून्य में विलय कर देता है। वास्तविक रूप से महान् यथार्थवाद इस प्रकार मानव और समाज का उनके पूर्ण रूप में चित्रण करता है और उनके एक या दो विशेषताओं मात्र के चित्रण के प्रति अपनी अनास्था प्रकट करता है, क्योंकि इस अपूर्णता से उसे सन्तोष नहीं है।

दर्शनशास्त्र में 'यथार्थवाद' से अभिप्राय एक यथार्थवादी दृष्टिकोण से है, जो मध्ययुगीन यथार्थवादियों के दृष्टिकोण से निकट साम्य रखता है कि सत्य यथार्थ विश्वव्यापी भावनाएँ, वर्ग, समाज और उनके निचोड़ तत्व हैं, न कि वे भावनाएँ जो इन्द्रियों के मनन-मन्थन से स्पष्ट होती हैं। उपन्यासों के सन्दर्भ में यह विचार प्रायः व्यर्थ एवं सारहीन प्रतीत होगा, क्योंकि उपन्यासों में अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा अधिक सत्य अन्तर्निहित रहता है, पर इससे एक तथ्य निश्चित रूप से स्पष्ट होता है। यह उपन्यासों की एक प्रमुख विशेषता की ओर इङ्गित करता है, जो आज यथार्थवाद के परिवर्तित दार्शनिक अर्थ से मिलता-जुलता है। यह युग ऐसा युग है, जिसमें साधारण बौद्धिकता निर्णयात्मक रूप से मध्यकालीन उपलब्धियों से विश्वव्यापकता की भावना की अस्वीकृति—या कम से कम अस्वीकृत करने की प्रयत्नशीलता के कारण अलग कर दी गई थी।

अतः आधुनिक यथार्थवाद वास्तव में इस स्थिति से प्रारम्भ होता है कि व्यक्ति स्वयं अपने भाव-अनुभावों से सत्य का आविष्कार नहीं कर सकता, बल्कि बाह्य सृष्टि सत्य है और व्यक्ति के व्यक्तिगत भाव-अनुभाव उसे उसका सत्य विवरण देते रहते हैं। यद्यपि इस धारणा से साहित्यिक यथार्थवाद पर कुछ विशेष प्रकाश नहीं पड़ता और न साहित्य में समझे जाने वाले यथार्थवाद की रूपरेखा या उसका अभिशाप ही स्पष्ट हो पाता है। क्योंकि प्रत्येक युग में लगभग सभी ने इस रूप में या उस रूप में बाह्य सृष्टि के सम्बन्ध में यही निष्कर्ष अपने व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यम से निकाला है और साहित्य कुछ सीमाओं तक प्रायः इन्हीं भावनाओं एवं निष्कर्षों का स्पष्टीकरण करता रहा है। ऐसी धारणाओं और इनसे सम्बन्धित तीव्र विवादों में प्रायः इतनी स्वभावगत समानता है कि साहित्य पर उनका कोई विशेष प्रभाव स्पष्ट न हो सका। दार्शनिक यथार्थवाद की दृष्टि सामान्यतः आलोचनात्मक है और वह परम्परा के प्रति अपना विद्रोह प्रकट करता है। इसकी पद्धति उन व्यक्तिगत अन्वेषकों के प्राप्त अनुभवों के विवरणों का अध्ययन करना है, जो कम से कम प्राचीन अनुमानों से मुक्त है और परम्परागत ढङ्ग में अपनी अनास्था प्रकट करते हैं। यथार्थवाद, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, परम्पराओं एवं पूर्व अर्जित अनुमानों एवं विश्वासों को ज्यों का त्यों स्वीकार करने के प्रति अपनी अनास्था प्रकट करता

: उपन्यासों के साहित्यिक रूप के उदय होने के पूर्व जितनी भी साहित्यिक विधाएं थीं वे सत्य की ही जाँच करती थीं और उनका ही विवरण प्रस्तुत करती थीं क्लासिकल

और नवीन क्रान्ति के युग की अधिकांश रचनाओं के प्लॉट, उदाहरण स्वरूप, प्राचीन इतिहासों एवं उनकी उपलब्धियों पर ही आधारित थे और लेखकों की प्रस्तुतीकरण सम्बन्धी शैली की प्रतिभा की जाँच सामान्य रूप से उन्हीं साहित्यिक मानदण्डों के माध्यम से होती थी, जो परम्परागत ढङ्ग से चले आ रहे थे और जो उन्हीं रूपों में बिना किसी परिवर्तन के परिवर्तित परिस्थितियों में भी ज्यों की त्यों स्वीकृत कर लिये गये थे। यह पूर्णतया हास्यास्पद था, साथ ही साहित्य की प्रगतिशीलता एवं उसकी परिवर्तनशीलता के प्रति अनास्था प्रकट कर परम्परागतवाद की सबसे बड़ी विजय थी। इस साहित्यिक परम्परागतवाद को सबसे जबर्दस्त चुनौती उपन्यासों ने दी—जिनका सर्वप्रमुख कार्य व्यक्तिगत अनुभवों के सत्य का प्रतिपादन था। ये व्यक्तिगत अनुभव बराबर ही असाधारण और इसीलिये सर्वथा नवीनता धारण किये रहते थे। उपन्यास, इस प्रकार उस संस्कृति का एक तर्कसङ्गत साहित्यिक मानदण्ड है, जिसने पिछली कुछ शताब्दियों में मौलिकता पर आधारित असाधारण मूल्यान्वेषण किया है।

पर यहाँ भ्रम की स्थिति नहीं उत्पन्न होनी चाहिये। दर्शन वास्तव में भिन्न स्थिति रखता है और साहित्य की स्थिति उससे भिन्न है। इन दोनों में जो भी साम्य है, उससे यह कदापि अनुमान न लगाना चाहिये कि दर्शन की यथार्थवादी परम्परा से ही उपन्यासों की यथार्थवादी परम्परा का जन्म हुआ। यदि उपन्यासों की यथार्थवादी परम्परा पर दर्शन की यथार्थवादी परम्परा का कोई प्रभाव है भी तो वह दार्शनिक लॉक के कारण, जिसके विचार अठारहवीं शताब्दी में प्रत्येक स्थान पर वैचारिक वातावरण के गहनतम रूप में छाये हुए थे। किन्तु यदि कोई आकस्मिक सम्बन्ध परिलक्षित होता भी है और वह महत्व का है, तो वह प्रत्यक्ष कम है, अप्रत्यक्ष अधिक। दार्शनिक और साहित्यिक नवीनताओं, दोनों में ही महान् परिवर्तनशीलता के समान स्तर पर आँका जाना चाहिये। यहाँ हम एक सीमित दृष्टिकोण से सम्बन्धित हैं कि उपन्यासों की यथार्थवादी परम्परा एवं दर्शन की यथार्थवादी परम्परा की परस्पर समानता उपन्यासों की वर्णनात्मक स्थिति स्पष्ट करने में कहाँ तक सहायक है। यह जैसा कि कहा गया है, साहित्यिक शैलियों का निष्कर्ष है, जहाँ उपन्यासों द्वारा मानव जीवन के अङ्कन की प्रक्रिया तथा सत्य को स्पष्ट करने एवं उसके विवरण देने की प्रयत्नशीलता की प्रक्रिया में उस पथ का अनुगमन करती है, जो दार्शनिक यथार्थवाद से प्रभावित हैं। ये प्रक्रियाएँ किसी भी रूप में मात्र दर्शन तक ही सीमित नहीं हैं। वास्तव में किसी भी घटना के अन्वेषण सम्बन्धी प्रक्रिया में जो यथार्थ के सन्दर्भ में होती है, ये अपनायी जाती हैं। यथार्थ की अनुकृति अङ्कित करने के औपन्यासिक ढङ्ग को अदालतों में न्याय करने के ढङ्ग के समान सिद्ध किया जा सकता है। उपन्यास पाठकों और अदालतों में अनेक अंशों में समानता होती है। दोनों ही अपने सामने उपस्थित मामले में प्रत्येक तथ्यों से पूर्णतया अवगत होना और सत्य से परिचित होना चाहते हैं। किसी प्रकार का रहस्य या दुराव-छिपाव उन्हें रुचिकर एवं न्यायपूर्ण नहीं प्रतीत होता और वे इसे श्रेयस्कर नहीं समझते। वे जानना चाहते हैं कि अमुक घटना कब, कहाँ और किस समय घटित हुई। दोनों ही सम्बन्धित पक्षों की पहचान से पूर्णतया परिचित होना चाहते हैं और किसी भी ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध में, जो परिचित और सामान्य नहीं है, कोई साक्ष्य स्वीकृत नहीं करेंगे। वे ऐसे गवाहों की भी आशा करेंगे जो अपने शब्दों में सारी कहानी कहे और मामले को स्पष्ट

करे वास्तव मे न्यायाधीश का जीवन के प्रति चतुर्मुखी दृष्टिकोण होता है और आलोचक टी० एच० ग्रीन के शब्दों में उपन्यासों का भी यही दृष्टिकोण होता है।

उपन्यासों की उस वर्णनात्मक प्रणाली को, जिसके माध्यम से यह चतुर्मुखी दृष्टिकोण स्पष्ट होता है, रूपगत यथार्थवाद की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। रूपगत इस अर्थ मे, क्योंकि 'यथार्थवाद' का सम्बन्ध किसी विशेष साहित्यिक सिद्धान्त या उद्देश्य से नहीं वरन् कुछ वर्णनात्मक प्रणालियों से है, जो एक साथ उपन्यासों में प्राप्त होती हैं तथा दूसरी साहित्यिक विधाओं में दुर्लभ होती हैं। चूँकि उपन्यासों में मानवीय अनुभवों का पूर्ण एवं अधिकृत विवरण रहता है, इसीलिये उपन्यासकार के ऊपर यह दायित्व रहता है कि वह ऐसी घटनाओं, ऐसे पात्रों, ऐसे स्थानों एवं ऐसे तथ्यों का विवरण उपन्यासों में उपस्थित करे जिससे पाठकों को इस बात का विश्वास हो जाये कि वह उपन्यास नहीं; मानवीय अनुभवों का ही पूर्ण एवं अधिकृत विवरण प्राप्त कर रहा है। यह विवरण उपन्यास के अतिरिक्त किसी भी अन्य साहित्यिक विधा में इतनी सूक्ष्मता एवं कलात्मकता से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इसीलिये रूपगत यथार्थवाद उपन्यासो से ही घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित है।

वास्तव में रूपगत यथार्थवाद साक्ष्य नियमों की ही भाँति है। यहाँ इसका यह अर्थ कदापि न लगाना चाहिये कि उपन्यासों में प्रस्तुत मानवीय अनुभवों के विवरण सत्य एवं यथार्थ होते हैं तथा अन्य साहित्यिक विधाओं में प्रस्तुत ऐसे विवरण अयथार्थ होते हैं। ऐसा वस्तुत कोई कारण नहीं है कि उपन्यासों में प्रस्तुत मानवीय अनुभवो के विवरण अन्य साहित्यिक विधाओ मे भिन्न प्रणालियों के माध्यम से प्रस्तुत ऐसे ही विवरणों की अपेक्षा क्यों अधिक सत्य होने चाहिये या होते हैं। उपन्यासों द्वारा प्रस्तुत विश्वसनीयता का पूर्ण वातावरण यहीं भ्रम की स्थिति उत्पन्न करता है और कुछ यथार्थवादियों एवं प्रकृतवादियों का यह भ्रम कि किसी सत्य तथ्य का ज्यो का त्यों चित्रण किसी यथार्थवादी सत्य एवं चिरस्थायी रचना-प्रक्रिया की सृजनात्मकता का कारण बनती है, सर्वथा विडम्बना मात्र है। ऐसा कभी नहीं होता और उनका यह भ्रम ही वास्तव मे यथार्थवाद और उसके समस्त कार्यो के प्रति उत्पन्न होने वाले बहु-विस्तारित अरुचि के लिये उत्तरदायी है। यह अरुचि हमें एक भिन्न मार्ग की ओर दिशोन्मुख कर अन्य अनेक भ्रम उत्पन्न कर सकती है। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि यथार्थवादी स्थूल में कुछ कमियाँ है। जो प्रायः सभी उपन्यासों में प्राप्त होती हैं और जिनका निराकरण करने में प्रायः सभी उपन्यासकार असमर्थ रहे हैं। यदि इन कमियों को हम भूल जायेंगे, तो यथार्थवाद पर ऐसा गहन अन्धकार आच्छादित हो जायेगा, भविष्य में जिसका नये सिरे से मूलोच्छेदन करना प्रायः कठिन हो जायेगा। इसके साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि यद्यपि रूपगत यथार्थवाद मात्र एक परम्परा ही है, पर अन्य साहित्यिक परम्पराओं की भाँति इसके भी अपने अनेक उपयोगी लाभ है, विशेषताएँ हैं। भिन्न-भिन्न साहित्यिक विधाओं द्वारा यथार्थवाद के चित्रण करने की सीमाओं मे अनेक उल्लेखनीय अन्तर है और उपन्यासों का रूपगत यथार्थवाद अन्य साहित्यिक विधाओ की अपेक्षा मानवीय अनुभवों की अनुकृति शीघ्र ही अपने विशेष वातावरण में कर लेता है। फलस्वरूप उपन्यास अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा पाठकों पर अधिक स्थायी प्रभाव डालने मे सक्षम सिद्ध होता है और यही कारण है कि हिन्दी साहित्य में पिछले लगभग ८५ वर्षों में पाठको

ने अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा उपन्यासों को अधिक अपनाया है। क्योंकि यह उन्हें अधिक मात्रा में आत्म सन्तुष्टि देता है और वे जीवन और कला के मध्य निकट तादात्म्य स्थापित कर सकने में सफल हो पाते हैं।

यथार्थवाद त्रुटिपूर्ण विषयों एवं उद्देश्यों के मध्य कोई समझौता करता है, ऐसा समझना भ्रामक है। यथार्थवाद एक ऐसे मार्ग के अनुगमन पर बल देता है जो विकसनशील सृजन-प्रक्रिया से सम्बन्धित है। इस विकसनशील सृजन-प्रक्रिया के मार्ग में जो भी शक्तियाँ अवरोध उपस्थित करती हैं, यथार्थवाद उन्हें तिरस्कृत कर उनके प्रति अविश्वास का भाव प्रकट करता है। इस प्रकार यथार्थवाद ऐसे सत्य को उद्घोषित एवं समर्थित करता है; जिसके अनुसार साहित्य-सृजन न तो प्राणहीन औसत की प्रतिकृति मात्र बन सकता है, जैसा कि प्रकृतवादियों ने अपनी धारणा मे प्रतिपादित किया था और न हीं किसी ऐसे व्यक्तिवादी सिद्धान्त पर अवस्थित है, जिसके अनुगमन से किसी भी परिणाम की आशा नहीं वरन् शून्य की निरापद स्थिति प्राप्त होती है। अतः वास्तविक यथार्थवाद मानव और समाज को उनके पूर्ण रूप में ही चित्रित करता है। उसका खण्डित एवं असत्य रूप उसे सह्य नहीं है और वह उन्हे अस्वीकार करता है। वह केवल एक पक्ष या दो पक्षो का चित्रण मात्र करके ही सन्तोष नहीं कर लेता। यथार्थवाद यद्यपि कल्पना का पूर्ण तिरस्कार तो नहीं करता; पर कल्पना से उसका सम्बन्ध वहीं तक रहता है, जहाँ तक उसकी अनिवार्यता होती है। पहले यही समझ लें कि वस्तुतः कल्पना है क्या? कल्पना हमारी उस मानसिक प्रक्रिया की द्योतक है, जो अन्तर्मन में अनेक चित्र बनाती है और उनका स्वरूप हमारी सवेदनाजन्य परिस्थितियों पर निर्मित करती है। कल्पना और तर्कशक्ति में कोई साम्य नही वरन् एक अन्तर्विरोध-सा बना रहता है। कला सम्बन्धी कोई सृजनात्मक प्रक्रिया तभी सम्भव होती है, जब कल्पना और यथार्थ समन्वित रूप से नवीन निर्माण कार्य में संलग्न होते हैं। चेखव ने एक स्थान पर लिखा है कि यथार्थवाद वाह्य-जगत् का ही अनुगमन नहीं करता वरन् वह महती उद्देश्यों से प्रेरित भी होता है। अतः कहा जा सकता है कि यथार्थ तत्वो का ज्यों का त्यों चित्रण करना न तो वाञ्छनीय ही है, न सम्भव ही है। इसीलिये साहित्य-सृजन में यथार्थ के रङ्ग को और भी गाढ़ा बनाने और प्रभावशाली बनाने में आवश्यकतानुसार कल्पना का आश्रय ग्रहण किया जाता है। फलस्वरूप वे तथ्य, जो यथार्थ हैं और प्रस्तुत करने के लिये वाञ्छनीय हैं, उन्हें एक विशिष्ट दृष्टिकोण से एक विशेष परिवेश में उपस्थित किया जा सके। यथार्थवाद इसीलिये परम्परागतवाद का पूर्ण तिरस्कार कर सामयिक परिस्थितियों पर अधिक बल देता है और कल्पना की अनिवार्य आवश्यकता के माध्यम से उसे सत्य ढङ्ग से प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार यथार्थवाद से अभिप्राय उस चतुर्मुखी दृष्टिकोण से है, जो स्वतन्त्र जीवन, चरित्रों एवं मानवीय सम्बन्धों से घनिष्ठ रूप में सम्वन्धित है। यह किसी भी रूप में भावुक एव बौद्धिक शक्तियों का तिरस्कार नहीं करता, जो अनिवार्यतः आधुनिक युग के साथ विकसनशील अवस्था में प्राप्त होता है। यथार्थवाद का विरोध-मात्र उन अवरोधक शक्तियों से है, जो मनुष्य की पूर्णता तथा व्यक्ति एवं परिस्थितियों की वस्तुगत विचित्रता को क्षणिक मुद्रा के माध्यम से खण्डित एवं नष्ट करती है। इन अवरोधक शक्तियों के विरुद्ध सङ्घर्ष ने उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्य में एक निर्णयात्मक महत्व प्राप्त कर लिया था वेदना मे निवृत्ति नही

स्वीकारता मानव जीवन की कुण्ठाए वजनाए एव असन्तोषप्रद स्थितियो की भयङ्करता से यथार्थवाद कभी मुख नहा मोडता वरन उनका साहस के साथ चित्रण करता है वह मानव का अखण्डता पर तो विश्वास करता है, पर आदशवादियो की भाति उसे देवता नही बना देता। मनुष्य कुरूपताओं एवं विशेषताओं का परस्पर समन्वित रूप ही है। यथार्थवाद इसी समन्वय के दोनों पक्षों पर समान बल देता है और सत्य स्थिति के चित्रण में हिचकता नहीं।

यथार्थवाद की मध्यवित्तीय सौन्दर्यवादी समस्या पूर्ण मानव-व्यक्तित्व के उपयक्त प्रस्तुतीकरण से सम्बन्धित है। किन्तु जैसा कि कला के प्रत्येक अधिकृत दर्शन में होता है, वैसे ही यथार्थवाद में भी सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण का क्रमागत अनुसरण शुद्ध सौन्दर्यवादी स्तर तक मार्ग प्रशस्त करता है। जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, यथार्थवाद दर्शन से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित है। यथार्थवाद रूप (Form) को अस्वीकृत करता है और मानव की सौन्दर्य प्रभावित प्रवृत्ति (Aesthetic Nature) को चुनौती देता है। यथार्थवाद कला को समसामयिकता प्रदान करने और चिरस्थायी बनाने में महत्वपूर्ण योगदान देता है। वह कला के क्षेत्र मे आदर्शवादी प्रवृत्तियों को अस्वीकृत कर सृजन-प्रक्रिया के लिये नवीन और सामयिक सामग्री के प्रस्तुतीकरण एवं सम्पूर्ण मानवीय व्यक्तित्व के चित्रण में सहायक होता है।

प्रत्येक महान् एतिहासिक युग नवीन क्रान्तियों, भावनाओं एवं विचारों से उद्भूत होता है। युग की माँग प्राचीनता एवं रूढ़िवादिता का विरोध तथा नवीनता एवं प्रगतिशीलता का आह्वान करना होता है। युग में प्राचीन मानव तिरस्कृत होता है, नवीन मानव निर्मित होता है। एक ऐसी नवीन सामाजिक चेतना एवं रूप-विधान का उदय होता है, जो नव-निर्माण की भावना से ओत-प्रोत होती है और वह नये प्रेरणादायक मार्ग का अनुगमन कर अग्रसर होती है। ऐसी स्थिति में साहित्य का उत्तरदायित्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है। साहित्य का दायित्व भी वस्तुतः निर्माण का होता है, विध्वंस का नहीं। विध्वंसक-साहित्य, साहित्य की संज्ञा से किन्ही भी परिस्थितियों में अभिहित नहीं किया जा सकता, उसे चाहे कुछ और भले ही कह लिया जाये। सत्य, शिवम् और सुन्दरम् की भावना साहित्य का मूलमन्त्र होती है। अतः कठिन निर्माणाधीन और नवोन्मेष की भावना से प्रेरित युग में केवल मात्र महानता एवं सत्यता से प्रेरित यथार्थवाद ही साहित्य के इस दायित्व को पूर्ण कर सकता है, कोई अन्य साहित्यिक परम्परा नहीं।

यथार्थवाद समाज की प्रमुख एवं ज्वलन्त समस्याओं को ही अपने चित्रण के लिये चुनता है और समकालीन पीड़ाग्रस्त मानवीय घुटन, कुण्ठाओं एवं वर्जनाओं आदि के यथार्थ एव सत्यान्वेषण की साहसपूर्ण प्रवृत्ति के अनुगमन में ही उसकी लेखकीय स्थिति सुदृढ रहती है। यही समकालीन पीड़ाग्रस्त मानवीय घुटन और कुण्ठाएँ इसके प्रेम एवं घृणा की दिशाएँ एवं उद्देश्य निश्चित करती हैं और इन्हीं भावनाओं के माध्यम से वह यह भी निश्चित करती है कि वे अपने काव्यात्मक दृश्य-बिन्दु (Poetic vision) में इन समस्याओं को क्या और कैसे देखते एवं निर्धारित करते हैं। इसीलिये इस प्रक्रिया में उनके चेतनशील सृष्टिगत दृष्टिकोण के सन्दर्भ में ही उनकी सृष्टि से सम्बन्धित विचार-प्रक्रिया निर्मित होती है और उनके विचारों की वास्तविक गहनता महत्वपूर्णयुगीन समस्याओं से उनके गहन सम्बन्ध और लोगों की घुटन, आत्मपीडन एव विवादों से उनकी हार्दिक सहानभूति उनके चरित्रों के निर्माण एवं निर्वाह में ही

ढङ्ग से मुखरित हो सकती है। इसी आधारभूमि पर महान् यथार्थवाद और लोकप्रिय मानवतावाद का समन्वय स्थापित होता है। यह सत्य है कि प्रत्येक महान् यथार्थवादी लेखक युगीन समस्याओं, मानवीय उत्पीड़न एवं कुण्ठाओं तथा वर्जनाओं को अपने ढङ्ग से सोचता, समझता एव मनन करता है, फिर अपने ढङ्ग के आत्मचिन्तन से उनको उपन्यासों के माध्यम से प्रस्तुत कर अपने ही ढङ्ग से उसका समाधान भी प्रस्तुत करता है। वह किन्हीं नियन्त्रित शक्तियों से बाध्य नही होता और समस्याओं को ग्रहण करने, मनन, चिन्तन एवं प्रस्तुतीकरण के ढङ्ग तथा समाधान के सम्बन्ध में वह पूर्ण स्वतन्त्र रहता है। इस पर उसके कलात्मक व्यक्तित्व का अत्यधिक प्रभाव पडता है। किन्तु लेखकों में परिणामस्वरूप उत्पन्न होनेवाली इस भिन्नता के बावजूद भी समानता है। ये सभी लेखक अपने समकालीन सङ्कटों एवं समस्त मानवीय उत्पीड़न से मुँह नहीं मोडते वरन् जटिल समस्याओं की गहराई में पैठ कर यथार्थ के वास्तविक सत्यों का उद्‌घाटन करते है। इस समूचे युग में कोई भी लेखक तभी महानता का अधिकारी हो सकता है, जब वह दिन प्रति-दिन के जीवन की लहरो के प्रति सत्यता एवं ईमानदारी से सङ्घर्षरत हो। वह इसीलिये क्योंकि यथार्थवाद की दृष्टि तथ्यात्मक है। तथ्य विज्ञान पर आधारित होते हैं और इन्हीं तथ्यो का अन्वेषण करना यथार्थवाद की मुख्य प्रवृत्ति होती है।

प्रश्न उठता है कि सामाजिक अन्तरसम्बन्धों को कैसे प्रस्तुत किया जाये? सामाजिक अन्तरसम्बन्धों का ठोस प्रस्तुतीकरण तभी सम्भव है, जब उन्हें ऐसे उच्च स्तर तक उठाया जा सके, जिससे ठोसपन 'रूप' अर्थात् अङ्गों की एकता (Unity of Diversity) के रूप में अन्वेषित और प्राप्त किया जा सके, जैसा कि कार्ल मार्क्स का कहना है। आधुनिक यथार्थवादी, जिन्होंने बुर्जुआ आदर्शवादी दृष्टिकोण के पतन के फलस्वरूप सामाजिक अन्तरसम्बन्धों से सम्बद्ध अपनी गहन् ज्ञान-चेतना को खो दिया है और इसके साथ उनकी अमूर्तिकरण की शक्ति सामाजिक पूर्णता और उसके वास्तविक उद्देश्यों एवं निर्णयात्मक विश्वासों के चित्रण का असफल एवं विद्रूप प्रयत्न करती है।

यथार्थवाद की सबसे बड़ी शर्त एवं माँग है कि लेखक बिना किसी भय, सङ्कोच एवं पक्षपातपूर्ण दृष्टि के अपनी सृष्टि के सादृश्य से प्राप्त अनुभवों एवं अपने चारों ओर के परिवेश का ईमानदारी के साथ विवरण प्रस्तुत करे। महान् यथार्थवाद की इस विषयपरक शर्त की एक निश्चित परिभाषा की आवश्यकता है। क्योंकि यथार्थवादी लेखकों की यह विषयपरक चेतनता (Condour) ने स्वयं ही यथार्थवाद को पतन से बचाया, किन्तु कला और दर्शन के क्षेत्र में इस पतन द्वारा उत्पन्न परिणामों से नहीं बचा सकी। लेखक की विषयपरक ईमानदारी सत्य-यथार्थ का तभी निर्माण कर सकती है, यदि वह इस प्रकार के सामाजिक आन्दोलन की साहित्यिक अभिव्यक्ति हो तथा उसकी समस्याएं एक ओर तो लेखक को उसके प्रधान तथ्यों के निरीक्षण एव चित्रण के लिये दिशोन्मुख करे और दूसरी ओर अपनी सजगता एवं विश्वास को अधिक उपयोगी बनाने का साहस एवं शक्ति प्रदान करे। एक लेखक में किसी युग के सामाजिक विकास का रहस्योद्‌घाटन करने और चित्रित करने की समर्थता होनी चाहिये, चाहे उसके दृष्टिकोण मे प्रतिक्रियावादी तत्व कितने ही अंशों में क्यों न समाए हुए हों। इससे उसकी सजगता का वस्तुगत मूल्य न्यून नहीं होगा एसी मे भी लेखकों की उन्हें किसी सामाजिक

आन्दोलन का यथार्थताओं का सत्य चित्रण करने की समर्थता प्रदान करेगी बशर्ते इस सामाजिक आन्दोलन में वास्तविक समस्याएं निहित हों। वास्तव में महान लेखकों की सजगता का मूल्याङ्कन किसी ऐसे सामाजिक आन्दोलन के किसी प्रतिनिधि के वक्तव्यों से नहीं किया जाना चाहिये और न ऐसे महान् लेखकों को स्वयं के वक्तव्यों से ही। उनकी सजगता की सीमाएं ऐसे सामाजिक आन्दोलनों द्वारा प्रस्तुत समस्याओं की सीमाओं पर तथा मानवीय तत्वों के उद्घाटन की उल्लेखनीयता पर निर्भर करती हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि महान् यथार्थवादी लेखकों के सृष्टिगत विचार परिवेश में प्रतिक्रियावादी तत्वों के आ जाने के बावजूद भी सामाजिक यथार्थवाद के विशद, उचित एवं वस्तुगत ढङ्ग से चित्रण करने में उनके मार्ग में किसी प्रकार का अवरोध नहीं उपस्थित होगा। किन्तु यहाँ इस तथ्य को पुनः स्पष्ट कर देना उचित होगा कि यह किसी और सृष्टिगत दृष्टि-कोण से सम्बद्ध नहीं है। सामाजिक आन्दोलन से प्रेरित काल्पनिक चित्रण, जो ऐतिहासिक रूप से अनिवार्य है, लेखक को वस्तुगत सत्य के साथ सामाजिक यथार्थ का चित्रण करने से रोकता नहीं।

समकालीन सामाजिक उत्पीड़न, कुण्ठाएँ एवं वर्जनाएँ तथा समाज की ज्वलन्त समस्याएँ— लेखक को इन सबका प्रत्यक्षतः अनुभव करना चाहिये या जो कुछ भी वह चित्रित करता है, उनका उसे पर्यवेक्षण मात्र करना चाहिये—ये प्रश्न मात्र कला के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं हैं। इसका सम्बन्ध सामाजिक यथार्थ से लेखक के पूर्ण सम्बन्ध से भी है। पहले के लेखक स्वयं सामाजिक सङ्घर्षों में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने वाले व्यक्ति थे और उनका लेखकीय व्यक्तित्व या तो इसी सङ्घर्ष का एक भाग होता था, या अपने समय की गहन समस्याओं की प्रतिकृति या सैद्धान्तिक एवं साहित्यिक समाधान होता था।[1] यदि यथार्थ के सम्बन्ध में लेखक केवल पर्यवेक्षक का पद ग्रहण कर लेता है तो इसका अभिप्राय यह है कि वह बुर्जुआ समाज का आलोचनात्मक मूल्याङ्कन करता है और प्रायः उससे घृणा एवं निराशा से मुख मोड़ लेता है। इस प्रकार नवीन ढङ्ग का यथार्थवादी लेखक साहित्यिक अभिव्यक्ति के विशेषज्ञ के रूप में परिणत हो जाता है, जो वर्तमान सामाजिक जीवन के चित्रण को अपनी विशेषता बना लेता है।

इन तथ्यों से यह निष्कर्ष सरलता से प्रतिपादित किया जा सकता है कि यथार्थवाद के प्राचीन स्कूल की तुलना में आज का लेखक अधिक नियन्त्रित और सीमित जीवन सामग्री का उपयोग करता है। अगर नवीन यथार्थवाद जीवन की कुछ विशेष समस्याओं का चित्रण करना चाहता है, तो वह अपने मार्ग से थोड़ा हट कर उन्हें प्रत्यक्षतः देखने और अनुभव करने का प्रयत्न करेगा। स्पष्ट है, पहले वह उन समस्याओं को स्वयं समझने, मनन करने और तब उनका मूल्याङ्कन करने तथा निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करेगा और यदि लेखक सचमुच प्रतिभाशाली एवं मौलिक है, वह उनमें मौलिक तत्वों के अन्वेषण के प्रति प्रयत्नशील होगा और मौलिक ढङ्ग से पर्यवेक्षित विस्तारों को वह अत्यन्त उच्च स्तर पर साहित्यिक अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न करेगा। किसी साहित्यिक रचना की वास्तविक कलात्मक पूर्णता उसके द्वारा अनिवार्य सामाजिक तत्वों के चित्रण की पूर्णता पर निर्भर होती है। दूसरे शब्दों में यह मात्र लेखक के स्वयं के सामाजिक समस्याओं के अनुभव पर आधारित होती है इस प्रकार के अनुभवों के माध्यम से अनिवार्य

सामाजिक तत्वों के रहस्योद्घाटन और उनके चारों तरफ की समस्याओं का स्वतन्त्रतापूर्वक एव स्वाभाविक ढङ्ग से कलात्मक प्रस्तुतीकरण सम्भव हो सकता है। महान् यथार्थवादी लेखकों की रचनाओं का आन्तरिक सत्य इसी सत्य पर आधारित है कि वे स्वयं जीवन के ही क्षेत्र से आगे बढते और विकास करते हैं और उनका कलात्मक चरित्र-चित्रण स्वयं लेखक द्वारा जीये जाने वाले सामाजिक रूपविधान की प्रतिकृति होता है।

यथार्थवाद ने कला का सम्बन्ध विज्ञान से स्थापित किया है और उसे विश्लेषणात्मक शक्ति से विभूषित किया है। यथार्थवाद कट्टर सामाजिक व्यवस्थाओं, रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों के प्रति अविश्वास का भाव प्रकट करता है। यथार्थवाद की सीमाएँ केवल उच्चवर्गीय व्यक्तियो तक ही सीमित नहीं है, वह मध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय व्यक्तियों को भी समानरूप से अपने चित्रण का आधार बनाता है और पात्रों की चारित्रिक दुर्बलताओं को स्वीकार करता है। आदर्शवादियों की भाँति उन्हे एक विशिष्ट मोड़ देना उसे स्वीकार्य नहीं है। प्रेमचन्द्र के 'सेवासदन' के सुमन और गजाधर जैसे पात्र उसे स्वीकार्य नहीं हैं, वरन् उसकी परिधि मे 'गोदान' के होरी और धनिया जैसे पात्र आते हैं। यथार्थवाद लघुता के प्रति कभी अपनी विरक्ति नहीं प्रकट करता और न ही दैवीय शक्तियों के प्रति उसकी आस्था रहती है। यथार्थवाद जीवन के सत्य को चित्रित करता है और उन जीवन सत्यों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रखता। यथार्थवाद स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर उन्मुख होता है और परिवर्तनशील परिस्थितियों तथा वैचारिक दृष्टिकोणो से प्रेरणा ग्रहण कर कला को नवीन वातावरण में गतिशील करता है। यथार्थवाद व्यक्ति को समाज का अभिन्न अङ्ग स्वीकार कर उसकी अखण्डता के प्रति आस्थावान् है। वह व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता एवं समाज निरपेक्ष अस्तित्व को अस्वीकार करता है। प्रतिभा के अभाव मे यथार्थवादी चित्रण एक विद्रूप बन जाता है और कलात्मकता का अभाव उसकी विशेषताओं को न्यून कर देता है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में पूर्व-प्रेमचन्द काल से ही यथार्थवाद की यह परम्परा पालित-पोषित होती रही है। हाँ, यह अवश्य है कि यथार्थवाद की भयङ्करता से पूर्व-प्रेमचन्द्र काल और प्रेमचन्द्र काल के अधिकांश लेखकों ने समझौता कर लिया था और उन्होने आदर्श एवं यथार्थ का परस्पर समन्वय कर के अपनी दिशा स्पष्ट की थी। पर उसके खोखलेपन से स्वयं प्रेमचन्द ही 'गोदान' तक आते-आते परिचित हो चुके थे और उन्होंने यथार्थवाद की वास्तविकता एव उसके सत्य चित्रण की अनिवार्यता का अनुभव कर लिया था। उत्तर-प्रेमचन्द काल में यथार्थवाद से सम्बन्धित अनेक उत्कृष्ट रचनाएँ हुईं और यथार्थवाद का उत्तरोत्तर विकास होता गया। यशपाल का 'झूठ-सच', अश्क कृत 'शहर में घूमता आइना', भगवतीचरण वर्मा कृत 'भूले-बिसरे चित्र', फणीश्वर नाथ रेणु कृत 'मैला आञ्चल' और 'परती: परिकथा!', नागार्जुन कृत 'बलचनमा', 'नई पौध', राजेन्द्र सिंह बेदी कृत 'एक चादर मैली सी' (जिसे मै हिन्दी की ही रचना मानता हूँ) मोहन राकेश कृत 'अन्धेरे बन्द कमरे', तथा राजेन्द्र यादव कृत 'उखडे हुए लोग' और 'सारा आकाश', तथा कमलेश्वर कृत 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ' 'यथार्थवाद' के इसी विकास को सूचित करती हैं। कुछ ऐसी भी रचनाऐं हुई हैं, जो यथार्थवाद के विकास के बजाय उसे कलङ्कित ही करती हैं एसी रचनाओ का नाम मैं यहाँ जान-बूझ कर नहीं ले रहा

, क्योंकि उनकी सख्या अधिक है। कुछ तो उनमें साहित्यिक डाक्टर' हैं, कुछ उपन्यास सम्राट् है, जो वस्तुत: यह समझ ही नहीं पाये हैं कि यथार्थवाद वस्तुत: है क्या और उसकी सीमाएँ क्या है? यथार्थवाद के अन्य अनेक रूप होते हैं—यथा मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद, सामाजिक यथार्थवाद, अति यथार्थवाद, ऐतिहासिक यथार्थवाद और प्रकृतवाद।

सामाजिक यथार्थवाद (Socialist Realism), समाज और उसकी समष्टिगत चेतना से सम्बन्धित है। यह सामाजिक जन-क्रान्तियों से अधिक अंशों में प्रेरित रहता है। उन्नीसवीं शताब्दी का लगभग सम्पूर्ण रूसी साहित्य यथार्थ को सामाजिक सन्दर्भ में ही चित्रित कर गतिशील होता है। इस प्रकार सामाजिक यथार्थवाद में समष्टिगत चेतना का उन्मीलन होता है। इसके पर्याय के रूप में इतिहास अवस्थित है। सामाजिक और समाजवादी मे अन्तर है। सामाजिक से एक पग आगे समाजवादी कला का एक रूप है, जिसमें जन-मन के स्पन्दनों के संस्पर्श से रूप (Form) का आविर्भाव होता है। समाजवाद इसी जन-मन को रूप के आश्रय एवं स्रोत के रूप मे ग्रहण करता है। व्यष्टि मन जन-मन की एक लघु लहर के रूप में ही है, जिसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। सामाजिक यथार्थवाद सौन्दर्य की स्थिति वस्तु में स्वीकार करता है।

सामाजिक यथार्थवाद वास्तविक चित्रण के साथ सामाजिक सङ्घर्षों के चित्रण पर बल देता है। उद्देश्यवादिता, सामाजिक समग्रता और ज्ञान के प्रकार के रूप में कल्पनात्मक रचना की स्वीकृति का परस्पर समन्वय ही वास्तव में सामाजिक यथार्थवाद है। इसका मूल मन्त्र 'सङ्घर्ष' है। बुर्जुआ और पूँजीवादी-वर्ग शोषण में विश्वास रखता है और शोषण के मार्ग पर ही गतिशील होता है। शोषित लोगों की भावनाएँ, उनके स्वप्न, इच्छाएँ सभी कुछ उनकी स्थिति की दयनीयता, विवशताजन्य परिस्थितियों तथा वर्ग-वैषम्य के परिणामस्वरूप उत्पन्न आर्थिक दासता के कारण मूल्यहीन हैं। इसीलिये उनके हाथ मे कोई अधिकार नहीं है। प्रकृति ऐसा नहीं चाहती, पर शोषक वर्ग ऐसा जबर्दस्ती करने का प्रयत्न करता है। अत: साहित्य को चाहिये कि वह ऐसे सङ्घर्ष को बल प्रदान करे और इस शोषण एवं शोषक वर्ग का नाश करे तथा प्रकृति की अवरोधक शक्तियों को समाप्त करे। यह दायित्वपूर्ण कार्य वास्तव में सामाजिक यथार्थवाद ही करता है जो सङ्घर्ष के पथ पर अग्रसर कर समाजवादी मानवतावाद (Socialist Humanism) के निकट ले चलता है। सामाजिक यथार्थवाद इस तथ्य को अस्वीकार करता है कि मनुष्य की जीवन-प्रक्रिया कई स्तरों पर गतिमान् रहती है और उसका अन्वेषण कई आयामों में होता है। वह मनुष्य के आत्मान्वेषण को मात्र बुर्जुआ भ्रान्ति के रूप में स्वीकारता है और इतिहास की अनिवार्यताओ की पूर्ति के साधन के रूप में मूल्याङ्कित करता है। समाजवादी यथार्थवाद व्यक्ति को समष्टि की एक सामान्य इकाई के रूप में स्वीकार करता है और इसकी वर्गाश्रित प्रवृत्तियो की समीक्षा करता है। मनुष्य की वैयक्तिकता को वह नहीं स्वीकार करता।

समाजवादी यथार्थवाद साहित्य और कला में यथार्थवादी चित्रण पर बल देता है। वह मानवीय शक्तियों के विकास के प्रति आग्रहशील है। वह मानवीय प्रगति की अवरोधक शक्तियो का रहस्योद्घाटन करता है। उसका कार्य अतीतकाल का व्याख्यात्मक चित्राङ्कन मात्र ही नही, अपितु वर्तमान की क्रान्तिकारी सफलताओं को एक सूत्र में आबद्ध करने में सहायक होना एव भविष्य के लिए महान उद्देश्यो का स्पष्टीकरण करना भी है समाजवादी

यथार्थवाद व्यापक दृष्टिकोण को अपनाता है और इसकी क्षमता उन्हीं लेखकों में व्याप्त हो सकती है, जो वर्तमान को भविष्य के सन्दर्भ में मूल्याङ्कित कर सकने में समर्थ हैं। यही दृष्टिकोण वास्तव मे समाजवादी यथार्थवाद की आधारशिला होनी चाहिये।[3] उसकी विशेषता दूरदर्शिता में ही प्रमुख रूप से निहित है। वह भविष्य के प्रति अत्यधिक आस्थावान् एवं मानव-जीवन की अखण्डता के प्रति निष्ठावान् है। वास्तव में समाजवादी यथार्थवाद अतीत की व्याख्या, वर्तमान का मनन-चिन्तन एवं भविष्य के प्रति दूरदर्शिता की शक्ति अपनाने पर बल देता है। हिन्दी में समाजवादी यथार्थवाद को यशपाल, उपेन्द्रनाथ अश्क तथा रांगेयराघव आदि ने अपने विभिन्न उपन्यासो मे चित्रित करने का प्रयत्न किया है।

मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद (Psychological Realism) यद्यपि बाह्य जगत् की सत्ता को अस्वीकार नहीं करता, तथापि मानवीय अन्तर्जगत्, उसकी बौद्धिकता एव भावनात्मकता को ही अधिक बल प्रदान करता है। वह व्यष्टि चेतना की गहनता की माप एवं चेतन मन के आधार-भूत उपचेतन एवं अवचेतन मन का रहस्योद्घाटन करता है। मानवीय चेतन मन दुर्बल एव शक्तिहीन है। वह प्रगतिशील जीवन के परिस्थितिजन्य बन्धनों की शृङ्खलाओं को विच्छिन्न करना चाहता है और अवचेतन मन की अतृप्त कामनाओं, कुण्ठाओं एवं वर्जनाओं से प्रेरणा ग्रहण कर तृप्ति के अन्वेषण के प्रति प्रतिगतिशील होता है। यह अवचेतन मन चेतन की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है और प्रत्येक नियन्त्रण एवं सीमाओं को अस्वीकृत कर देता है। पर मनुष्य जीवन जीने के लिये मर्यादाओं एवं अनुशासन का पालन करना होता है। अवचेतन मन के लिये सभ्यता, संस्कृति एवं श्लीलता अर्थहीन होते है, पर चेतन मन के लिये यही प्रवृत्तियाँ अनिवार्य होती हैं। इस प्रकार एक विरोधाभास एवं कटुता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसका प्रकाशन मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद करता है।[4] यह मनुष्य की परिकल्पना व्यक्ति रूप में कर के उपचेतन और अचेतन मन की जटिल एवं विषम ग्रन्थियों को सुलझाने का कार्य करता है, पर इससे सबसे बड़ी हानि यह हुई कि मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद ने मानव को अर्द्ध-विक्षिप्त, काम-लोलुप और मानसिक विकारों से ग्रस्त रोगी के रूप में परिणत कर दिया और जीवन के अशोभन एव अवाञ्छनीय तत्वों के चित्रण पर बल दिया जाने लगा। जहाँ तक मानवीय स्वभाव का प्रश्न है, मनुष्य जैसा है, उसे स्वीकार करने में न तो किसी को आपत्ति होनी चाहिये और न ही उस पर किसी को लज्जा होनी चाहिये। यह सत्य है कि आधुनिक युग में कोई भी मनुष्य स्वयं में पूर्ण नहीं है। सभी भीतर से टूटे हुए हैं, बिखरे हुए हैं। सभी की आत्माएँ खण्डित हैं, सभी के विश्वास जर्जरित हैं। यह भी सत्य है कि मनुष्य में वासना है, पाप है, घृणा है। कोई मनुष्य इससे वञ्चित नहीं है और इसे अस्वीकार करना सत्य से मुख मोड़ना होगा। यथार्थवाद की रक्षा के नाम पर उपन्यासों में इनके चित्रण पर भी किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये। पर जब मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के नाम पर यथार्थवाद की रक्षा एवं सत्यानुभूति से प्रेरित चित्रण करने के बहाने मनुष्य की अन्य इच्छाओं को छोड़, मात्र काम इच्छाओं एवं उनके हनन से उत्पन्न होने वाले 'दुष्परिणामों' का 'रसमय' चित्रण किया जाने लगता है और उपन्यास के नाम पर कामशास्त्र की रचना होने लगती है, तो यह आपत्तिजनक होता है। साथ ही साहित्य की श्रेष्ठता एवं गौरव के लिये कलङ्क-पूर्ण भी है दुःख तो तब होता है जब ऐसे गोपनीय स्थलो के चित्रण में लेखक साङ्कृतिकता

छोड पर उनर आता है और वह यह भूल जाता है वि उपन्यास रचना के भी कुछ नियम (code) और सीमाएँ (Limitations) हैं, जिनका पालन करना श्रेष्ठ साहित्य के लिये अनिवार्य है।

मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद आत्मोपलब्धि पर तो बल देता है, पर उसकी सृजन प्रक्रिया मे आत्मान्वेषण का मार्ग अत्यन्त सीमित, सङ्कीर्ण एव विषमताओं से पूर्ण है। वह मनुष्य के आत्म-तत्व को पूर्व निश्चित, पशुधर्मी और अनिवार्यतः विकृत प्रवृत्तियों से परिपूर्ण स्वीकार करता है, इसीलिये मनुष्य का अत्यन्त घृणास्पद चित्र उपस्थित करने में मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद सहायक होता है। इस मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के आंशिक चित्र हमें अज्ञेय और जैनेन्द्र के उपन्यासो मे उपलब्ध होते हैं, पर जहाँ जैनेन्द्र ने औपन्यासिक सृजन-प्रक्रिया सम्बन्धी सीमाओं का कठोरता से पालन किया है, वहीं अज्ञेय पूर्णतया असीमित रहे हैं। इलाचन्द्र जोशी ने भी अपने अनेक उपन्यासो में मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद का आश्रय ग्रहण किया है, पर जैनेन्द्र की भाँति सीमाओं की कठोरता उन्होंने भी स्वीकार की है।

ऐतिहासिक यथार्थवाद और यथार्थवाद में कोई तात्विक अन्तर नहीं है। आज का युगीन सामाजिक जीवनकाल इतिहास के रूप में ही पढ़ा जायेगा। आगे आने वाली शताब्दियो मे निश्चित है, प्रेमचन्द के उपन्यास, औपन्यासिक रस के लिये कम, तत्कालीन सामाजिक, सास्कृतिक एवं धार्मिक इतिहास के परिचय के लिये अधिक पढ़े जायेंगे। देशकाल का यह तात्विक अन्तर ही यथार्थवाद को ऐतिहासिक यथार्थवाद के रूप में परिणत कर देता है। ऐतिहासिक यथार्थवाद तिथियों, नामों एवं घटनाओं की सत्यता के प्रति अधिक आग्रहशील नही रहता, पर तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन के यथार्थ चित्रण पर बल देता है। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार ऐतिहासिक उपन्यास में हमें ऐसे समाज और उसके व्यक्तियों का चित्रण करना पड़ता है, जो सदा के लिये विलुप्त हो चुका है। किन्तु उसने पदचिह्न कुछ ज़रूर छोड़े है, जो उनके साथ मनमानी करने की इजाजत नहीं दे सकते। इन पद-चिह्नों या ऐतिहासिक अवशेषों के पूरी तौर से अध्ययन को यदि अपने लिये दुष्कर समझते हैं, तो कौन कहता है, आप जरूर ही इस पथ पर कदम रखें ? हम देखते हैं, कम-से-कम हमारे देश में, समर्थ कथाकार भी ऐसी गलती कर बैठते हैं और बिना तैयारी के ही कलम उठा लेते हैं। इसमें शक नहीं, यदि उनकी लेखनी चामत्कारिक है, तो साधारण पाठक उसे बड़ी दिलचस्पी से पढ़ेंगे और हमारे समालोचको मे बहुत कम ही ऐसे है जो ऐतिहासिक यथार्थवाद की परख रखते हैं। ऐतिहासिक यथार्थवाद के चित्र यशपाल (दिव्या), वृन्दावनलाल वर्मा (लगभग सभी ऐतिहासिक उपन्यास), राहुल सांकृत्यायन (जय यौधेय, सिह सेनापति) तथा चतुरसेन शास्त्री (वैशाली की नगरवधू) आदि में प्राप्त होते हैं।

अति-यथार्थवाद (Sur-realism) हृदय की भावनात्मक गति का प्रतिनिधित्व करता है। यह बौद्धिकता के विरुद्ध है किन्तु साथ ही भावुकता के प्रति भी आग्रहशील नहीं है। यदि अति-यथार्थवाद को कोई पीछे उसके आधारभूमि तक ले जाना चाहे तो वहाँ वे मूलभूत तत्त्व प्राप्त होंगे जिस पर किसी भी उपयोगी भित्ति का निर्माण किया जा सकता है वे मलभूत तत्त्व प्राकृतिक विज्ञान और से सम्बन्धित हैं अति की यदि कोई दार्शनिक

उपपत्ति अतीत काल में कहीं प्राप्त होती है, तो वह हीगल में ही। फ्रायड के अनुसार चेतना के स्पन्दन गम्भीर कामनाओं के रूप में प्रस्फुटित होते हैं और कुण्ठाजन्य परिस्थितियाँ, पीडाएँ, असन्तोष एवं अतृप्त वासनाएँ उन्माद के रूप में परिणत हो जाती हैं, जिससे एक नये वाद का जन्म होता है, जो अति-यथार्थवाद है। वस्तुतः यह और कुछ नहीं, यथार्थवाद का चरम रूप ही है। यह रूप-विन्यास आदि को चेतन मन की कार्य-प्रक्रिया स्वीकार करता है। चेतन मन, अवचेतन मन की तुलना में दुर्बल और शक्तिहीन है। अचेतन मन किसी भी प्रकार के वन्धन, नियन्त्रण या सीमाओं को नहीं स्वीकार करता। नैतिकता, भय, लज्जा तथा सङ्कोच उसके लिये महत्व-हीन होते हैं। इस प्रकार एक असङ्गति (Disharmony) की स्थिति उसे प्रिय है। काम (Libido) की अतृप्ति प्रायः सामान्यजनों में होती है और अवचेतन में उनके विस्फोट की सम्भावना बराबर बनी रहती है। इस प्रकार एक असन्तुलन (Imbalance) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह असङ्गति और असन्तुलन ही अति-यथार्थवाद के दो आधारभूत स्तम्भ है। यह मनुष्य के अवचेतन मन से ही विशेष रूप से सम्बन्धित है।

अति-यथार्थवादियों के अनुसार आदर्श अर्थहीन होते हैं। ठीक उसी प्रकार, जैसे कि मानवीय चेतन द्वारा छायाङ्कित यह भौतिक-जगत्। अति-यथार्थवाद किसी नैतिक परम्परा के प्रति श्रद्धावान् नहीं है और क्लासिकल तथा पूँजीवादी परम्पराओं को तो बिल्कुल ही तिरस्कृत करता है। यह इस बात को स्वीकार करता है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति अपनी शैक्षणिक परम्पराओं और सामाजिक वातावरण, नैतिक मान्यताओं एवं सांस्कृतिक विश्वासों के कारण शोषित एवं खण्डित होते हैं। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी स्पष्ट किया जा सकता है। एक व्यक्ति अत्यन्त शिक्षित, शिष्ट एवं गम्भीर (Sober) है। वह सभ्यता एवं संस्कृति में भी पूर्ण विश्वास रखता है। पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वह आन्तरिक रूप से भी वैसा ही है, जैसा कि वह वाह्य रूप से है। अपनी सम्पूर्ण सामाजिक स्थिति की रक्षा के लिये उसे अपनी अनेक इच्छाओं, कामनाओं एवं यहाँ तक कि वासनापरक इच्छाओं का भी दमन करना पड़ता है। व्यक्ति तो यह समझता है कि उसने इनका दमन कर दिया, पर वस्तुस्थिति ऐसी है नहीं। वे सभी अवचेतन मन में संग्रहीत होती रहती हैं और उनके विस्फोट की सम्भावना वहाँ बराबर बनी रहती है। अति-यथार्थवाद, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, इसी अवचेतन से सम्बन्धित है, जो व्यक्ति को शोषित, खण्डित और गुमराह करता है। साम्यवाद की भाँति अति-यथार्थवाद भी यह आग्रह नहीं करता कि कलाकार अपनी वैयक्तिकता का परित्याग करे, पर वह इस बात पर बल देता है कि कलाकारों के बीच सामान्य समस्याएँ हैं, जिनका उन्हे समाधान करना है और सामान्य खतरे में है, जिनसे उन्हें बचना है।

पर अति-यथार्थवाद ने असन्तुलन एवं असङ्गति के ऐसे वीभत्स एवं घृणास्पद चित्र उपस्थित किये कि मानव मात्र विकृतियों का पुतला बन गया। फलस्वरूप अति-यथार्थवादी स्कूल पर अनेक दोषारोपण किये जाने लगे और उनके उत्तर भी दिये गये। पर सबसे भीषण आरोप यह किया गया कि अति-यथार्थवाद हिंसा और न्यूरोटिक प्रवृत्तियों को प्रश्रय देता है। वह नैतिकता को तिरस्कृत करता है क्योंकि उसके विचार से वह रूढ़ और है वह भ्रम और पर आधारित नैतिकता को प्रदान करता है उसके विचार

से आज की मानवता और कुछ नही पाप है। वह एसी नतिकता से घृणा करता है क्योंकि यह एक आडम्बर है और अधिकाश व्यक्ति अपूर्ण ही जन्म लेते हैं। उनकी रही-सही पूर्णता भी उनकी विषय परिस्थितियों के कारण समाप्त हो जाती है। मानवता के विकास से ही इस पाप और बुराइयों का निराकरण किया जा सकता है, किन्तु यह हमारा विश्वास है कि सङ्कठित नियन्त्रण एव दमन की सम्पूर्ण प्रणाली, जो आज की नैतिकता का सामाजिक तत्व है, को मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से गलत समझा जाता है और यह पूर्णतया हानिप्रद है। अतः संवेगों की पूर्ण सम्भव स्वतन्त्रता और प्रेम से वह चीज प्राप्त की जा सकती है, जो किसी विधान या नियन्त्रण से नहीं प्राप्त हो सकता।

अति-यथार्थवाद किसी भावुक मानवतावाद (Emotional Humanism) से सम्बन्धित नही है। वह अत्यन्त कठोर ढङ्ग से नियन्त्रित मनोवैज्ञानिक है और यदि वह 'प्रेम' और 'सहानुभूति' जैसे शब्दों का प्रयोग करता है, तो इसीलिये कि व्यक्ति के आर्थिक एवं वासनात्मक जीवन के उसके विश्लेषण ने उसे इन शब्दों के शालीनतापूर्वक प्रयोग करने का अधिकार दिया है और इस प्रयोग में किञ्चित्‌मात्र भी भावुकता का स्थान नहीं होता। अति-यथार्थवाद—जो ज्ञान की एक प्रणाली है, फलस्वरूप विजय और सुरक्षा की भी प्रणाली है, मनुष्य की चेतनशीलता का रहस्योद्‌घाटन करता है। अति-यथार्थवाद यह स्वीकार करता है कि सभी व्यक्तियों में विचारों की समानता होती है और वह मनुष्य-मनुष्य के मध्य व्यवधान को समाप्त करने का प्रयत्न करता है। भेदभाव या कायरता की किसी सीमा को वह नहीं मानता कि उसका विचार है मनुष्य अपने आप का अन्वेषण करे, अपने स्वत्व को पहचाने और तभी वह उन सभी निधियों को प्राप्त कर सकने की सक्षमता प्राप्त कर सकेगा, जिससे उसे वञ्चित कर दिया गया है और जिसका सञ्चय वह प्रत्येक काल में करता है। यह सञ्चयन, आत्मपीड़न और घुटन के फलस्वरूप ही हो पाता है, जो अल्प-संख्यक अधिकार प्राप्त लोगों के लिये होता है, जो मानव महानता का प्रतिपादन करने वाले प्रत्येक तत्त्वों से अन्धे और बहरे होते हैं। अति-यथार्थवाद अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर पूर्ण बल देता है और उसे और भी व्यापक बनाने का प्रयत्न करता है। वह मानता है कि मानव और उसकी कार्य-प्रक्रिया अलग नहीं किये जा सकते। वह मनुष्य की स्वतन्त्रता में विश्वास रखता है और अपने पूर्ण सामर्थ्य मे इस उद्देश्य प्राप्ति का प्रयत्न करता है। वह इस प्रक्रिया में पराजयवाद, गुमराह करने वाली प्रवृत्ति और शोषण का विरोध करता है। हिन्दी में जहाँ तक प्रश्न है, अति-यथार्थवाद की शैली का शुद्धरूप मे प्रयोग किसी उपन्यास में नहीं किया गया है। उसका आंशिक प्रभाव 'शेखर : एक जीवनी', 'नदी के द्वीप', तथा 'दादा कामरेड' आदि में लक्षित होता है। पर वे शुद्ध रूप में अति-यथार्थवाद उपन्यास नहीं हैं।

प्रकृतवाद (Naturalism) शब्द का प्रथम प्रयोग साहित्य में फ्रेञ्च उपन्यासकारों द्वारा किया गया था, जो अपने को फ्लावेयर का शिष्य और उत्तराधिकारी मानते थे। यह साहित्य मे निराशा के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ है। प्रकृतवाद को जोला और मोपासाँ ने नेतृत्व प्रदान किया, यद्यपि फ्लावेयर ने स्वयं अपने को यथार्थवादी या प्रकृतिवादी मानने से अस्वीकार कर दिया था। वह अपने को फ्रैङ्को क्लासिस्ट स्वीकारता था और प्रकृतवाद को 'असमर्थ' बताता ग वह शैली पर और सौन्दर्यपूर्ण रचना प्रक्रिया के प्रति चेतनशीलता पर बल देता या इस अम्बन्ध मे दो विख्यात प्राप्त होती हैं —एक मोपासाँ के Pierre

et jean' और दूसरे ज़ोला की पुस्तक 'le Roman Experimantal' की भूमिकाओं में। जोला के अनुसार प्रकृतवाद उन परिस्थितियों एवं वातावरण के अनुसार जन्मा था, जो व्यक्ति की पूर्णता एव सत्ता निश्चित करती है। जो पेंटिङ्ग के क्षेत्र में प्रभाववाद (Impressionism) है, वही समान स्तर पर साहित्य के क्षेत्र में प्रकृतवाद है। जिस प्रकार प्रभाववादी, जिन चीजो को जिस वातावरण मे जिस प्रकार देखते थे, अपनी चित्रकला में उन्हें उसी रूप में स्थान देते थे। उस पर किसी प्रकार का भी मुलम्मा चढ़ाने या पालिश करने की प्रवृत्ति उनकी कभी नहीं होती थी। ठीक उसी प्रकार प्रकृतवादियों ने साहित्य के क्षेत्र में किया। उन्होंने मनुष्य को उसके वातावरण में ज्यों का त्यों बिना कोई आवरण डाले या श्लीलता-अश्लीलता का ध्यान रखें या लज्जा एव सङ्कोच का महत्त्व समझे चित्रित कर दिया। प्रकृतवादियों ने वातावरण पर विशेष जोर दिया है, इसीलिये उन्होंने पात्रों के मनोविश्लेषण पर विशेष बल नहीं दिया। यहाँ तक कि मोपासाँ ने तो इसकी सम्भावना तक अस्वीकृत कर दी है। मानव के प्रति इस प्रकार प्रकृतवाद का एक विशिष्ट दृष्टिकोण है,[७] जो लज्जाहीनता, नग्नता, सङ्कोचहीनता, अनैतिकता एवं अनाचार के साथ स्वतन्त्र वासना को प्रश्रय देता है।

प्रकृतवाद मे ज्ञान-प्रकाश से युक्त आशावादी आदर्शवाद के ध्वंसावशेष, मनुष्य की पूर्णता एव निष्ठा में पूर्ण आस्था, प्रजातान्त्रिक प्रणाली में विश्वास और मानव विकास के प्रति आशा के भाव लक्षित होते हैं। प्रकृतवादियों के लिये समाज कोई अर्थ नहीं रखता। वे इसका खण्डन करते है कि आत्मिक विकास से ही अन्तिम पूर्णता प्राप्त होती है। प्रजातान्त्रिक स्वतन्त्रता के सन्दर्भ में उनके लिये विकास भी अर्थहीन है और आदर्श, नैतिकता, सांस्कृतिक उत्थान तथा सृष्टि की आत्मानुभूति उनके लिये शून्य स्वप्नों के समान हैं और ईश्वर की सत्ता स्वीकार करना हास्यास्पद है। पर नैतिकता को अर्थहीन स्वीकार कर यह किसी प्रकार की स्वतन्त्रता का नही वरन् कुण्ठाजन्य निराशा का प्रतिपादन करता है। यद्यपि उसका आविर्भाव वैज्ञानिक प्रणाली से हुआ है, फिर भी प्रकृतवाद की वैज्ञानिक कार्य-प्रक्रिया में कोई आस्था नही है। उसके अनुसार प्रत्येक वैज्ञानिक निष्कर्ष मनुष्य की असहायावस्था की ओर सङ्केत करता है।

प्रकृतवाद किसी धार्मिक परम्परा में विश्वास नहीं रखता और उसके आधारभूत सिद्धान्त प्राकृतिक शक्तियाँ हैं। उसके अनुसार मनुष्य पशुजन्य है, प्रकृति कठोर है। मानव स्वभाव स्वार्थी, निर्दयी और कामुक है। सामाजिक कुरीतियों का कारण मानव स्वभाव और सामाजिक रूढ़ियाँ हैं। जीवन के प्रति प्रकृतवाद का दृष्टिकोण निराशावादी है। वह प्राप्त तथ्यों को ज्यों के त्यों चित्रण के प्रति आग्रहशील है। उसमें प्राकृतिक व्यवस्था का उन्मीलन होता है। ऐतिहासिक रूप से प्रकृतवाद यथार्थवाद की ही एक विकसित शैली है और उसके उचित एवं क्रमागत रूप में ही स्वीकार किया जाता है। इसकी व्याख्या जोला ने १८८० और १८८१ के मध्य प्रकाशित अपने अनेक लेखों में की। जोला का विचार था कि मानव सत्य से बढ कर कुछ और नहीं है। वह चाहता था कि कला जीवन के प्रति सत्य हो। उसके लिये कला, मनुष्य, जो कि परिवर्तनशील तत्व है, और प्रकृति, जो कि अपरिवर्तनीय है, के मध्य होने वाले विवाह के समान है। उसके लिये यथार्थवाद अर्थशून्य था और उसका उद्देश्य था कि यथार्थ-वाद व्यक्तिवादी स्वभाव के ही आधीन हो सौन्दर्य की के काई स्वतन्त्र

सत्ता नही स्वीकार की जा सकती वह अनिवार्यत एक मानवीय तत्व है अत कथाकार का दायित्व है कि वह अपने ही समय म अ वेषित समकालीन सौ दय त वो का उदघाटन करे वास्तव मे प्रकृतवाद एक ऐसे प्रभात के समान है, जो यथार्थवाद से कोसों दूर है और एसे कथाकार का यथार्थ कला की सृजन-प्रक्रिया नहीं होती।

प्रकृतवाद में मानवीय व्यवहार सामाजिक वातावरण के कार्य रूप में समझे जाते है और व्यक्ति इसकी विशेषताओं का जीवित समूह पुन्ज समझा जाता है। उसका अस्तित्व इसमे उसी भाँति है, जिस प्रकार प्रकृति में पशुओं का। एक ओर तो वह अकर्मण्यता की परिधि मे आबद्ध है, दूसरी ओर वह सामाजिक एवं आर्थिक स्थितियों का उद्घाटन करता है। वह औपन्यासिक पात्रों का चित्रण इस प्रकार करता है कि वे मात्र टाइप ही बन कर रह जाते हैं। उसके निर्माण की पद्धति वर्णनात्मक और गणना की है, न कि विश्लेषण या कथा कहने की। ऐसा इसीलिये होता है क्योंकि विषय का परिणाम-सम्बन्धी विकास और विस्तारों का समुच्चय उसके उद्देश्यों को भलीभाँति पूर्ण करते हैं। यह अर्द्ध-वैज्ञानिक प्रणाली वस्तुतः मूल्यों के क्षेत्र में एक तटस्थ दृष्टिकोण का समर्थन नही करती, पर उसकी ओर सङ्केत अवश्य करती है।

प्रकृतवाद, इस प्रकार, यथार्थवाद का अत्यन्त विकृत रूप है। वह दार्शनिक प्रकृतवाद के समान स्तर पर है। यद्यपि प्रकृतवाद का समाज के उच्च से उच्च स्तर पर भी किसी भी समस्या के सन्दर्भ मे उपयोग किया जा सकता है, पर वह प्रमुख रूप से कुण्ठित वासना, नग्नता, निर्धनता, निराशा, बीमारियों और गन्दगियों से सम्बन्धित है और उन्हीं का चित्रण करता है। प्रकृतवादी उपन्यास की अपनी विशेषताएँ होती हैं, उसमें वस्तुगत प्रयत्नशीलता होती है, पूर्ण स्पष्टवादिता होती है, किसी भी प्रकार की लज्जा या सङ्कोच का परित्याग होता है और निराशाजन्य परिस्थितियों की प्रधानता होती है। पशुवत या न्यूरोटिक स्वभाव के चरित्रो का निर्माण कर उनका चरित्राङ्कन अश्लील ढङ्ग से होता है। उन पात्रों के जीवन के अस्वस्थ पक्षों पर ही अधिक वल दिया जाता है, फलस्वरूप मनुष्य का अत्यन्त विकृत, घृणित एव नपुसकता (Impotency) से पूर्ण चरित्र प्रकाश में आता है।

अति-यथार्थवाद की भाँति हिन्दी में अभी तक शुद्धरूप से कोई भी प्रकृतवादी उपन्यास नही लिखा गया है। पर इसका प्रभाव कुछ अंशों में यशपाल (दादा कामरेड, देशद्रोही, झूठा-सच), अज्ञेय (शेखर : एक जीवनी, नदी के द्वीप), चतुरसेन शास्त्री (अमर अभिलाषा), पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र (दिल्ली का दलाल, फागुन के दिन चार), इलाचन्द्र जोशी (पर्दे की रानी) आदि मे लक्षित होता है। वास्तव में अभी हिन्दी साहित्य में उपन्यासों की परिधि को अश्लीलता पूर्ण रूप से निगल नहीं पाया है और अधिकांश उपन्यासकार अभी भी संयम, नैतिकता एवं संस्कृति की डोरों से अनेक अंशों में बँधे हुए हैं, यद्यपि उनमें से अनेक की आत्माएँ इन बन्धनों में छटपटा रही हैं और वे इन शृङ्खलाओं को तोड़फोड़ कर मुक्त हो जाना चाहती हैं। ऐसे उपन्यासकार समाज मे सेक्स सम्बन्धी स्वतन्त्रता, और फलस्वरूप मनुष्य की वासना का रसमय चित्रण उपन्यासो मे करने की स्वतन्त्रता चाहते है। हिन्दी उपन्यासों का वह सबसे कलङ्कपूर्ण एवं अन्धकारपूर्ण दिन होगा जिस दिन उसकी बागडोर इन के हाथों म सौंप दी जायेगी और समचा जगत अपने पथ से हटकर महर्षि के वास्तविक उत्तराधि

कारियों द्वारा की जाने वाली कामशास्त्रीय रसमय व्याख्याओं से आच्छादित हो जायेगा।

आदर्शवाद की व्याख्या करते समय प्रायः कहा जाता है कि सृष्टि पूर्णरूप से मस्तिष्क की प्रक्रिया है, अथवा उसकी सत्य प्रतिकृति है। मस्तिष्क और मूल्यों के मध्य अविच्छिन्न सम्बन्ध रहते हैं, इसीलिये आदर्शवाद को सरलता से मूल्यों के मापानुसार सृष्टि की अभिव्यक्ति कहा जाता है। इसे प्लेटो की धारणानुसार अच्छाइयों का विचार भी कहा जा सकता है। वस्तुतः आदर्शवाद एक ऐसे सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया जा सकता है, जिसके अनुसार इस सृष्टि मे इन विशेषताओं को, जो अत्युत्तम, उपयोगी एवं मानवतावादी दृष्टिकोण के अनुकूल स्वीकृत हैं, अत्यन्त व्यापक एवं चरम रूप प्रदान कर विस्तृत पृष्ठभूमि पर निरन्तर उच्च स्थान प्रदान किया जाना चाहिये। उन विशेषताओं को व्यष्टि से समष्टि की ओर गतिशील कर जनमानस मे सर्वव्यापी ढङ्ग से उसका विकास कर कल्याणकारी भावनाओं का विकास करना ही आदर्शवाद का मूल उद्देश्य होता है।

प्लेटो के अनुसार भावनाओं का जगत् यथार्थ संसार नहीं है। जिसे हम विचारों की सज्ञा से, विशेषतः अच्छाइओं के विचार से अभिहित करते हैं—वही यथार्थ है और गहन एव आधिकारिक ज्ञान मानवीय चेतना की एकता को पूर्व ज्ञात वस्तुओं से सम्बन्धित करते हैं। प्रतिभाशाली सृष्टि निश्चय ही आदर्शवादी सृष्टि के समानार्थक होनी चाहिये। इस प्रकार प्लेटो का 'आदर्शवादी' संसार ही सत्य संसार है और 'ज्ञान' का मुख्य उद्देश्य ('राय' के विरुद्ध) सदैव ही आदर्शवादी होता है। आदर्श से ज्ञान के उद्देश्यों का आविर्भाव नहीं होता, वरन् इसके माध्यम से सत्य एवं अनिवार्य अस्तित्व से भी सम्बन्धित होते हैं। यहाँ यह तथ्य स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आदर्शवाद वस्तुतः दर्शन का ही एक रूप है।[७] आदर्शवाद उस सत्य से अनुप्राणित है, जो समस्त भौतिक जगत् में कुत्सित वृत्तियों के नाश और सात्विक प्रवृत्तियों की विजय उद्घोषित करता है। आदर्शवाद का मूल स्वरूप इन्हीं सात्विक प्रवृत्तियों की व्यापकता पर ही निर्मित होता है, जो मानव के चारित्रिक विकास, उसकी चित्तवृत्तियों का एक सामान्य स्तर पर सामूहिक कल्याण की विशद भावना की ओर दिशोन्मुख करने, समष्टि की व्यष्टि पर विजय एव वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना के विस्तार तथा पाप, घृणा एवं असत्य के पूर्णतया नष्ट होने की भावना पर आधारित है।

अतः आदर्शवाद का मूलस्वर मस्तिष्क एवं यथार्थ और चेतना के समन्वय से नहीं सम्बन्धित है।[८] विश्व की जितनी भी महत्वपूर्ण सभ्यताऐं हैं, उनकी पृष्ठभूमि में आदर्शवाद ही क्रियाशील रहा है। वह केवल निर्माण तक ही नहीं सम्बन्धित है, बल्कि एक कदम आगे बढ़कर वह व्यापक सुधार की अनिवार्यता पर बल देता है और मानवीय आत्मबल के विकास एवं मानव सुधार की आवश्यकता सिद्ध करता है। अपनी इसी प्रमुख सृजनात्मकता के कारण वह मात्र मानव जीवन को ही निर्माण एवं विकास की ओर दिशोन्मुख नहीं करता, वरन् प्रत्येक ज्ञान एव दर्शन के मूलस्वर एवं आत्मा का भी स्पष्टीकरण सशक्त स्वरों में करता है। स्वाभाविक आदर्शवाद जीवन का वह महत्वपूर्ण स्वरूप है जिसमें मानवीय आत्मा अपने अमरत्व की माँग करती है और मूल्य मर्यादायुक्त परिवेश मे निरन्तर गौरव एव की रक्षा की दिशा में अग्रसर

प्रत्येक राष्ट्र समाज संस्कृति एवं सभ्यता की प्राचीन मान्यताएं परम्पराएं एवं गौरवशाली मर्यादाएं होती हैं यद्यपि दृष्टिभेद की के कारण अपनी सभ्यता एवं संस्कृति की तुलना में अन्य राष्ट्रों एवं समाज की सभ्यता एवं संस्कृति हमें अधिक महत्वपूर्ण न जान पड़े, ऐसा सम्भव हो सकता है। पर हमें यह सदैव ही स्मरण रखना होगा कि प्रत्येक राष्ट्र और समाज अपनी सभ्यता एवं संस्कृति को अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा कभी भी मूल्यहीन नहीं समझता और वहाँ के लेखक अपनी इन्हीं गौरवशाली परम्पराओं एवं मर्यादापूर्ण मान्यताओं को अपने साहित्य में जीवित करने और शताब्दियों तक अग्रसर करने का प्रयत्न करते हैं। कहना न होगा, इस प्रक्रिया में उपन्यास ही सर्वाधिक सहायक सिद्ध होते हैं। आदर्शवादी उपन्यासकार अपनी सभ्यता एवं संस्कृति की गौरवशाली परम्पराओं एवं मर्यादापूर्ण मान्यताओं के प्रति गहन रूप में आस्थावान् होते हैं और किसी भी रूप में उनका खण्डन-मण्डन, अथवा तिरस्कार एवं अस्वीकृति उन्हें सह्य नहीं होती। वे उनकी महत्ता सिद्ध करने एवं उनकी उपयोगिता स्पष्ट करने के लिये ही कथानक का ताना-बाना बुनते हैं और अपने मन्तव्य को तर्कों सहित उपस्थित करते हैं। वे इस सम्बन्ध में यथार्थ की उपेक्षा करते हैं और उसकी तरफ से आँखें बन्द किये रहते हैं। उदाहरणस्वरूप, प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' में सुमन का चरित्र यथार्थवादी ढङ्ग से विकसित कर भी उसका समाधान आदर्शवाद में खोजा है और यथार्थवाद को पूर्णतया भुला दिया है। उसका विवाह सदन सिंह से इसीलिये नहीं होता। इसके कारण स्पष्ट हैं। तब की परिस्थितियों में वेश्या-विवाह के लिये तमाम अपील और लेक्चरबाजी के बावजूद भी वेश्या-विवाह सामाजिक रूप से मान्य नहीं हो पाये थे। प्राचीन भारतीय परम्पराओं में भी इसका समर्थन कहीं नहीं था, इसलिये प्रेमचन्द ने अपनी तमाम प्रगतिशीलता के बावजूद उसके लिये एक सुधार-आश्रम की स्थापना करवा दी है। वस्तुतः यह कुछ और नहीं लेखक का आदर्शवादी दृष्टिकोण ही है, जो उसे यथार्थ की कठोर, पर स्वाभाविक भूमि पर आने से रोकती है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, आदर्शवादी लेखक समाज में कुत्सित वृत्तियों का पूर्ण नाश और सात्विक प्रवृत्तियों की पूर्ण विजय चाहता है। वह समाज में नैतिकता का पूर्ण उत्थान एवं मङ्गलकारी भावनाओं का पूर्ण प्रसार चाहता है, जिससे समाज निरन्तर सत्पथ पर अग्रसर होता रहे, सभी का जीवन सुखी एवं समृद्ध रहे, सभी को पूर्ण मानसिक शान्ति प्राप्त हो और सभी आपसी सहयोग एवं सहानुभूतिपूर्ण वातावरण में जी सकें। किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने अनेक उपन्यासों में इसी आदर्शवादी विशेषता का परिचय देते हुए कुत्सित पथ पर चलने वाले अनेक पात्रों की मृत्यु, कुष्ठ आदि रोगों से पीड़ित होते हुए तथा जीवन में अनेक दारुण दुख झेलते हुए चित्रित किया है।

आदर्शवाद की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता तो यह है कि वह कटु यथार्थ का पूर्णतया तिरस्कार करता है। वह कभी नहीं स्वीकारता कि आज का मानव-जीवन पूर्णतया खण्डित है, मूल्य एवं मर्यादाएँ बिखर रही हैं। विचित्र सी कटुता, अपमान, व्यथा, विषाद की तीखी प्रतिक्रियाएँ मानव जीवन पर गहन रूप में आच्छादित हो रही हैं। सर्वत्र घृणा, असत्य एवं पाप का प्रसार हो रहा है। प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थ एवं प्राप्ति आशा के पीछे स्वयं अपने आप को भूलता जा रहा है। वह खुदगर्जी के पीछे यह भूल गया है कि वह किसी को कुछ दे सकता है दूसरे के त्रस्त एवं अपूर्ण जीवन को अपनी सहानुभूति से पूर्ण बनाने का छोटा-सा प्रयत्न भी कर सकता है इन सब सामाजिक

विकृतियों ने आज के मानवीय जीवन को विचित्र-सी दिशा प्रदान कर उसे कटुता से इतना विषाक्त कर दिया है कि सहज सम्भाव्य रूप में उसका जीना भी दुर्लभ हो गया है। आदर्शवाद, जीवन की इस पीड़ादायक स्थिति का पूर्ण तिरस्कार कर भावुकता की काल्पनिक पृष्ठभूमि पर एक ऐसे स्वप्निल संसार की सृष्टि करने का प्रयत्न करता है, जिसमें सर्वत्र आनन्द तत्व ही सञ्चारित होता रहे, सभी को सुख एवं सन्तोष की उपलब्धि होती रहे और पीड़ा एवं असहनीय कथा का कहीं नामोनिशान भी न हो। आदर्शवादी अपनी इस प्रवृत्ति का पोषण करते हुए यह तर्क उपस्थित करते हैं कि उनका इस सम्बन्ध मे यथार्थवाद की उपेक्षा करना बुद्धिहीनता का परिचायक नही है। सत्य तो यह है कि हमारा जीवन निरन्तर कटुता एवं विषाद की छत्रछाया में ही पलता है और हम बराबर असन्तोष में ही जीते हैं। जब हम दिन भर इसी विषाक्त वातावरण में श्रान्त-क्लान्त होकर अवकाश पाने पर थोड़ा मनोरञ्जन करने और सरसता प्राप्त करने के लिये उपन्यासों की ओर मुड़ते हैं और यदि वहाँ भी उसी कटुतापूर्ण वातावरण की भयङ्कर छाया प्रतिध्वनित होती रहेगी, तो पाठक रोष में आकर पुस्तक एक ओर पटक देगा। इस प्रकार उपन्यासों का महत्त्व शून्य हो जायगा। अतः उपन्यासों को लोकप्रिय बनाने एवं उनके महत्त्व की वृद्धि के लिये आदर्शवाद का प्रश्रय लेना अनिवार्य सा हो जाता है, इसीलिये यथार्थवाद की उपेक्षा प्रायः कर दी जाती है। पर यदि तर्कपूर्ण ढङ्ग से आदर्शवादियों की इस धारणा की परीक्षा की जाय तो उनका दावा पूर्णतया निराधार एवं तर्कहीन सिद्ध हो जायगा। यह सत्य है कि दिन भर पीड़ादायक एवं असन्तोष-पूर्ण परिस्थितियों में कार्य करने के पश्चात् अवकाश प्राप्त करने पर व्यक्ति उपन्यास पठन की ओर प्रवृत्त होता है, पर यह सत्य नहीं है कि ऐसा वह मात्र मनोरञ्जन के लिये करता है। साथ ही यह भी सत्य नहीं है कि उपन्यासों का एकमात्र उद्देश्य मनोरञ्जन एवं आनन्द तत्वों का प्रति-पादन ही होता है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, उपन्यासों का प्रमुख उद्देश्य सृजनात्मक होता है और जीवन की यथार्थता एवं सत्यता से परिचित कराना, व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य निकट सामीप्य स्थापित करना और मनुष्य के असन्तोष एवं पीड़ादायक परिस्थितियों में आशा और विश्वास उत्पन्न कर निर्माण की ओर दिशोन्मुख करना ही होता है। मनोरञ्जन उपन्यास रचना की प्रक्रिया का मात्र एक अंश हो सकता है, अन्तिम उद्देश्य नहीं। वस्तुतः जीवन की सत्यता से मुख मोड़ना अपने आपको ही नहीं सारे राष्ट्र एवं समाज को गुमराह करना होता है। उपन्यासकार का वास्तविक दायित्व मानव-जीवन की सत्यता एवं स्वाभाविकता से पाठकों का निकट तादात्म्य स्थापित करना होता है और इस कर्तव्य एवं दायित्व की उपेक्षा करना कला के प्रति जबर्दस्त विश्वासघात होता है। लेखक अपने दृष्टिकोण में आदर्शवादी हो सकता है, पर आदर्शवाद का यह उद्देश्य कदापि नहीं होना चाहिये कि वह सत्य और यथार्थ से आँखें मूँद कर एक नितान्त यान्त्रिक, अस्वाभाविक एवं काल्पनिक जगत् में अपने पाठकों को ले जाये और विचित्र-सी भूलभुलैया में डाल कर उन्हें एक स्वप्निल नशे से उन्मादग्रस्त और दिग्भ्रान्त करे। इसका प्राप्य क्या होगा? यदि उपन्यास जीवन को गतिशीलता प्रदान करने एवं दिशोन्मुख करने के साधन हैं, तो क्या उसे भ्रमपूर्ण मरीचिकाओं में, जो अवास्तविकताओं से आच्छादित हैं, ले जाने से ही इस दायित्व की पूर्णता होगी? और यदि नहीं, तो फिर प्रेमाश्रम, सेवासदन, वरदान, प्रतिज्ञा, परख, प्रेमपथ, निमन्त्रण और पतिता की साधना जैसे किस आदर्श की पूर्ति करते हैं? ये सभी जिस आदर्श

का स्थापना करते है अगर वसी स्थिति समाज मे स्थापित हो जाये तो उससे अच्छा और कोई व्यवस्था नही हो सकती पर जिस प्रक्रिया के दौरान से होकर ये उपन्यास विभिन्न आदर्शो की स्थापना करते हैं, क्या इस सृष्टि मे वे सहज सम्भव हैं—जब इस प्रश्न पर हम विचार करने को प्रस्तुत होते हैं, तो अपने को निरे शून्य की स्थिति में पाते हैं। वे आध्यात्मिक जगत् की बाते तो हो सकती हैं पर निश्चय ही इस सृष्टि की नहीं, जिसमे हम साँस ले रहे हैं, जी रहे हैं।

आदर्शवाद न्यायपूर्ण मान्यताओं एवं विचारधाराओं के प्रति गहनतम आस्था रखता है और अन्याय का दमन कर न्याय की सार्वभौमिक सत्ता स्वीकार करता है। इस न्यायपक्ष की विजय के सम्बन्ध में आदर्शवादी इतना आश्वस्त रहता है कि उसे अपनी आत्मा का हनन कर आत्म-प्रवञ्चना का शिकार बनने में भी कोई सङ्कोच नहीं होता। इस सन्दर्भ में उसे आत्मसम्मान और आत्मगौरव का किञ्चित्मात्र भी ध्यान नहीं रहता और एक प्रकार से वह न्याय की भीख माँगता है। वस्तुतः न्याय है क्या ? न्याय की मान्यताएँ भी समाज और काल की दृष्टि से परिवर्तनशील है। पहले बाल-विवाह न्याय था, आज बाल-विवाह नियमोल्लङ्घन है। रूसो ने लिखा है, पहले (लगभग १७वीं शताब्दी में) नारियों का सुन्दर होना ही उनके अच्छे भाग्य एवं जीवन के लिये अनिवार्य माना जाता था। उन्हें ही प्रत्येक क्षेत्र में प्राथमिकता दी जाती थी और उन्हे ही थोड़े बहुत अधिकार प्राप्त थे। तब की स्थिति में नारी का अतीव सौन्दर्य ही न्याय था। पर आज कोई ऐसी बात सोच भी नहीं सकता। हो सकता है कि शीघ्र ही कोई ऐसी व्यवस्था आये (और निश्चय ही आयेगी), जब मृत्युदण्ड और अन्य दण्डों के स्थान पर सुधार करने के अनेक मनोवैज्ञानिक ढङ्ग अपनाये जाने लगें। यह अवश्य है, इसमें शताब्दियाँ लग सकती हैं। इसी परिवर्तनशील-न्याय के लिये आदर्शवादी दुहाई देता फिरता है। वह कहता है, व्यक्ति जूते खाता रहे पर उसे न्याय-पक्ष की विजय की आशा कभी नहीं छोड़नी चाहिये, क्योंकि अन्त में न्याय-पक्ष की विजय होगी ही। 'रंगभूमि' में सूरदास ऐसा ही पात्र है, जो निरन्तर दुःख के थपेड़े खाते रहने पर भी न्याय-पक्ष की विजय का दामन कभी नहीं त्यागता। 'गोदान' में भी होरी की यही स्थिति है। पर यह विशेषता भी एक काल्पनिकता से सम्बन्धित है। संसार में सदैव न्याय-पक्ष की विजय नहीं होती है और आज की परिवर्तित परिस्थितियों में तो सत्य एवं न्याय से बढ़ कर खोखले और कोई शब्द नहीं हैं। यह ठीक है कि सदैव न्याय की विजय होनी चाहिये, पर यह दूसरी बात है। जहाँ तक उपन्यासों का सम्बन्ध है, यदि न्याय-पक्ष की विजय कथानक के स्वाभाविकता की रक्षा के साथ होती है, तो किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती, पर यदि यह सब यान्त्रिक ढङ्ग से होता है, तो वह विवेकहीनता मात्र है।

आदर्शवाद का पात्रों से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। आदर्शवाद अपनी धारणाओं एवं मान्यताओ के अनुसार ऐसे पात्रों की परिकल्पना पर बल देता है, जो उपर्युक्त विशेषताओं से तो सम्पन्न हो ही, साथ ही उनमें चारित्रिक निष्ठा भी हो और उनका चरित्र दुर्बल तत्वों से पोषित न हो। आदर्शवादी यह नही चाहता कि उसके द्वारा सिरजे गये पात्र परिस्थितियों से विवश होकर ...नैतिकता की राह अपनाये और हत्या करे, चोरी करे, असत्य बोले, स्वयं भी गुमराह हो और ...सरों को भी गुमराह बनाये असत्य पक्ष को जीवन के उन दुर्बल पक्षों को ...
...रे ओ दृष्टिकोण से नितान्त रूप से भी मेल न खाती हो पात्र कुछ

इस प्रकार का होगा कि संसार की सभी आदर्शवादी मान्यताएँ उसमें सिमट आएँगी और वह प्रकाश के किसी देदीप्यमान् पुञ्ज की भाँति चमत्कृत होता रहेगा। उसके जीवन का सात्विक पक्ष इतना प्रबल होगा कि किसी भी प्रकार की आसुरी प्रवृत्तियाँ उसके निकट नही आती प्रतीत होगी और वह सद्प्रवृत्तियों का एक पुतला मात्र बन कर रह जायेगा। स्पष्ट है, ऐसा पात्र स्वाभाविकता की सभी सीमाएँ लाँघ जायेगा और हमारे सामने एक स्वप्निल संसार का निर्माण करेगा। पर न तो कोई व्यक्ति मात्र सात्विक प्रवृत्तियो से ही ओत-प्रोत रहता है और न किसी व्यक्ति मे मात्र आसुरी प्रवृत्तियाँ ही आसन जमाये रहती हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति या तो मात्र देवता ही बन कर रह जायगा या मात्र असुर। ऐसे पात्र इस मानवीय सृष्टि के पात्र नहीं हो सकते यह सुनिश्चित है। यों सम्भव है कि अपवादों के रूप में कहीं कोई ऐसा व्यक्ति निकल आये, पर उपन्यासकार का यह दायित्व नहीं है कि वह मात्र इन अपवाद स्वरूप पाये जाने वाले व्यक्तियों को चित्रण का आधार बनाये और उपन्यास की रचना-प्रक्रिया में प्रवृत्त हो। कथा का वैशिष्ट्य सामान्य व्यक्तियों के यथार्थ-चित्रण में है, अपवाद स्वरूप पाये जाने वाले व्यक्तियों के अस्वाभाविक चित्रण मे नहीं। इस दृष्टिकोण से जब हम हिन्दी उपन्यासों पर दृष्टिपात करते हैं, तो पूर्व-प्रेमचन्द काल और प्रेमचन्द काल में ऐसे अस्वाभाविक आदर्शवादी पात्रों का बाहुल्य प्राप्त होता है। पर यही स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि इन पात्रों की सृजनात्मकता की पृष्ठभूमि में आदर्शवादी मान्यताएँ क्रियाशील थीं, यह तो ठीक है, पर उन परिकल्पनाओं का प्राप्य क्या हुआ? इस प्रश्न पर हमे साहित्य एवं समाज दोनों के ही सन्दर्भ में व्यापक दृष्टि से विचार करना होगा। ऐसे आदर्शवादी पात्र जीवन और जगत् को अपने आदर्शों से चमत्कृत अवश्य ही कर सकते हैं और कुछ थोडे से भावुक व्यक्तियों की मनःस्थिति को प्रभावित भी कर सकते हैं, पर स्पष्टतः वे यथार्थ से कोसों दूर रहते हैं और कभी-कभी तो लेखक की विवेकशून्यता की स्थिति में वे पात्र अस्वाभाविकता की भी चरम सीमा स्पर्श कर जाते हैं। ऐसी स्थिति में बौद्धिक वर्ग के पाठकों के लिये ये आदर्शवादी पात्र कुछ विशेष महत्व नहीं रखते क्योंकि यह तो स्पष्ट रहता ही है कि ऐसे पात्रों के चरित्रो मे जो भी परिवर्तन होते हैं, सभी यान्त्रिक होते हैं और स्वयं पात्रों का उन परिवर्तनों से कोई सम्बन्ध नही होता है। यह बात सदैव ही स्मरणीय है कि साहित्य में वही पात्र शाश्वत होते हैं एवं युग-युगों तक अमर रहते हैं, जो मानव-जीवन की सत्यता के प्रतीक होते हैं और जिनका ताना-बाना स्वाभाविकता के परिवेश में निर्मित होता है। इसे हम दूसरे शब्दों में यथार्थवादी प्रक्रिया की कला कह सकते हैं। जो तथ्य यथार्थ से दूर हैं, वह जीवन से भी दूर है और इसीलिये वह जीवन में महत्त्वशून्य है।

आदर्शवाद की प्रमुख विशेषताओं पर इस विवेचन के पश्चात् हम यहाँ इस प्रश्न पर भी विचार कर सकते हैं कि क्या इन अनेक दुर्बलताओं के बाद आदर्शवाद को पूर्णतया तिरस्कृत किया जा सकता है? इसका उत्तर स्पष्ट है, जैसा कि ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि आदर्शवाद नैतिक मान्यताओं, संस्कृति, सभ्यता एवं आदर्शों के ही स्तम्भो पर आधारित है। जो साहित्य मूल्य मर्यादा रहित है, आदर्शच्युत है, वह हमारे लिये मूल्यहीन है। प्रत्येक शाश्वत साहित्य किसी उच्च-आदर्श को सामने रख कर ही रचा जाता है और तभी उस साहित्य का कोई वास्तविक मूल्यान्वेषण हो सकता है पर इस आदर्श की रक्षा या प्रस्तुतीकरण का यह तात्पर्य

कदापि नही है कि आदश का आवरण साहित्य पर इतने गहन रूप से आच्छादित हो जाये कि उसकी सामाओ के बधनो मे साहित्य के दम घुटने लगे और उन्मुक्त वायु मे श्वास ग्रहण करने के लिये उसकी आत्मा छटपटाने लगे। अनावश्यक नियन्त्रण साहित्य को बोझिल कर देता है, उसका गला घोंट देता है। शाश्वतता के लिये आदर्श को यथार्थ की कठोर भूमि पर खड़े होने का प्रयत्न करना होगा, तभी रचा गया साहित्य मूल्य-मर्यादा युक्त भी होगा, साथ ही उसमे स्थायित्व भी होगा। हमें यह बात सदैव ही स्मरण रखनी होगी कि सर्वत्र आदर्श ही आदर्श से व्याप्त साहित्य मूल्यहीन है, क्योंकि आज का हमारा मानव जीवन भी इस आदर्श से कोसो दूर है। आज का मानवजीवन कहीं से पूर्ण नहीं है। वह विशृंखलित है, जर्जर है, और विवशता की प्रक्रिया में जीने की एक प्रक्रिया-मात्र है। साहित्य कभी भी इस यथार्थ एवं सत्य के प्रति उपेक्षणीय नही रह सकता। वास्तव में श्रेष्ठ साहित्य की रचना आदर्श एवं यथार्थ के परस्पर समन्वय से ही हो सकती है।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. पूर्व-प्रेमचन्द काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, मेहता लज्जाराम शर्मा, लाला श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट तथा किशोरीलाल गोस्वामी आदि सभी सामाजिक सङ्घर्षों में भाग लेने वाले थे। उनका साहित्य उनके सामाजिक सङ्घर्षों और समकालीन सामाजिक समस्याओं का सैद्धान्तिक एवं साहित्यिक समाधान प्रस्तुत करता है। वह साहित्य उनके सामाजिक व्यक्तित्व से घनिष्ठतम रूप में सम्बन्धित है।

२—गोर्की, लिट्रेचर एण्ड लाइफ़।

३—वही।

४. यह विशेषता अज्ञेय-कृत 'शेखर : एक जीवनी', इलाचन्द्र जोशी कृत 'जहाज़ का पक्षी' तथा इन पंक्तियों के लेखक के नवीनतम उपन्यास 'एक और अजनबी' में चित्रित हुई है।

५. "Thoughts, or ideas, or notions, not in kind, but in force. It has commonly been supposed that these distinct thoughts which effect a number of persons, at regular intervals, during the passage of a multitude of other thoughts, which are called real or external objects are totally different from those which affect only a few persons and which recur at irregular intervals and are usually more obscure and indistinct, such as hallucinations, dreams and the ideas of madness. No essential distinction between anyone of these ideas, or any class of them is founded on a correct observation of the nature of the things, but merely on a consideration of what thoughts are most invariably subservient to the security and happiness of life and if nothing more were expressed by the distinction the philosopher might safely accommodate his language to that of the vulgar But they

pretend to assert an essential difference, which has no foundation in truth, and which suggests a narrow and false conception of universal nature, the parent of the most fatal errors in speculation. A specific difference between every thought of the mind, is, indeed, a necessary consequence of that law by which if perceives diversity and number, but a generic and essential difference is wholly arbitrary."—शेली, स्पेकुलेशन ऑन मेटाफ़िज़िक्स।

६. "Change the surroundings in which man lives and in two or three generations, you will have changed his physical constitution, his habits of life and a goodly number of his ideas."—जॉर्ज मूर : ए ममर्स वाइफ़ (१८८५), उपन्यास।

७. "Idealism is the phoenix of philosophy and any philosophy reckons ill that leaves it out. The imperishable element in idealism is the curious fact that, in so far as its essence is concerned, whenever we deny it we somehow affirm it. It was for this reason that Royce (एक पाश्चात्य विद्वान) liked to hear condemnations and refutations of idealism for they served only to bring out more clearly the irrefutable element in idealism."
—लुडविग स्टीन : लेक्चर्स ऑन मॉडर्न आयडियलिज़्म, पृष्ठ २४०

८. "The driving force of idealism, as I understand is not furnished by the question how mind and reality can meet consciousness, but by the theory of logical stability (Italics mine) which makes it plain that nothing can fulfill the conditions of self-existence except by possessing the unity that belongs only to mind."—बोसांके : लॉजिक, (द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३२२)

भारतेन्दुयुगीन काव्य में प्रमुख लोकदेवता तथा लोकदेवियाँ

विमलेशकान्ति वर्मा

लोक-जीवन में देवी-देवताओं का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। इन्हीं देवी-देवताओं की उपासना कर एक साधारण अपढ़ तथा गँवार व्यक्ति आज भी समझता है कि उसे कार्य मे सिद्धि मिलेगी और उसकी मनोकामनाएँ पूर्ण हो सकेंगी। इन देवताओ की उपासना के अनुष्ठान रूप में वह आज भी विशेष अवसरों पर, एक पत्थर के टुकड़े पर जल-पुष्प चढ़ाता तथा श्रद्धा ओर भक्ति से नतमस्तक हुआ देखा जा सकता है। अशिक्षित तथा असंस्कृत समुदाय में ही नही, बड़े-बड़े शिक्षित समुदाय वाले भी एक साधारण पत्थर के टुकड़े की पूजा, तुलसी की पूजा तथा सूरज देवता को जल चढ़ाते हुए देखे जाते हैं। सिद्ध है कि देवोपासना की प्रवृत्ति एक विशिष्ट वर्ग तक ही सीमित नहीं है, इसका क्षेत्र व्यापक है। क्षेत्र व्यापकता के साथ ही साथ पत्थर, पेड़-पौधे तथा नदियों की उपासना का मूल भी प्राचीन है और इनका सम्बन्ध आदिम-मानव संस्कृति तक से है।

अधिकांश लोक-देवता तथा लोक-देवियों की कल्पना आदिम-मानव मस्तिष्क में दो कारणो से हुई प्रतीत होती है। प्रथम आदिम मानव प्राकृतिक शक्ति का उपासक था। प्रत्येक प्राकृतिक वस्तुएँ—चाहें वे वन हों, नदियाँ, पहाड़ हों, सूर्य चन्द्र या अन्य नक्षत्रगण हों—उसे शक्ति रूप मे ही दिखती थीं। इन प्राकृतिक शक्तियों, जिनसे उसे या तो अपने जीवन की हानि का भय था या अपने जीवन के एक मात्र आधार कृषि के नष्ट होने का डर था, उसकी उपासना उसने प्रारम्भ कर दी थी। उदाहरणार्थ नदियों से आदिम-मानव को बाढ का भय था, जिससे कृषि नष्ट हो सकती थी, सूर्य अपनी ऊष्णता, चन्द्र अपनी शीतलता तथा नक्षत्रगण उल्कापात से कृषि को, जो उसके जीवन का एक मात्र आधार थी, नष्ट कर सकते थे। नाग आदि विषधर जानवर क्षण भर में मनुष्य को मृत्यु की शय्या पर सुला सकते थे, अतः जीवन तथा जीवनाधार कृषि की रक्षा हेतु इन शक्तियों से आतङ्कित होकर मानव ने अति प्राचीन काल से इनकी उपासना तथा इन्हे प्रसन्न करने के हेतु अनेकानेक अनुष्ठानादि प्रारम्भ कर दिये थे और यही शक्ति उपासना का प्राचीन तत्त्व अवशेष रूप मे आज भी चला आ रहा है

आदिम-मानव ने, हानि के अतिरिक्त जो वस्तुएँ लाभप्रद थीं, उन्हें भी कृतज्ञतावश तथा लाभान्वित होने की इच्छा से उनकी भी उपासना आरम्भ कर दी—उदाहरणार्थ गऊ तथा तुलसी आदि की उपासना। किन्तु अवधेय है कि भयग्रस्त होकर उपासना करना जितना स्वाभाविक है उतना कृतज्ञतावश नहीं। यही कारण है कि अधिकांश शक्तियों की उपासना भय-प्रवृत्ति के कारण ही आरम्भ हुई प्रतीत होती है।

इसके अतिरिक्त वीरपूजा (Hero Worship) के रूप में भी अनेक देवी-देवताओं की उपासना प्रारम्भ हुई थी।[१] कुछ विद्वानों का तो कहना है कि प्रत्येक देवी-देवताओं का मूल, वीरपूजा तथा पूर्वज पूजा है।[२] इस धारणा के अनुसार विशिष्ट व्यक्तियों का या तो अपने जीवन-काल में विशेष आतङ्क तथा प्रभाव रहा होगा इसलिये लोगों ने उसके जीवन-काल से ही उसे पूजना प्रारम्भ कर दिया या कोई व्यक्ति-विशेष दया, धर्म, शौर्य आदि के कारण विशेष जन-प्रिय रहा होगा, इसलिये लोगों ने उसकी मृत्यु के बाद या उसके जीवन-काल में ही उसे विशेष महत्त्व दिया और स्मृतिरूप में उसका पूजन प्रारम्भ कर दिया और वह जनप्रिय व्यक्ति ही पूजित होते-होते देवता बन गया। यह वीरपूजा वाली धारणा यद्यपि काफ़ी दूर तक एक सत्य तथा मानव प्रवृत्ति की ओर सङ्केत करती है, पर सर्वांश में यह सत्य नहीं कि अनेक देवी-देवताओं का प्रचलन वीरपूजा के रूप में न होकर 'प्रकृति शक्ति' या अन्य किसी कारण से हुआ। बहुत से लोक-देवताओं का प्रतीक रूप में ही ग्रहण भी हुआ है।

भारतेन्दुयुगीन हिन्दी काव्य में उल्लिखित लोक-देवताओं तथा लोक-देवियों का वर्गीकरण करने तथा उनकी विशेषताओं पर कुछ लिखने के पूर्व लोक-देवताओं की सामान्य प्रवृत्ति तथा स्वरूप पर भी विचार करना आवश्यक है।

लोक-देवताओं का स्वरूप तथा प्रकृति—लोक-देवताओं की प्रकृति तथा स्वरूप के विषय मे सामान्यरूप से निम्न विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है :—

१—लोक-देवताओं की संख्या अनन्त है तथा प्रत्येक जिले में ही कई देवताओं का प्रचलन है। प्रत्येक लोक-देवता का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है और एक स्थान के लोक-देवता को दूसरे क्षेत्र के लोग जानते तक नहीं हैं, यद्यपि दोनों क्षेत्रों में दूरी का अन्तर बहुत ही कम है।

२—लोक-देवता प्रायः एक विशिष्ट क्षेत्र के स्वामी रूप में पूजित होते हैं।

३—लोक देवताओं के पीछे कोई दार्शनिक भूमिका नहीं होती, उनका सम्बन्ध जीवन के सामान्य तथ्यों से होता है जैसा कि कालरा, चेचक आदि रोगों की भी देवियाँ हैं।

४—अनेक लोक-देवता प्राकृतिक शक्ति रूप में ही पूजित होते हैं जैसे गोवर्धन, विंध्याचल पीपल, बरगद आदि।

५—प्राकृतिक शक्ति रूप के अतिरिक्त अनेक लोक-देवताओं का सम्बन्ध वीरता या ग्राम-देवता के रूप में तथा रोग निरोध शक्तियों के रूप में भी है।

६—अनेक लोक-देवता पशुवर्ग के भी हैं।

७—मृतक आत्माओं के रूप में भी लोक-देवताओं का पूजन होता है।

८ शक्ति-प्रधान के साथ पशुबलि या कहीं-कहीं मानवबलि का सयोग भी है

९---अनेक लोक देवताओ का पूजन किसी विशेष स्वरूप को सामने रखकर नही होता वरन साधारण रूप मे पत्थर रखकर या त्रिशूल आदि गाडकर ही होता है उनकी कोई निश्चित आकृति नहीं दी जाती।

१०---उत्तर भारत के अधिकांश लोक-देवता पुरुषवर्ग के हैं जबकि दक्षिण भारत मे अधिकांश देवता स्त्रीवर्ग के हैं। वाइटहेड नामक प्रख्यात विद्वान् ने इस विशेषता पर विचार करते हुए लिखा है---चूँकि उत्तर भारत पर आर्यों का शासन रहा और वे लड़ाकू वर्ग के थे। युद्ध-प्रिय स्वभाव पुरुषवर्ग का ही हो सकता है अतः उनके देवता पुरुष वर्ग के ही रहे। दक्षिण भारत के देवताओं का सम्बन्ध प्रायः कृषि से है। युद्ध जहाँ पुरुषवर्ग से सम्बन्धित है, वहीं दूसरी ओर कृषि का सम्बन्ध स्त्रियों से है, अतः कृषि से सम्बन्धित देवता स्त्रीवर्ग के हैं।

११---लोक-देवताओं के नामों की निरुक्ति के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। केवल लोक-देवताओं के सम्बन्ध में प्रचलित विश्वास तथा तत्सम्बन्धित अनुष्ठान मात्र के विषय में ही बताया जा सकता है।

१२---लोक-देवताओं के सम्बन्ध में उनकी उत्पत्ति किस रूप में हुई तथा किस समय हुई, इस सम्बन्ध में केवल सङ्केत ही किया जा सकता है। निश्चित प्रमाणो के प्राप्त न होने के कारण निश्चित रूप में कुछ कहा नहीं जा सकता।

लोक-देवताओं के स्वरूप तथा प्रकृति पर विचार करते समय इस बात का सङ्केत कर देना भी आवश्यक है कि लोकदेवताओं का पौराणिकीकरण तथा पौराणिक-देवताओं का लौकिकीकरण भी बहुत हुआ है। अनेक लोक-वर्ग अर्थात् अशिक्षित, असभ्य, ग्रामीण तथा असस्कृत वर्ग के देवताओं को कालान्तर में पौराणिक स्वरूप दिया गया है। उनके विषय मे विशेष अन्तर्कथाएं तथा धार्मिक पृष्ठभूमियाँ आदि जोड़ दी गई हैं। इसी प्रकार अनेक पौराणिक देवताओं को लोक-वर्ग ने भी अपनाया है और उनके धार्मिक तथा पौराणिक स्वरूप को अधिक प्रमुखता न देकर उनको लोक-रूप भी दिया है। इसके विपरीत जहाँ एक ओर अनेक लोक-वर्ग के देवताओं तथा देवियों को पौराणिक स्वरूप तथा पौराणिक देवताओं को लोक-रूप दिया गया है वही दूसरी ओर लोक-वर्ग के अनेक ऐसे देवी-देवता हैं जिन्हें पौराणिक या शास्त्रीय स्वरूप नही दिया गया है। वे केवल लोक-वर्ग में ही प्रचलित हैं, पुराणादि में उनका उल्लेख तक नही मिलता। इसी प्रकार अनेक ऐसे पौराणिक देवता भी है जिनकी सूची केवल धर्मग्रन्थों मे ही मिलती है, लोक-वर्ग में उनका यत्किञ्चित् भी प्रचलन नहीं है। इस प्रकार प्रस्तुत निबन्ध मे लोक-देवता तथा लोकदेवियों से तात्पर्य केवल निम्नलिखित देवताओं तथा देवियो की कोटि से ही है :---

१---जो देवता तथा देवियाँ केवल लोक-वर्ग में ही प्रचलित हैं, और जिनका कोई भी पौराणिक स्वरूप नहीं है।

२---जो देवता तथा देवियाँ मूलतः लोक-वर्ग के हैं और जिनका आज भी लोक-वर्ग मे व्यापक प्रचार है, पर आज जिनकी पौराणिक स्थिति भी है।

३---वे देवता तथा देवियाँ जिनके उल्लेख यद्यपि काफ़ी प्राचीन ग्रन्थों में ही मिलते हैं पर जिनका स्वरूप विशेष रूप से पौराणिक काल मे ही बना और वे पौराणिक देवता ही अधिक हैं

तथा कालान्तर में वे लोक-वर्ग द्वारा अपना लिये गये और उनके साथ लोक-प्रवृत्ति के अनुरूप ही विभिन्न लोक-विश्वास तथा लोक-गाथाएँ आदि जुड़ गईं।

भारतेन्दुयुगीन काव्य में तीनों कोटि के देवताओं का उल्लेख मिलता है, जिससे उनके लोक प्रचलित स्वरूप तथा स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। किन्तु सच्चे अर्थो में लोक-देवताओं की कोटि में प्रथम दो कोटि के ही देवता आते हैं। तीसरी कोटि के देवता पौराणिक अधिक हैं। लोक-वर्ग में न तो उनकी मान्यता ही प्रथम दो कोटि के देवताओं के समान है और न ही लोक-वर्ग उनके पूजन तथा उनके अनुष्ठान पर विशेष बल ही देता है। वह केवल तीसरी कोटि के देवताओं के प्रति श्रद्धा मात्र रखता है और उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखता है। अतएव प्रमुख लोक-देवताओं तथा लोक-देवियों की दृष्टि से प्रथम दो कोटि के देवताओं का ही विशेष महत्त्व है और प्रस्तुत निबन्ध में प्रथम दो कोटि के लोक-देवताओं तथा लोक-देवियों के सम्बन्ध मे ही विवेचन प्रस्तुत किया गया है। भारतेन्दुयुगीन काव्य में उल्लिखित प्रथम दो कोटि के देवता तथा देवियाँ हैं। भारतेन्दुयुगीन काव्य में उल्लिखित प्रथम कोटि के देवता, अर्थात् जिनका प्रचलन केवल लोक-वर्ग में ही है पर पौराणिक-स्वरूप कोई भी नहीं है, निम्नलिखित हैं—

बुचरा—प्रतापनारायण मिश्र ने इनका उल्लेख बुचरा तथा बुचरी पीर दोनों ही नामो से किया है।[३] लोक-वर्ग में यह हिजड़ों के देवता रूप में प्रसिद्ध हैं और यह बड़े शक्तिवान् हैं। प्रतापनारायण मिश्र ने लोक-वर्ग में हिजड़ों के मध्य इनके सम्बन्ध में प्रचलित इस लोक-विश्वास का भी उल्लेख कानपुर-माहात्म्य में किया है कि पृथ्वी इन्हीं की अँगुली पर केन्द्रित है और चूँकि यह अपनी अँगुली को बराबर नचाया करते हैं इसी से पृथ्वी चञ्चल रहा करती है। इस लोक-विश्वास के अतिरिक्त लोकोक्ति रूप में 'घर के भीतर बड़े लड़ैया बाहर बुचरा के अवतार' में भी बुचरा का उल्लेख हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि यह हिजड़ों के मध्य तो शक्तिशाली देवता माने जाते हैं पर लोक-वर्ग में (हिजड़ों के अतिरिक्त) इनकी शक्तिहीन देवता के रूप में ही स्वीकृति है। मूल रूप में सम्भवतः पीर से युक्त होकर सम्बोधित होने वाले यह बुचरी पीर मुसलमानो के ही देवता रहे होंगे किन्तु आज लोक-वर्ग में इनका अत्यधिक प्रचार है और गाजी पीर आदि की तरह ही मूलतः मुसलमानों से सम्बन्धित होकर भी यह आज हिन्दुओं के मध्य पूजे जाते हैं और लोकवर्ग में इनकी विशिष्ट स्थिति बन गई है।

नारसिंह बाबा—नारसिंह बाबा भी एक लोक-देवता हैं और इनकी उपासना एक छोटे तथा अति सीमित वर्ग में ही होती है। प्रतापनारायण मिश्र ने आल्हा में नारसिंह बाबा को स्मरण कर सहायता की याचना की है कि वह जन्मभूमि का यश गाने जा रहे हैं किसी प्रकार की त्रुटि न हो।[४] क्रुक ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'इण्ट्रोडक्शन टु पापुलर रिलीजन एण्ड फोक लोर ऑफ़ नादर्न इण्डिया' में इनका उल्लेख किया है।[५] क्रुक का कहना है कि अनेक पीरों के क़ब्रिस्तानों पर प्रायः वार्षिक रूप में मुसलमान उत्सव रूप में उर्स करते थे। यह उर्स प्रायः उन विशिष्ट मुसलमान व्यक्तियों की यादगार में मनाये जाते थे, जो हिन्दुओं के कट्टर शत्रु थे तथा धर्म के लिये हिन्दुओं के साथ युद्ध करने में, युद्ध में ही काम आये थे। कालान्तर में नीच वर्ण के हिन्दू भी, उन्हीं पीरों के उर्स में सम्मलित होने लगे जो उनके ही विरोधी थे और धीरे-धीरे उनकी उपासना भी करने लगे उर्स मे सम्मिलित होकर उन हिन्दुओं ने कहना शुरू किया कि वे उस फ़क़ीर के

जिसका स्मृति मे उस आदि मनाया जा रहा है के जीवन काल मे शिष्य थे तथा मत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारी है नारसिंह बाबा भी एक एसे ही व्यक्ति थे जो एक फकीर के चप्पल रखे हुए थे तथा कहते हैं कि वे उस पीर के जीवन काल में शिष्य थे और अब उत्तराधिकारी है। निश्चित है कि यह नारसिंह बाबा भी अपने जीवन काल में ही चप्पल पूजते-पूजते लोक-वर्ग द्वारा पुजने लगे होंगे और उनकी मृत्यु के बाद तो लोक-वर्ग मे उनका महत्त्व और भी बढ़ गया होगा और वे देवता रूप में पुजने लगे होंगे। प्रतापनारायण मिश्र ने सम्भवतः नारसिंह बाबा के प्रसिद्ध लोक-माहात्म्य से परिचित होकर ही उनकी स्तुति की तथा उन्हे इतना महत्त्व दिया।

गाजीपीर—कानपुर-महात्म्य में नारसिंह बाबा के साथ ही गाजीपीर का भी उल्लेख हुआ है।[६] गाजीपीर भी आज निम्नवर्ग की हिन्दू जातियों—पासी, चमारों आदि में बड़ी श्रद्धा से पूजे जाते हैं। यह एक वीर देवता (Heroic Godling) हैं। मूलतः गाजीपीर मुसलमानों के पीर हैं गाजीपीर की स्मृति में बहराइच, गोरखपुर और बदोही आदि स्थानों में वार्षिक समारोह होता है। इसमें मुसलमान तथा निम्न वर्ण के हिन्दू सभी सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार गाजीपीर मुसलमानों के पीर तो हैं ही, हिंदुओ के भी देवता बन गये है। लोक-वर्ग में आज इनका व्यापक प्रचार है और यह लोक-देवता रूप में ही स्मरण किये जाते हैं। प्रतापनारायण मिश्र ने इनका उल्लेख मात्र किया है, इसलिये इनके लोक-प्रचलित रूप पर यत्किञ्चित् भी प्रकाश मिश्र जी के काव्य से नहीं पड़ता है।

अली मुरतिजा—कानपुर-महात्म्य, दङ्गल खण्ड में बजरङ्गबली के साथ-साथ अली मुरतिजा का भी उल्लेख हुआ है।[७] वीरत्व के अधिष्ठाता बजरङ्गी तथा युद्ध प्रकरण में अली मुरतिजा का उल्लेख होने से ही यह सिद्ध है कि यह भी वीर देवता (Heroic Godling) हैं, जो मूलत. मुसलमानों से सम्बन्धित थे किन्तु अब समस्त लोकप्रिय वर्ग से सम्बन्धित हो गये हैं और आज लोक-वर्ग में बजरङ्गी के समान ही युद्ध के समय तथा वीरता प्रदर्शन करने के पहले स्मरण किये जाते हैं। एक अन्य स्थल[८] पर आल्हा दङ्गल खण्ड में अली मुरतिजा के उल्लेख से पता चलता है कि सम्भवतः यह किसी युद्ध के बड़े सेनानी थे तथा उन्होंने खैबरगढ़ को नष्ट किया था और विपक्षियों को विशाल संख्या में मारा था, जिसके कारण ही लोग इन्हें पूजने लगे और यह लोक-वर्ग में वीर देवता बन गये।

गऊमाता—गाय की उपयोगिता समझकर भारतवासियों ने अति प्राचीनकाल से ही गाय को देवता मानकर उपासना प्रारम्भ कर दी थी। पशु-पूजा (Animal Worship) के विश्व में अनेक उदाहरण प्राप्त हैं।[९] लोकमानस की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि उसने जिसे उपयोगी समझा उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखा और उसकी सन्तुष्टि हेतु उसका सम्मान किया, पूजन किया, जिससे वह सन्तुष्ट होकर और अधिक लाभप्रद हो सके। गाय चूँकि दूध, दही, कृषि, मक्खन सभी दृष्टियों से लाभप्रद थी इसलिये लोक-वर्ग में इसकी उपासना स्वाभाविक ही है। भारतेन्दु-युगीन कवियों ने गऊ की महत्ता सम्बन्धी अनेक छन्द लिखे हैं।[१०] गऊ की महत्ता बतलाते हुए प्रतापनारायण मिश्र कहते हैं—"हे गऊमाता! तुम्हारा स्मरण करता हूँ, सबसे बड़ी कीर्ति तुम्हारी ही है, तुम बच्चों का पालन-पोषण-करती हो और वैतरणी (स्वर्ग मार्ग की एक लोक कल्पित नदी) पार कराती हो। तुम्हारे दूध दही गोबर जिसके स्पर्श से ही व्यक्ति पवित्र हो जाता है—की

महिमा प्रसिद्ध ही है। हे माँ ! चारों युग में तुम्हारी पूजा हुई है। कृष्ण का गोपाल नाम तुम्हारे ही कारण प्रसिद्ध हुआ है। तुम्हारी महिमा अनन्त है। तुम घास के बदले दूध देती हो, मृत्यु के बाद भी हड्डी और चमड़ा। तुम्हारा यह उपकार अतुलनीय है। इसीलिये छोटे और बड़े सभी तुम्हें माता कहकर पुकारते हैं।"[११] गाय के लिये देवता माता आदि अनेक सम्बोधनों का प्रयोग हुआ है।[१२] अवधेय है कि भारतेन्दु युग में अंगरेजी राज्य होने के कारण गऊ बध बहुत होता था इसलिये उससे दुखी होकर तत्कालीन कवियों ने गऊ की महत्ता सम्बन्धी अनेक छन्द लिखे हैं। इस बात को ही ध्यान में रखकर कहा गया है कि तुम्हारी दयनीय अवस्था तथा अपमान होते देखकर जो नहीं पसीजता वह हिन्दू नहीं है, वह राक्षस, पापी और चाण्डाल है।[१३]

नागदेवता—नाग का पूजन भारत मे ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व में विभिन्न समयों पर तथा विभिन्न प्रकार से होता है। भारत में तो श्रावण मास में नागदेवता के सम्मान में नागपञ्चमी का उत्सव मनाया जाता है और स्त्रियाँ घरों में नागों का चित्र बनाकर विशेष अनुष्ठान के साथ उनकी पूजा करती हैं। लोक-वर्ग मे नाग, देवता रूप में पूजित होते हैं। भारतेन्दुयुगीन-काव्य में नाग के देवता रूप[१४] का तथा इनके सम्मान में मनाये जाने वाले नागपञ्चमी के उत्सव[१५] का उल्लेख हुआ है। प्रेमघन ने पञ्चमी के दिन नागों का चित्र बनाने का उल्लेख भी किया है। नाग पूजा की विश्व-व्यापकता देखकर नृ-तत्त्वशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों तथा लोकवार्त्ताशास्त्रियो ने नागपूजन के मूल पर भी विचार किया है। नागपूजन क्यों प्रारम्भ हुआ, यह एक अत्यन्त विवादास्पद तथा जटिल विषय है। नागपूजन के मूल कारण की व्याख्या दो प्रकार से की गई है और इसके दो प्रकार से उत्तर दिये गये हैं। पहली व्याख्या ऐतिहासिक पक्ष को लेकर की गई है और दूसरी मनोवैज्ञानिक ढङ्ग की है।

नागपूजन के मूल की ऐतिहासिक व्याख्या करने वालों का कहना है कि अति प्राचीन काल में आर्यों से भी पहले, भारत में नाग नामक एक बलशाली जङ्गली जाति थी। भारत पर इस जाति का आर्यों के आगमन के पूर्व आधिपत्य था। जब आर्यों ने भारत में प्रवेश किया तो उन्हे इन नागवंशी योद्धाओं से लोहा लेना पड़ा किन्तु आर्य इनसे जीत न पाये अतः उन्होंने इनसे सन्धि करनी चाही। चूँकि नाग जाति अधिक बलशाली थी, इससे आर्यों को सदा इनसे दबना पड़ता था और नागवंशियों का सम्मान करना पड़ता था। बाद में सम्मान के साथ ही नाग-वंशी राजाओं का उन्होंने पूजन प्रारम्भ किया और नागवंशी राजाओं के आधिपत्य तथा गौरव को याद दिलाने वाला यह नागपूजन नागपञ्चमी पर आज भी होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि नागपञ्चमी के दिन सम्भवतः किसी नागवंशी राजा का राज्याभिषेक हुआ होगा और वही दिन उत्सव रूप में बाद में नागपञ्चमी उत्सव के नाम से प्रचलित हो गया। नागजाति एक ऐतिहासिक जाति थी, यह इतिहास से सिद्ध ही है। मध्यप्रान्त की कबर्धा रियासत में चौरा के माधव महल नामक मन्दिर में ३७ पंक्तियों का एक लेख मिला है जिसमें नागवंश के उद्गम का उल्लेख है। इस लेख में कहा गया है कि एक नागदेवता जिसने मनुष्य का रूप धारण कर लिया था, ऋषि जातुकर्ण की सुन्दर कन्या मिथिला पर मोहित हो गया। उससे एक बालक उत्पन्न हुआ, जिसका नाम अहिराज था। यह अपने पड़ोसी मुखियाओं को जीतकर राजा बन गया था। इस लेख में उल्लेख है कि कबर्धा तथा उसके पड़ोसी प्रदेशों पर नागवंशी राजाओं का आधिपत्य रहा

इसमें यह भ   ?ेर' है कि नागवशी कलचरी वश के राजाओ के जागीरदार हो गये थे जिनकी राजधानी रतनपुर था इस प्रकार प्रतीत हाता है कि नागवशी राजाओ की किसी समय भारत मे अच्छी स्थिति थी और उनका आधिपत्य था। ऐतिहासिक व्याख्या करने वालों का विचार है कि नागजाति के आतङ्क होने से लोगों ने नाग के रूप में उनका पूजन प्रारम्भ कर दिया। इस विचार से जिस प्रकार नागजाति के लोगों से लोग, उनके आतङ्क के कारण डरते थे उसी प्रकार नाग से भी लोग डरते हैं; क्योंकि नाग भी ज़रा सा क्रुद्ध होने पर क्षण भर में काटकर व्यक्ति को मृत्यु की शय्या पर सुला सकता है। अतः गुण साम्य के कारण नागजाति के लोगों का नाग प्रतीक बन गया। पर वैज्ञानिक दृष्टि से ऐतिहासिक व्याख्या के द्वारा नागजाति के कारण ही नागपूजन होने लगा हो, ऐसा सङ्गत प्रतीत नहीं होता। इसके अनेक कारण हैं। सर्वप्रथम नागपूजन केवल भारत मे ही नहीं प्रचलित है वरन् अफ्रीका, पीरू, फिजी, इटली तथा ग्रीस आदि विश्व के अनेक देशों मे नागपूजन के उदाहरण मिलते हैं। यूनान और मिश्र के देवमन्दिरों में आज भी सर्प पाले जाते हैं। चीन की राजधानी पेकिङ्ग में भी विशाल नाग-मन्दिर का होना उसकी व्यापकता का प्रमाण है। विश्व भर में भारत की नागजाति के कारण ही उसका पूजन प्रारम्भ हो गया हो, ऐसा सङ्गत नहीं प्रतीत होता। फिर नागजाति का प्रतीक नाग किस प्रकार बन गया, इस सम्बन्ध मे भी ऐतिहासिक व्याख्याकारों ने जो तर्क दिये हैं वे बहुत पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नहीं है। निश्चित ही नागपूजन के मूल का समाधान कुछ और है।

मनोवैज्ञानिकों तथा नृ-तत्त्वशास्त्रियों ने नागपूजन का मूल कारण क्या है, इस पर अन्वेषण किया है और नागपूजन की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है। मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि आदिम-मानव मे रति और भय की मूल प्रवृत्तियाँ हैं। आदिम-मानव में इसके दृष्टान्त स्पष्टतया देखे जा सकते हैं। आदिम-मानव या जङ्गली, असभ्य, अशिक्षित तथा गँवार व्यक्ति उन सभी वस्तुओ की आराधना करने लगता है, जिनसे उसे किसी प्रकार की हानि की आशङ्का होती है चाहे ये शक्तियाँ जड़ हों या चेतन। यही कारण है कि लोक-वर्ग नदी, पहाड़, आकाश, चन्द्र, सूर्य, कीड़े-मकोड़े सभी की पूजा करते हैं क्योंकि उन्हें भय है कि नदी क्रुद्ध होकर बाढ़ रूप में, चन्द्र अति शीतलता प्रदान कर, सूर्य अति उष्णता से, बादल अति वृष्टि से कृषि को विनष्ट कर सकते है, जो उनके जीवन का एक मात्र आधार है। इसी प्रकार बिजली गिरकर तथा कीड़े-मकोड़े काट कर क्षण भर में ही प्राणों का हरण कर सकते हैं। इसलिये लोक-वर्ग ने इन सभी जड़-चेतन वस्तुओं को भय के मारे पूजना शुरू कर दिया। मनोवैज्ञानिक का मत है कि सर्प-पूजन भी भय की मूलप्रवृत्ति का ही परिणाम है। सर्पदंश से प्रतिवर्ष अनेकों मृत्यु होती हैं, अतः इनका आतङ्क अत्यन्त व्यापक था। आदिम-मानव ने जब देखा कि सर्प मानव-जीवन हानि का कारण भी हो सकता है तो उसने इनका पूजन भी प्रारम्भ कर दिया। ऐतिहासिक व्याख्या तथा मनोवैज्ञानिक व्याख्या में मनोवैज्ञानिक व्याख्या अधिक सङ्गत है पर निश्चितरूप से सर्प पूजन का मूल कारण क्या था, नहीं कहा जा सकता। इस विषय पर अधिक शोध की अपेक्षा है। किन्तु इतना तो सिद्ध ही है कि सर्प-पूजन का मूल अति प्राचीन है, विश्व में इसके उदाहरण मिलते हैं और इसकी लोक-वर्ग में लोक-देवता रूप में स्वीकृति है।

पीपल देवता—वृक्ष-पूजन लोक-वर्ग की विशेषता है विश्व भर में वृक्षों की पूजा के

दृष्टान्त मिलते है।[१६] भारत में लोक-वर्ग पीपल, बरगद, नीम, साल आदि अनेक वृक्षों की पूजा करता है तथा उनमें किसी विशिष्ट देवता का अधिवास मानता है। वृक्षों में पीपल का पूजन लोक-वर्ग मे अति प्रचलित है। यही कारण है कि पीपल का नाम ही पीपल देवता के सम्बोधन के साथ किया जाता है। पीपल में आत्माओं का, पितरों का, तथा अद्‌भुत शक्तियों का निवास माना जाता है। इसीलिये ही पीपल को काटने की प्रथा नहीं है। लोक-वर्ग का विश्वास है कि वृक्ष काटना, इसके नीचे झूठ बोलना आदि पीपल देवता का अपमान करना है; जिसका फल कभी अच्छा नही हो सकता। पीपल का पूजन भारत मे विशिष्ट अवसरों पर होता है। कहीं-कहीं तो लोग पीपल को भेटते भी हैं।[१७] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'वैशाख-माहात्म्य' में पीपल वृक्ष के महत्व सम्बन्धी लोक-विश्वास का वर्णन किया है। लोक प्रचलित पीपल माहात्म्य के सम्बन्ध में भारतेन्दु लिखते हैं—"प्रातःकाल जो पीपल को देव मानकर कई बार परिक्रमा करता है और जो पीपल के नीचे तर्पण करता है, उसके पितर आदि सब तर जाते हैं, जो भक्तिपूर्वक पीपल को जल से सींचता है वह अपने सैकड़ों कुलों को तार देता है। जो व्यक्ति गाय की पीठ सुहराकर, नहाकर पीपल को जल देता है, कृष्ण को पूजता है वह दुर्गति छोड़कर देवताओं की गति प्राप्त कर लेता है।"[१८] इस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पीपल देवता से सम्बन्धित लोक-विश्वास का वर्णन कर पीपल के लोक-रूप को प्रस्तुत किया है।

तुलसी—पौधों में तुलसी की पूजा का लोक-वर्ग में व्यापक प्रचलन है। उत्तर भारत मे तुलसी-पूजन का व्यापक प्रचार है। विद्वानों का मत है कि उत्तर भारत से ही दक्षिण भारत मे तुलसी पूजा का प्रचलन हुआ। लोक-वर्ग में तुलसी, विष्णु की पत्नी समझी जाती हैं और इनके सम्बन्ध में प्रचलित लोक-गाथा भी है। लोक में तुलसी-विवाह भी प्रचलित है जो कार्तिक मास मे यमना के तट पर होता है जिसे आज भी देखा जा सकता है। कार्तिक में तुलसी का पूजन विशेष रूप से होता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'वैशाख-माहात्म्य' में तुलसीदल के अर्पण का लोक प्रचलित महत्त्व बताते हुए लिखा है—"वैशाख में तीनों काल में तुलसीदल अर्पण से कृष्ण मनुष्य को जन्म-मरण से मुक्ति देते हैं।"[३]

गोवर्धन—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, मानव-आदिम अवस्था में प्रकृति शक्ति का पुजारी था। इसी प्राकृतिक शक्ति के रूप में ही उसने विविध पर्वतों का पूजन प्रारम्भ किया रहा होगा। आदिम जातियों में यह पर्वतपूजा आज भी बहुत व्यापक रूप में प्रचलित है और विविध अनुष्ठानो द्वारा विधिवत् इनकी पूजा होती है। आदिम संस्कृति का यह अवशिष्ट तत्त्व आज भी लोक-वर्ग मे लोक-तत्त्व रूप में प्रतिष्ठित है कि आज का वैज्ञानिक मानव इतना विकसित होकर भी पर्वतो का पूजन श्रद्धावश करता ही जाता है और आज भी पहले की ही भाँति लोक-वर्ग विविध पूजित पर्वतों के साथ जुड़ी हुई विभिन्न-लोककथाओं तथा लोक-विश्वासों पर विश्वास करता चला आ रहा है। इन पूजित पर्वतों को ही कालान्तर में देवता रूप दे दिया गया और इनका मानवीय-करण भी किया गया। मथुरा के निकट स्थित गोवर्धन पर्वत इसका अच्छा उदाहरण है।

भारतेन्दुयुगीन काव्य में गोवर्धन-पूजा के अनेक उल्लेख मिलते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने गोवर्धन-पूजा का कई स्थानों में उल्लेख किया है। सर्वप्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'भक्त सर्वस्व' में के चरणों मे बने हुए पवत के चिह्न की का कारण बताते हुए गोवधन पवत

का पूजा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि सारा ब्रज गोवर्धन पर्वत की पूजा करता है और सारे ब्रजवासियों द्वारा पूजित होने वाला गोवर्धन पर्वत स्वयं भगवान के चरण की सेवा करता है इसलिये भगवान् ने अपने चरणों में पर्वत चिह्न को स्थान दिया है।"[२०] दीपावली पर गोवर्धन पर्वत पर हुई दीप शोभा का भी भारतेन्दु काव्य में वर्णन हुआ है।[२१] इसके अतिरिक्त गोवर्धन पर्वत के साथ जुड़े हुए लोक-विश्वास का भी, कि कृष्ण ने इन्द्र द्वारा क्रुद्ध होकर की गई अतिवृष्टि से, ब्रज को, गोवर्धन पर्वत को छोटी अँगुली पर उठाकर बचाया था, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उल्लेख किया है। यह कृष्ण का गोवर्धन उठाकर ब्रज की रक्षा सम्बन्धी विश्वास अति प्राचीन काल से लोक-वर्ग में प्रचलित है और आज भी गोवर्धन पर्वत की पूजा करते समय कृष्ण का यह वृत्तान्त स्मरण किया जाता है।

विंध्याचल देवी या कजली देवी—लोक-देवियों में विंध्याचल देवी तथा कजली देवी का विशेष महत्व है। विंध्याचल देवी चूँकि कज्जल के समान काली है इसलिये इनका नाम विंध्याचलदेवी के साथ-साथ कजली देवी भी है। विंध्याचल को देवी रूप में पूजने के प्रति भी गोवर्धन पर्वत वाली ही मूल प्रवृत्ति है कि पर्वतों की पूजा भी आदिम-मानव ने प्राकृतिक शक्ति रूप में ही की। भारतेन्दुयुगीन कवियों में प्रेमघन ने विंध्याचल देवी पर दो छन्द लिखे हैं तथा इनके विषय मे प्रचलित लोक-कथा—"विंध्याचल देवी यशोदा की पुत्री हैं तथा इन्होंने भादों बदी द्वितीया की रात्रि में गोकुल में नन्द के यहाँ जन्म लिया था और इनको कारागार में पड़े हुए वसुदेव ने, ईश्वर की प्रेरणा से यशोदा के यहाँ से सद्यः प्रसूता यशोदा की पुत्री को उठाकर ले आये थे और कृष्ण को उसके स्थान पर छोड़ आये थे। देवकी की गोद में पहुँचकर जब इस यशोदा की पुत्री ने क्रन्दन करना शुरू किया तो कंस इसे अपना विनाशक तथा देवकी की अष्टम सन्तति जानकर मारने को उद्यत हुआ किन्तु जैसे ही कंस ने इसे पटकना चाहा वह छूट कर आकाश में चली गई और वहीं से उसने कंस के विनाश की सूचना दी। यही यशोदा पुत्री विंध्याचल पर्वत पर आकर बस गई और विंध्याचल देवी कहलाने लगी। यशोदा की यह पुत्री विंध्याचल देवी भक्तों के भय का नाश करने वाली है—का उल्लेख किया है। प्रेमघन ने इन्हें कजली रूप देकर छन्द भी लिखा है जिसमे उपरोक्त भाव ही दोहराये गये हैं।[२२]

शीतला माता—लोक में अनेक देवी-देवता रोग नियन्त्रक रूप में प्रसिद्ध है और इनके सम्बन्ध में लोक का विश्वास है कि इनके प्रसन्न करने से तथा इनकी उपासना करने से रोग का प्रकोप नहीं होता। चेचक की देवी शीतला मानी जाती है। चेचक होने को लोक में शीतला का दरसना ही कहा जाता है। शीतला देवी का लोक में व्यापक प्रचार है और इनके नाम से अनेक प्रकार के अनुष्ठानादि भी किये जाते हैं। शिक्षित वर्ग में आज किसी के चेचक होने पर शीतला को देवी मानकर अनुष्ठान आदि नहीं किये जाते और औषधि आदि का प्रयोग होता है। राधाकृष्णदास ने भी शीतला की उपासना को महत्त्व नहीं दिया है और शीतला की उपासना को मूर्खता कहा है[२३] किन्तु परोक्ष मे शीतला के उल्लेख से लोक में शीतला देवी के प्रचार पर प्रकाश

वालों ने लोक-मानस प्रवृत्ति का उद्घाटन करते हुए इसका समाधान प्रस्तुत किया है। उनका मत है कि यह मानव प्रवृत्ति है कि लोक-मानस नीच या भयङ्कर वस्तु को किसी उच्च तथा सुन्दर रूप में पुकारने का प्रयत्न करता है। सम्भवतः इसी कारण इस भयङ्कर रोग को जिसमे उष्णता या गरमी की चरम सीमा होती है, को शीतला अर्थात् शीत वाली कहकर पुकारा हो तो कोई आश्चर्य नहीं है।[२५]

धरती माता—धरती-पूजा भी अति प्राचीन काल से विश्व में प्राकृतिक शक्ति रूप मे होती आई है और आज भी असभ्य तथा ग्रामीण लोक में तो होती ही है, शिक्षित समुदाय मे भी अवशिष्ट तत्व (Survivals) के रूप में आज भी विद्यमान है। राधाकृष्णदास ने धरती माता का उल्लेख करते हुए कहा है कि हम सब धरती माँ के कपूत हैं जो बोझ (पाप कर्म) से उसे दबाते (दलित करते) जाते हैं।[२६] श्यामलता में ठाकुर जगमोहन सिंह ने भी धरती माता का धरा भवानी रूप में उल्लेख किया है।[२७]

धरती की पूजा विश्व भर में किसी न किसी रूप में की जाती है, पर सब जगह धरती को स्त्री रूप में ही माना गया है। प्रश्न उठता है कि धरती को भारत में ही नही अपितु विश्व भर मे माता या स्त्री रूप ही क्यों दिया गया। नृ-तत्त्वशास्त्रियों तथा लोक-वार्ताशास्त्रियों ने इसका गम्भीरता से अध्ययन किया और इस सम्बन्ध में अपने निष्कर्ष दिये हैं। विद्वानों का कहना है कि कृषि सम्बन्धी अधिकांश देवता स्त्रीवर्ग के ही माने गये हैं। इसका कारण यह है कि कृषि के पीछे उत्पादन की भावना तथा उर्वरता की भावना का सम्बन्ध है और उत्पादन तथा उर्वरता का सम्बन्ध स्त्री से है, अतः धरती जिसका सम्बन्ध कृषि से था, स्त्री रूप में ही गृहीत हुई और चूँकि उत्पादन माता की भी विशेषता है और धरती की भी यही विशेषता है कि वह धान्य उत्पन्न करती है, अतः धरती के साथ माता का सम्बन्ध जोड़ा गया। फ्रेजर ने स्पष्ट रूप से प्रमाण देते हुए कहा है कि धरती की उपासना कृषि माता के रूप में ही होती है और कृषि रूप में धान्य देने के कारण अति प्राचीन काल से ही लोगों ने धरती का माता रूप में पूजना प्रारम्भ किया है।´ वाइटहेड ने भी इस प्रसङ्ग पर शोध करते हुए एक नया विचार प्रस्तुत किया है।[२९] वाइटहेड ने कहा है कि पृथ्वी का सम्बन्ध कृषि से है और चूँकि कृषि मूलतः स्त्रियों का ही कार्य है, जैसा कि आदिम जातियों तथा असभ्य जातियों में आज भी देखा जा सकता है। इसीलिये लोकवर्ग ने सम्भवतः कृषि से सम्बन्धित पृथ्वी को स्त्री रूप में मान्यता दी।

वृन्दावन देवी—लोक-देवताओं तथा लोक-देवियों में वन देवता और वन देवी की उपासना भी व्यापक है। लोक-मानस, वनों का देवता तथा देवी रूप में मानवीयकरण कर उनके पीछे विविध मनोरञ्जक लोक-कहानियाँ जोड़ रक्खी है। वन-देवता तथा वन-देवियों की उपासना भी प्रकृति को शक्ति मानकर ही की गई हैं। लोक-वर्ग मे वृन्दावन देवी की पूजा तथा महत्त्व प्रसिद्ध ही है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र[३०] ने वृन्दावन देवी सम्बन्धी छन्द लिखे हैं तथा कृष्ण को भी वृन्दावन देवी का पादसेवक बताया है। भारतेन्दु ने सामान्य रूप में भी वनदेवी का उल्लेख किया है।[३१]

भूत-प्रेत—लोक में भूत और प्रेत की पूजा भी होती है और इनकी उपासना के अनुष्ठान रूप में लोक-वर्ग किसी विशिष्ट पेड़ की, जिसमें भूत या प्रेत का निवास आदि माना जाता है—जैसे नीम पीपल खिन्नी या किसी विशिष्ट स्थान वहाँ पर कुछ आदि उस

की पूजा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—"सारा ब्रज गोवर्धन पर्वत की पूजा करता है और सारे ब्रजवासियों द्वारा पूजित होने वाला गोवर्धन पर्वत स्वयं भगवान्, के चरण की सेवा करता है, इसलिये भगवान् ने अपने चरणों में पर्वत चिह्न को स्थान दिया है।"[२०] दीपावली पर गोवर्धन पर्वत पर हुई दीप शोभा का भी भारतेन्दु काव्य में वर्णन हुआ है।[२१] इसके अतिरिक्त गोवर्धन पर्वत के साथ जुड़े हुए लोक-विश्वास का भी, कि कृष्ण ने इन्द्र द्वारा क्रुद्ध होकर की गई अतिवृष्टि से, ब्रज को, गोवर्धन पर्वत को छोटी अँगुली पर उठाकर बचाया था, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उल्लेख किया है। यह कृष्ण का गोवर्धन उठाकर ब्रज की रक्षा सम्बन्धी विश्वास अति प्राचीन काल से लोक-वर्ग में प्रचलित है और आज भी गोवर्धन पर्वत की पूजा करते समय कृष्ण का यह वृत्तान्त स्मरण किया जाता है।

विंध्याचल देवी या कजली देवी—लोक-देवियों में विंध्याचल देवी तथा कजली देवी का विशेष महत्व है। विंध्याचल देवी चूंकि कज्जल के समान काली हैं इसलिये इनका नाम विध्याचलदेवी के साथ-साथ कजली देवी भी है। विध्याचल को देवी रूप मे पूजने के प्रति भी गोवर्धन पर्वत वाली ही मूल प्रवृत्ति है कि पर्वतों की पूजा भी आदिम-मानव ने प्राकृतिक शक्ति रूप मे ही की। भारतेन्दुयुगीन कवियों में प्रेमघन ने विंध्याचल देवी पर दो छन्द लिखे हैं तथा इनके विषय मे प्रचलित लोक-कथा—"विंध्याचल देवी यशोदा की पुत्री हैं तथा इन्होंने भादों वदी द्वितीया की रात्रि में गोकुल में नन्द के यहाँ जन्म लिया था और इनको कारागार मे पड़े हुए वसुदेव ने, ईश्वर की प्रेरणा से यशोदा के यहाँ से सद्यः प्रसूता यशोदा की पुत्री को उठाकर ले आये थे और कृष्ण को उसके स्थान पर छोड़ आये थे। देवकी की गोद में पहुँचकर जब इस यशोदा की पुत्री ने क्रन्दन करना शुरू किया तो कंस इसे अपना विनाशक तथा देवकी की अष्टम सन्तति जानकर मारने को उद्यत हुआ किन्तु जैसे ही कंस ने इसे पटकना चाहा वह छूट कर आकाश में चली गई और वहीं से उसने कंस के विनाश की सूचना दी। यही यशोदा पुत्री विंध्याचल पर्वत पर आकर बस गई और विध्याचल देवी कहलाने लगी। यशोदा की यह पुत्री विंध्याचल देवी भक्तों के भय का नाश करने वाली है—का उल्लेख किया है। प्रेमघन ने इन्हें कजली रूप देकर छन्द भी लिखा है जिसमे उपरोक्त भाव ही दोहराये गये हैं।[२२]

शीतला माता—लोक में अनेक देवी-देवता रोग नियन्त्रक रूप में प्रसिद्ध हैं और इनके सम्बन्ध मे लोक का विश्वास है कि इनके प्रसन्न करने से तथा इनकी उपासना करने से रोग का प्रकोप नहीं होता। चेचक की देवी शीतला मानी जाती हैं। चेचक होने को लोक में शीतला का दरसना ही कहा जाता है। शीतला देवी का लोक में व्यापक प्रचार है और इनके नाम से अनेक प्रकार के अनुष्ठानादि भी किये जाते हैं। शिक्षित वर्ग में आज किसी के चेचक होने पर शीतला को देवी मानकर अनुष्ठान आदि नहीं किये जाते और औषधि आदि का प्रयोग होता है। राधाकृष्णदास ने भी शीतला की उपासना को महत्व नहीं दिया है और शीतला की उपासना को मूर्खता कहा है[२३] किन्तु परोक्ष मे शीतला के उल्लेख से लोक में शीतला देवी के प्रचार पर प्रकाश

वाला ने लोक-मानस प्रवृत्ति का उद्‌घाटन करते हुए इसका समाधान प्रस्तुत किया है। उनका मत है कि यह मानव प्रवृत्ति है कि लोक-मानस नीच या भयङ्कर वस्तु को किसी उच्च तथा सुन्दर रूप में पुकारने का प्रयत्न करता है। सम्भवतः इसी कारण इस भयङ्कर रोग को जिसमे उष्णता या गरमी की चरम सीमा होती है, को शीतला अर्थात् शीत वाली कहकर पुकारा हो तो कोई आश्चर्य नहीं है।[२५]

धरती माता—धरती-पूजा भी अति प्राचीन काल से विश्व में प्राकृतिक शक्ति रूप मे होती आई है और आज भी असभ्य तथा ग्रामीण लोक में तो होती ही है, शिक्षित समुदाय मे भी अवशिष्ट तत्व (Survivals) के रूप में आज भी विद्यमान है। राधाकृष्णदास ने धरती माता का उल्लेख करते हुए कहा है कि हम सब धरती माँ के कपूत हैं जो बोझ (पाप कर्म) से उसे दबाते (दलित करते) जाते हैं।[२६] श्यामलता में ठाकुर जगमोहन सिंह ने भी धरती माता का धरा भवानी रूप में उल्लेख किया है।[२७]

धरती की पूजा विश्व भर में किसी न किसी रूप में की जाती है, पर सब जगह धरती को स्त्री रूप में ही माना गया है। प्रश्न उठता है कि धरती को भारत में ही नहीं अपितु विश्व भर मे माता या स्त्री रूप ही क्यों दिया गया। नृ-तत्त्वशास्त्रियों तथा लोक-वार्ताशास्त्रियों ने इसका गम्भीरता से अध्ययन किया और इस सम्बन्ध में अपने निष्कर्ष दिये है। विद्वानों का कहना है कि कृषि सम्बन्धी अधिकांश देवता स्त्रीवर्ग के ही माने गये हैं। इसका कारण यह है कि कृषि के पीछे उत्पादन की भावना तथा उर्वरता की भावना का सम्बन्ध है और उत्पादन तथा उर्वरता का सम्बन्ध स्त्री से है, अतः धरती जिसका सम्बन्ध कृषि से था, स्त्री रूप में ही गृहीत हुई और चूँकि उत्पादन माता की भी विशेषता है और धरती की भी यही विशेषता है कि वह धान्य उत्पन्न करती है, अतः धरती के साथ माता का सम्बन्ध जोड़ा गया। फ्रेजर ने स्पष्ट रूप से प्रमाण देते हुए कहा है कि धरती की उपासना कृषि माता के रूप में ही होती है और कृषि रूप में धान्य देने के कारण अति प्राचीन काल से ही लोगों ने धरती का माता रूप में पूजना प्रारम्भ किया है।[२८] वाइटहेड ने भी इस प्रसङ्ग पर शोध करते हुए एक नया विचार प्रस्तुत किया है।[२९] वाइटहेड ने कहा है कि पृथ्वी का सम्बन्ध कृषि से है और चूँकि कृषि मूलतः स्त्रियों का ही कार्य है, जैसा कि आदिम जातियों तथा असभ्य जातियों में आज भी देखा जा सकता है। इसीलिये लोकवर्ग ने सम्भवतः कृषि से सम्बन्धित पृथ्वी को स्त्री रूप में मान्यता दी।

वृन्दावन देवी—लोक-देवताओं तथा लोक-देवियों में वन देवता और वन देवी की उपासना भी व्यापक है। लोक-मानस, वनों का देवता तथा देवी रूप में मानवीयकरण कर उनके पीछे विविध मनोरञ्जक लोक-कहानियाँ जोड़ रक्खी हैं। वन-देवता तथा वन-देवियों की उपासना भी प्रकृति को शक्ति मानकर ही की गई हैं। लोक-वर्ग में वृन्दावन देवी की पूजा तथा महत्त्व प्रसिद्ध ही है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र[३०] ने वृन्दावन देवी सम्बन्धी छन्द लिखे हैं तथा कृष्ण को भी वृन्दावन देवी का पादसेवक बताया है। भारतेन्दु ने सामान्य रूप में भी वनदेवी का उल्लेख किया है।[३१]

भूत-प्रेत—लोक में भूत और प्रेत की पूजा भी होती है और इनकी उपासना के अनुष्ठान रूप में लोक-वर्ग किसी विशिष्ट पेड़ की, जिसमें भूत या प्रेत का निवास आदि माना जाता है—जैसे नीम पीपल सिन्नी या किसी विशिष्ट स्थान वहाँ पर कुछ आदि उस

भूत या प्रेत का सन्तुष्टि हेतु करता है जिसके सम्बन्ध मे उसका विश्वास है कि इन भूत प्रेतों के प्रसन्न होने से उसकी किसी प्रकार का हानि नहीं होगी और उसे विभिन्न कार्यों मे सिद्धि मिलेगी भूत-प्रेतों की स्थिति के सम्बन्ध में लोक-विश्वास है कि जो आत्माएँ अपने जीवन काल में असन्तुष्ट रह जाती हैं, किसी या किन्हीं कारणों से जो सन्तुष्ट नहीं हो पातीं वे ही भूत-प्रेतों का रूप धारण करती हैं और इस भूत-प्रेत के रूप में वे अपने पूर्व-जन्म की इच्छाओं की सन्तुष्टि का प्रयत्न करती हैं और इच्छाओं के सन्तुष्ट हो जाने पर वे मुक्ति पा जाती हैं तथा भूत-प्रेत का रूप छोड़ देती है, क्योंकि लोक-विश्वास है कि इच्छाएँ ही जन्म-बन्धन का कारण बनती हैं। लोक-वर्ग इसी विश्वास के कारण-स्वरूप उन भूत-प्रेत की सन्तुष्टि का प्रयत्न करता है, क्योंकि उसे विश्वास है कि यदि भूत-प्रेत सन्तुष्ट नहीं हुए तो उसके कार्य में समय-समय पर विघ्न पड़ सकते है तथा उस पर भारी सङ्कट आ सकता है। भूत-प्रेत सम्बन्धी विश्वास लोक-वर्ग में ही बहुत दृढ़ है, शिक्षित वर्ग मे इनकी स्थिति बहुत ही कम है। शिक्षित वर्ग में भूत-प्रेत पूजना अन्धविश्वास तथा मूर्खता का विषय समझा जाता है।

भारतेन्दुयुगीन कवियों ने भूत-प्रेत उपासना का उल्लेख करते हुए उसकी निन्दा की है। राधाकृष्णदास ने लिखा है कि "भूत-प्रेत आदि की उपासना कर हम वैशाखनन्दन हो गये हैं।"[३२] प्रतापनारायण मिश्र के भूत-प्रेत सम्बन्धी उल्लेखों से भी यही सिद्ध होता है कि वे भी भूत-प्रेत सम्बन्धी उपासना जो लोक-वर्ग में अति व्यापक थी, को मूर्खता समझते थे। वे एक स्थान पर कहते है कि "विधर्मी लोगों ने भूत-प्रेत का पूजन कर सब लोगों का ज्ञान नष्ट कर रक्खा है।"[३३] दूसरे स्थान पर वे कहते है "प्रभु को भजना छोड़कर भूत-प्रेत का पूजन करना दही के धोखे में कपास खाने के समान है।"[३४]

पितर-देवता—अपने पूर्वजों को देवता का रूप मानकर पूजना भी लोक-वर्ग की विशेषता है। इन पितरों के उपलक्ष में हिन्दू लोग वर्ष में एक बार पितरपक्ष नाम से पर्व भी मनाते हैं जिसमे लोक-वर्ग अपने मृतक पूर्वजों के प्रति वार्षिक श्रद्धा निवेदित करता है। पितर देवता की लोक मे कुलदेवता रूप में उपासना होती है। पितर देवता की पूजा पूर्वज-पूजा (Ancestor Worship) का एक रूप है। पूर्वज-पूजा की प्रथा भारत में ही नहीं है, अपितु विश्वभर में इसका प्रचार मिलता है। कुछ विदेशी विद्वानों का तो मत है कि लगभग सभी देशों में पूर्वज पूजन की प्रथा है और समस्त मानव रूप में पूजित देवताओं का मूल पूर्वज पूजा में ही है। पर विदेशी विद्वानो का यह कथन सर्वांश में सत्य नहीं है। अनेक देवी-देवताओं की मूल पूर्वज पूजा में किसी प्रकार भी नहीं ढूँढ़ा जा सकता। भारतेन्दुयुगीन काव्य ने जहाँ भूत-प्रेत की उपासना को घृणा की दृष्टि से देखा है, वहीं पितर-देवता की उपासना को बहुत महत्त्व दिया है तथा अपने पितरों की उपासना न करने वालों को संस्कारच्युत कहा है। भारतेन्दुयुगीन काव्य में पितर देवता की पूजा के अनेक उल्लेख प्राप्त है।[३५]

भैरों—ग्रामदेवताओं में प्रमुख देवता भैरों है। स्थान और जातिभेद से इनके विभिन्न नाम हैं। कालभैरों को अधिकतर भङ्गी लोग पूजते हैं। गौड़का भैरों गौड़ों के पूज्य देव है। दरजी भी इनकी उपासना करते हैं लोक-वर्ग की इन पर बड़ी श्रद्धा है निश्चित तिथि पर इनका पर्वरूप मे पूजन भी होता है बड़ी-बड़ी रोटियाँ नारियल पशुबलि आदि इनकी

उपासना में चढ़ाई जाती है। प्रेमघन का अनुमान है कि भैरो पूजा का मूल वीर-पूजा में है।[३६] प्रतापनारायण मिश्र ने भी भैरों का उल्लेख किया है।[३७]

तपेश्वरी—प्रतापनारायण मिश्र ने तपेश्वरी देवी का उल्लेख 'कानपुर-माहात्म्य' में किया है।[३८] यह एक लोक देवी है। इनका मूल स्रोत क्या है, अज्ञात है; किन्तु सम्भवतः यह कोई विशेष तप करने वाली स्त्री रही होंगी जिसका तप के कारण ही तपेश्वरी नाम पड़ गया। तपेश्वरी देवी का प्रचार सम्भवतः बहुत सीमित लोक-वर्ग में है इसीलिये इनके विषय में कोई विशेष परिचय प्राप्त नहीं होता।

ऊपर जिन देवताओं तथा देवियों का उल्लेख किया गया है, वे पूर्णतः लोक-वर्ग के ही है, साधारण जन-वर्ग में ही इनका प्रचलन है और इनकी किसी प्रकार की शास्त्रीय या धार्मिक पृष्ठभूमि नहीं है किन्तु इन लोक-देवता तथा लोक-देवियों के अतिरिक्त अनेक ऐसे भी देवता तथा देवियाँ हैं जिनका मूल वस्तुतः लोक में ही है। लोक से ही उनको ग्रहण कर शास्त्रीय स्वरूप दिया गया है और उनको धार्मिक पृष्ठभूमि दी गई है। किन्तु इस शास्त्रीयकरण, तथा धार्मिकीकरण के बाद भी लोक-वर्ग में उनका महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं है और लोक-वर्ग में वे उसी श्रद्धा तथा आदरभाव से पूजे जाते हैं जितना कि धार्मिकीकरण के पूर्व, तथा जिस श्रद्धा एवं भक्तिभाव से आज जो पूर्ण लोकदेवता पूजे जाते हैं उसी रूप में इनकी भी पूजा होती है। इस प्रकार के धार्मिक पृष्ठभूमि वाले लोक-देवताओ तथा लोक-देवियों का भी भारतेन्दुयुगीन कवियों ने उल्लेख किया है, जिनके सम्बन्ध में नीचे विचार करेंगे। भारतेन्दुयुगीन काव्य में इस प्रकार के उल्लिखित देवता निम्नलिखित हैं—

सूरज-देवता—वेदों में सूरज-देवता का स्थान विशिष्ट है और वे प्रजापति तक कहे गये हैं, किन्तु मूलतः सूरज वैदिक देवता नहीं हैं। वे ग्रामदेवता या लोक-देवता ही हैं और यही से इनका धार्मिकीकरण हुआ है और सूरज को विभिन्न धार्मिक पृष्ठभूमियाँ दी गई हैं। वेदो के समय में तथा वेदों से पूर्व भी सूर्योपासना होती थी और यह प्राकृतिक शक्ति-देवता थे। हरदत्त ने भी सूर्य की पूजा के सम्बन्ध में किये जाने वाले विविध अनुष्ठानों का वर्णन किया है जिनकी वेद मे स्वीकृति नहीं है, जिससे यह स्पष्ट ही सिद्ध होता है कि वेद के पूर्व भी भारत में सूर्योपासना होती थी और लोक से ग्रहण कर ही इनका धार्मिकीकरण हुआ है। क्रुक का मत भी उपरोक्त कथन की ही पुष्टि करता है। क्रुक का विचार है कि सूर्य-पूजा का सम्बन्ध मूलतः अग्नि-पूजा से था, लेकिन यह भी सम्भव है कि एक भारतीय कृषक ने इसे जीवन और मृत्यु का स्वामी तथा समृद्धि और अकाल का कारण मानकर इसकी उपासना शुरू की हो, क्योंकि एक कृषक के लिये उसका जीवन और उसकी समृद्धि कृषि की सफलता और विफलता पर ही अवलम्बित थी तथा इन दोनों का कारण सूर्य हो सकता था। इसलिये अति प्राचीन काल से ही सूरज की उपासना शुरू हो गई होगी। क्रुक ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि वेदों के समय में भी सूरज एक लोक-देवता ही थे और इनका सम्बन्ध आदिम लोकवार्त्ता तक से है।

भारतेन्दुयुगीन-काव्य में सूरज-देवता के उल्लेख कई स्थानों पर मिलते हैं।[३९] प्रेमघन ने तो सूर्य-स्तोत्र और सूर्य-पञ्चक आदि तक लिखे हैं। सूरज-देवता की स्तुति रूप में ही छन्द मिलते है, अतः इन छन्दो से केवल सूरज की लोक प्रचलित महत्ता पर ही प्रकाश पड़ता है, सूर्य सम्बन्धी

विशेष लोकानुष्ठानों का परिचय नहीं मिल पाता। सूर्य सम्बन्धी कुछ प्रचलित लोक-विश्वासों का उल्लेख यत्र-तत्र है। एक छन्द से सूर्य की लोक-स्तुति पर कुछ प्रकाश पड़ता है क्योंकि उसकी भाषा का विषय और ढङ्ग सब कुछ लोक-भाषा का सा ही है। अवधेय है कि जहाँ भारतेन्दुयुगीन काव्य में अन्य लोक देवताओं के उल्लेख मात्र मिलते हैं वहाँ सूर्य-स्तुति सम्बन्धी अनेक छन्द मिलते हैं।

चन्द्र-देवता—चाँद की उपासना भी लोक में सूरज-देवता की ही भाँति प्रकृति-शक्ति रूप में पूजने के कारण अति प्राचीन काल से हुई। चन्द्र की उपासना के पीछे लोक में यह भी विश्वास है कि चन्द्र पितरों का या मृतक-पूर्वजों का निवासस्थान है। यह लोक-विश्वास भारत में ही नहीं वरन् विश्व की अनेक आदिम जातियों में आज भी प्रचलित है। लोक में चन्द्र देवता को 'चन्दा मामा' कहकर पुकारने की प्रथा अति व्यापक है तथा लोक-कहानियों के मूल अभिप्रायों में एक यह भी अभिप्राय मिलता है कि मर कर सभी व्यक्ति चन्द्रलोक में जाते हैं। इसी प्रकार लोक-वर्ग में चन्द्र कालिमा के भी लोक-प्रवृत्ति के अनुकूल ही अनेक समाधान दिये गये हैं।

प्रेमघन ने 'मयंक-महिमा' नाम से एक स्फुट काव्य लिखा है जिसमें चन्द्र की कालिमा सम्बन्धी अनेक लोक-उपमान तथा लोक विश्वास प्रस्तुत किये हैं। प्रेमघन के अतिरिक्त भारतेन्दु-काव्य में भी चन्द्र देवता के उल्लेख यत्र-तत्र मिलते हैं: किन्तु फिर भी भारतेन्दुयुगीन काव्य में उल्लिखित चन्द्र सम्बन्धी उल्लेखों से न तो चन्द्र देवता के लोकमाहात्म्य पर ही प्रकाश पड़ता है न उनके आनुष्ठानिक रूप पर ही।

गङ्गा-यमुना—भारतेन्दुयुगीन कवियों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन आदि लगभग सभी महत्वपूर्ण कवियों ने गङ्गा-यमुना का प्रकृति देवी रूप में उल्लेख किया है। गङ्गा का देवी रूप में उल्लेख कई स्थानों पर है।[४०] भारतेन्दु ने 'वैशाख-माहात्म्य' में गङ्गा सप्तमी के सम्बन्ध में लिखते हुए गङ्गा की उत्पत्ति, गङ्गा सप्तमी के उत्सव का कारण तथा गङ्गा स्नान के महत्त्व का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त मकर संक्रांति पर भी गङ्गास्नान के महत्त्व का उल्लेख, जो लोक-प्रचलित तथा लोक-विश्वासानुकूल है, किया है। प्रेमघन ने गङ्गा की स्तुति करते हुए लोक-वर्ग में गङ्गा पूजा तथा पूजा के रूप से चढ़ाये हुए फूलों से सुन्दर लगने वाली गङ्गा का वर्णन किया है और कहा है कि यह दोनों लोकों के शोकों को दूर करने वाली है। प्रतापनारायण मिश्र ने गङ्गा की पूजा होने का उल्लेख किया है।

यमुना के उल्लेख गङ्गा की अपेक्षा भारतेन्दुयुगीन काव्य में बहुत अधिक मात्रा में मिलते है।[४१] कारण स्पष्ट है। यमुना का सम्बन्ध कृष्ण तथा गोपियों से है और कृष्ण तथा गोपियों से सम्बन्धित पद भारतेन्दुयुगीन कवियों ने बहुत अधिक लिखे हैं। भारतेन्दु ने यमुना तट पर कृष्ण और राधा के प्रेम-प्रसङ्ग का तो उल्लेख किया ही है किन्तु इसके अतिरिक्त दीपावली के अवसर पर यमुना की शोभा का भी वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त यमुना सम्बन्धित प्रचलित लोक-विश्वासों—यमुना सूर्य की पुत्री है, यमुना के दर्शन-स्नान से पापी मुक्त हो जाता है—का भी उल्लेख हुआ है।

गङ्गा और यमुना की [illegible] पर विचार करते हुए विद्वानों ने बताया है कि मूलत गङ्गा और यमुना प्रकृतिदेवी रूप में लोक में स्वीकृत थीं और बाद में इनको धार्मिक स्वरूप

मिला। इनकी उत्पत्ति तथा महत्त्व की धार्मिक व्याख्याएँ होने लगी, किन्तु गङ्गा, यमुना आदि प्रकृति देवियों का इतना धार्मिक महत्त्व बढ़ जाने पर भी लोक-वर्ग में इनका महत्त्व आज भी किसी प्रकार कम नहीं हुआ है। लोक-वर्ग आज भी इन देवियों को उसी भाँति पूजता है जिस प्रकार अपने अन्य देवताओं को। नदियों की उपासना के दृष्टान्त अधिकांश विश्व की आदिम संस्कृतियों मे मिलते हैं। लोक-वर्ग में गङ्गा, यमुना तथा अन्य नदियों के महत्त्व का कारण बताते हुए कुछ विद्वानों ने अनुमान लगाते हुए कहा है कि लोक-वर्ग गङ्गा आदि नदियों को इसलिये इतना महत्त्व देता है क्योंकि इनका सम्बन्ध समुद्र से है, और समुद्र मृतक पूर्वजों का निवास-स्थान माना जाता है। इसी लोक-विश्वास के कारणस्वरूप गङ्गा, यमुना तथा अन्य नदियों का लोक-वर्ग में इतना महत्व है।

हनुमान—हनुमान भी मूलतः लोक-देवता हैं तथा लोक-वर्ग से ही इनका ग्रहणीकरण करके बाद में इनका धार्मिकीकरण हुआ है। हनुमान मूलतः आर्य देवता नहीं हैं, ये आर्य तथा आदिम जातियों के देवता हैं। सम्भवतः यह भारत की किसी ग्रामीण या जंङ्गली जाति के मुखिया थे और अपने शौर्य से इन्होंने अपनी जाति वालों की रक्षा की थी और वे अपनी वीरता के कारण ही अपने वर्ग में आराध्य माने गये होंगे। कालान्तर में आर्यों ने इनको धार्मिक पृष्ठभूमि दी। अवश्य है कि आर्यों के मध्य हनुमान का आज भी महत्व नही है। स्पष्ट है कि हनुमान आर्यो के देवता नहीं हैं और इनका सम्बन्ध किसी अन्य श्रोत से हुआ है। लोकवर्ग में हनुमान का आज भी बहुत मान है और यह महावीर, बजरङ्गी, हनुमान आदि नामों से स्मरण किये जाते हैं। प्रेमघन ने भी हनुमान का मूल बीर-पूजा ही बताया है।

प्रतापनारायण मिश्र[४१] ने 'कानपुर-माहात्म्य' (आल्हा) में इनका कई बार उल्लेख किया है तथा इनके साथ जुड़े हुए लोक-विश्वास का, कि यह अञ्जनी के पुत्र हैं, सागर कूदने वाले परम वीर हैं, लङ्का में घुसकर वहाँ के बड़े-बड़े वीरों को मारकर इन्होंने रामचन्द्र का कार्य किया था जिससे इनकी महिमा सम्पूर्ण संसार में फैल रही है, हनुमान के पराक्रम से प्रभावित होकर लोग दङ्गल लड़ते समय बजरङ्ग बली के नाम का किस प्रकार स्मरण करते हैं, इसका भी उल्लेख किया है। हनुमान का उपमान (वीरता के सम्बन्ध में) रूप में भी भारतेन्दुयुगीन काव्य में उल्लेख मिलता है।

नन्दी—नन्दी की आज शिव वाहन रूप में धार्मिक ग्रन्थों में स्वीकृति है किन्तु आज लोक वर्ग में शिव के साथ नन्दी की भी पूजा की जाती है। शिष्ट वर्ग में यद्यपि नन्दी की पूजा शिव के साथ बहुत महत्त्व नहीं रखती है पर लोक-वर्ग में नन्दी, शिव के अभिन्न अङ्ग बन गये हैं और जिस भक्ति-भाव से लोक-वर्ग में शिव की पूजा होती है उतने ही भक्ति-भाव से लोक-वर्ग नन्दी को भी पूजता है। वस्तुतः नन्दी पूजन का मूल उत्स लोक ही है और लोक-वर्ग से नन्दी का ग्रहण कर उसका धार्मिकीकरण हुआ है। लोक में पशु पूजन के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं और पशु-पूजन के दृष्टान्त आदिम संस्कृतियों में आज भी देखे जा सकते हैं। सम्भवतः लोक-वर्ग में जिस प्रकार गऊ की उपयोगिता तथा महत्ता समझकर उसका पूजन प्रारम्भ हो गया, उसी प्रकार कृषि-प्रधान सभ्यता मे कृषि आदि कार्यों के लिये बैल को लाभप्रद समझकर लोक-वर्ग ने बैल को अति प्राचीन काल से पूजना प्रारम्भ कर दिया रहा होगा और उसको भी कृषि से सम्बन्धित होने के कारण

जीवनाधार ही माना होगा कृषि सम्बंधित अनेक जानवरों तथा पक्षियों का पूजन लोक वर्ग से ही ग्रहण किया गया है और इसको धार्मिक पृष्ठभूमि दी गई है उदाहरण के लिए उल्लू पक्षी को लिया जा सकता है, जो आज धार्मिक ग्रन्थों में लक्ष्मी के वाहन रूप में स्वीकृत है। लोक-वर्ग मे उल्लू का पूजन अति प्राचीन काल से होता रहा है और उससे सम्बन्धित अनेक लोक-विश्वासों का भी प्रचलन है। कृषि की दृष्टि से उल्लू एक विशेष महत्त्व का पक्षी है क्योंकि कृषि की रक्षा दिन में विविध जन्तुओं, पशुओं आदि से तो साधारण मानव या कृषक भी कर सकता है किन्तु रात्रि का समय ऐसा होता है जबकि कृषक भी निद्रालीन रहता है और उस समय उल्लू ही एक ऐसा पक्षी है जो रात्रि पर्यन्त जागरण कर कृषि की स्वामी रूप में अन्य जन्तुओं आदि से रक्षा करता है। सम्भवतः इसी कृषि सम्बन्धी महत्त्व के कारण ही उल्लू को इतना महत्व मिला कि वह लक्ष्मी का वाहन बन सके और महत्त्व प्राप्त कर सके। उल्लू लक्ष्मी अर्थात् कृषि रूपी लक्ष्मी की रक्षा हेतु नियुक्त है। सम्भवतः नन्दी के मूल में भी कृषि सम्बन्धी उपयोगिता ही है और नन्दी नाम बैल को तभी दिया गया जब इसका धार्मिकीकरण हुआ और इसे शिव का वाहन बनाया गया। भारतेन्दुयुगीन काव्य में प्रेमघन[४३] ने नन्दी-स्तुति सम्बन्धी लोक-शैली मे एक छन्द लिखा है जिससे नन्दी के लोक-प्रचलित स्वरूप पर हल्का-सा प्रकाश पड़ता है।

अक्षयवट--अक्षयवट (बरगद) की उपासना भी मूलतः लोक से ही धर्म में पहुँची है और उसका धार्मिकीकरण बाद मे हुआ है और उसके साथ विभिन्न धर्मगाथाएँ और पौराणिक-विश्वास आदि जोड़ दिये गये। लोक-वर्ग में वृक्षों की उपासना के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं--नीम, बरगद, साल, पीपल, तुलसी सभी का पूजन होता है। कुछ पेड़ों में विभिन्न देवी-देवताओं का निवास स्थान माना जाता है और देवता के अधिष्ठान रूप में उनका पूजन होता है जो स्वयं देवी-देवता रूप में पूजित होने लगे हैं। बरगद का लोक जीवन में विशेष महत्त्व है। बरगद का अक्षयवट रूप मे लोक-वर्ग से पूजन होता है। बरगद का अक्षयवट नाम भी लोक-मानस प्रवृत्ति की ओर सङ्केत करता है। बरगद के पेड़ में एक विशेषता है। जहाँ अन्य सब वृक्ष अपना विशेष विस्तार नहीं करते वहाँ बरगद अपनी जटाओं द्वारा बढ़कर पुनः जटा के वृक्ष रूप धारण करने पर अपना विस्तार करता जाता है और इस प्रकार वह कभी नष्ट नहीं होता। सम्भवतः इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर लोक-वर्ग ने इसका नाम अक्षय, जो कभी नष्ट न हो, ऐसे गुण वाला वट अर्थात् बरगद, किया होगा। इस प्रकार बरगद की अक्षयवट रूप में उपासना मूलतः लोक-वर्ग से आई हुई प्रतीत होती है। भारतेन्दुयुगीन काव्य में अक्षयवट का, जो लोक-वर्ग में लोक-देवता रूप में गृहीत है और जिसका पूजन लोक-वर्ग देवता रूप में बड़ी श्रद्धा से करता है, का प्रचलित लोक-विश्वास के साथ कि यह सब मनोरथों का दाता है और काल के अन्त तक नष्ट न होने के कारण हरि का सहायक है, का उल्लेख किया है।[४४]

ऊपर भारतेन्दुयुगीन काव्य में उल्लिखित प्रमुख लोक-देवताओं तथा लोक-देवियों का परिचयात्मक विवरण तथा परिशीलन प्रस्तुत किया गया है जिससे लोक-जीवन में लोक-देवताओं तथा-लोक-देवियों के महत्त्व, प्रकृति तथा उनके स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। इनका लोक-वार्ता की दृष्टि से भी विशेष महत्त्व है क्योंकि ये लोक-मानस की प्रवृत्ति के अध्ययन में बहुत दूर तक सहायक होते हैं

सन्दर्भ-सङ्केत

१. प्रेमघन सर्वस्व, भाग २, पृ० २२५
२. विल्डुरेण्ट : प्लेजर्स ऑफ फिलॉसफी
३. प्रताप-लहरी, पृ० २०७, २११
४. प्रताप-लहरी, पृ० २०५
५. क्रुक, डब्ल्यू० : इण्ट्रोडक्शन टु पापुलर रिलीजन एण्ड फोकलोर ऑफ नार्दर्न इण्डिया
६. प्रताप-लहरी, पृ० २०५
७. वही, पृ० २२६
८. वही, पृ० २२१
९. क्रुक, डब्ल्यू० : इण्ट्रोडक्शन टु पापुलर रिलीजन एण्ड फोकलोर ऑफ नार्दर्न इण्डिया
१०. प्रताप-लहरी, पृ० २७, २८, २१०, २११, २१५
११. वही, पृ० २११
१२. वही, पृ० २१०, २१५
१३. वही, पृ० २११
१४. वही, पृ० ४९
१५. प्रेमघन सर्वस्व—भाग १, पृ० २५
१६. क्रुक, डब्ल्यू० : इण्ट्रोडक्शन टु पापुलर रिलीजन एण्ड फोकलोर ऑफ नार्दर्न इण्डिया
१७. पिल्लई, जी० सुब्रह्मणिया : ट्री वर्शिप एण्ड आफियोलेट्री
१८. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ९०
१९. वही, पृ० ९०
२०. प्रेमघन सर्वस्व, भाग २, पृ० ३३३
२१. वही, भाग १, पृ० ५२६-५२७
२२. वही, पृ० ५२७
२३. राधाकृष्ण-ग्रन्थावली, पृ० १६
२४. सत्यागुप्ता, खड़ीबोली का लोक-साहित्य (अप्रकाशित)
२५. राधाकृष्ण-ग्रन्थावली, पृ० २१
२६. श्यामलता, पृ० १४
२७. फ्रेजर : गोल्डन बाउ
२८. वाइटहेड : साउथ इण्डियन विलेजगॉड्स
२९. भारतेन्दु ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ८०, ५३७
३०. वही, पृ० ६६३
३१. राधाकृष्ण-ग्रन्थावली, पृ० १६
३२. प्रताप-लहरी, पृ० ११८
३३ वही पृ० ६२

३४. प्रताप-लहरी, पृ० २८, ५५, ५९, ६०, १११, २०८

३५. प्रेमघन सर्वस्व, प्रथम भाग, पृ० ९९, १५३-१६३

३६. वही, द्वितीय भाग, पृ० २२५

३७. प्रताप-लहरी, पृ० २१५

३८. वही, पृ० २१५

३९. प्रेमघन सर्वस्व, पृ० २३१-२३९, ४२८, ५५९-५६०

४०. प्रताप-लहरी, पृ० ५९, प्रेमघन सर्वस्व, पृ० ४४३, भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पृ० ९४, ९६, ४४१

४१. प्रताप-लहरी, पृ० २७, ५७, भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ५८, ५९, ६२, ६३, ७१, ८२, ८४, १८५

४२. वही, पृ० २०७, २२१, २२६

४३. प्रेमघन सर्वस्व, पृ० ४५०

४४. वही, प्रथम भाग, पृ० ३५५

नयी खोज

भारतेन्दु-कृत विद्यासुन्दर

सत्येन्द्रकुमार तनेजा

(१)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र १५ वर्ष की आयु अर्थात् १८६५ ई० में जगन्नाथ यात्रा पर गये और १८६८ ई० में उन्होंने महाराज यतीन्द्रमोहन के 'विद्यासुन्दर' का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया। उस समय उनका किशोर-हृदय बंगला साहित्य और उसकी नवीन चेतना से अनुप्राणित था। यह अनुवाद तात्कालिक प्रतिक्रिया मात्र न हो कर उनके प्रेरणा-स्रोत तथा सूक्ष्म-प्रभाव सङ्केतो का परिचायक सिद्ध हुआ। मृत्यु से एक वर्ष पूर्व अपने 'नाटक' नामक निवन्ध में उन्होंने आशा प्रकट की कि "काल की क्रमोन्नति के साथ ग्रन्थ भी बनते जायँगे और अपनी सम्पत्तिशालिनी ज्ञानवृद्धा बहिन बंग-भाषा के अक्षय रत्न भाण्डागार की सहायता से हिन्दी भाषा बड़ी उन्नति करे।"[१]

'विद्यासुन्दर' की मौलिकता के बारे में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। आचार्य रामचन्द्र-शुक्ल,[२] मिश्रवन्धु,[३] श्यामससुन्दरदास,[४] दिनेशनारायण उपाध्याय,[५] जयनाथ नलिन,[६] तथा डॉक्टर रामरतन भटनागर[७] इसे यतीन्द्रमोहन ठाकुर के इसी नाम के नाटक का अनुवाद मानते हैं। डॉ० दशरथ ओझा,[८] गुलाबराय[९] तथा डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी[१०] इसे 'छायानुवाद' स्वीकार करते हैं। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय वैसे तो इसे अनुवाद समझते हैं परन्तु उनके विचार से भारतेन्दु के अनूदित नाटक शब्दश: अनुवाद न होकर रूपान्तर अधिक हैं।[११] श्रीकृष्णदास के मतानुसार भारतेन्दु ने मूल कथानक को वहुत अधिक नहीं बदला है।[१२] डॉ० सोमनाथ गुप्त[१३] और डॉ० वीरेन्द्र शुक्ल[१४] के विचार में वह रूपान्तरित है और भारतेन्दु के रूपान्तरित नाटकों में मौलिकता भी है और अन्य नाटकों की छाया भी।[१५] डॉ० गोपीनाथ तिवारी का भी यही विश्वास है।[१६] ब्रजरत्नदास की दृष्टि में विद्यासुन्दर' अनुवाद नहीं है।[१७] उसका आधार अवश्य कोई बंगला नाटक है। रामगोपाल सिंह इसे मौलिक रचना स्वीकार करते हैं।[१८]

वस्तुत: कुछ भ्रान्ति भारतेन्दु कृत 'विद्यासुन्दर' की द्वितीय आवृत्ति के उपक्रम में की गई स्वीकारोक्ति से भी उत्पन्न हुई—'महाराज यतीन्द्रमोहन ने उसी काव्य (भारतचन्द्र राय) का करके जो विद्यासुन्दर नाटक बनाया था उसी की छाया लेकर आज पन्द्रह वर्ष हुए यह हिन्दी भाषा मे निर्मित हुआ है ' छाया' शब्द को ध्यान मे रख कर डा० ओझा गुलाब राय

तथा डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे छायानुवाद कहा और सम्भवतः इसी को सामने रखते हुए ही अन्य विद्वानों ने इसे रूपान्तरित अभिहित किया। उस युग के अनूदित साहित्य का सम्बन्ध विश्लेषण करने से स्पष्ट हो जायेगा कि उस समय अनुवाद शब्द भावानुवाद, मर्मानुवाद या, छायानुवाद का पर्याय था। वैसे भी अक्षरशः अनुवाद कभी नही होता, उस युग में तो बिलकुल नही था। उस काल के सर्वश्रेष्ठ अनुवादक राजा लक्ष्मण सिंह ने अपनी प्रतिभा एवं मौलिकता में 'शकुन्तला' के अनुवाद में सरसता एवं सजीवता पैदा की। उनके व्यक्तित्व का स्पर्श सबसे अधिक प्रभावशाली है। संयोगवश या अन्यथा ठीक यही प्रवृत्ति तत्कालीन बंगला-साहित्य में मिलती है। वहाँ पर भी साधारण अदल-बदल के साथ विदेशी नाटकों का भारतीयकरण किया जाता था। बंगला मे शेक्सपियर के नाटकों के सबसे पहले अनुवाद प्रस्तुत करने वाले हरचन्द्र घोष में यही प्रवृत्ति मिलती है। उन्होंने सर्वप्रथम शेक्सपियर के 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' का 'भानुमती चित्तविलास' (१८५२ ई०) के रूप में भाषान्तर प्रस्तुत किया। इसमें नये पात्र और नये दृश्य भी मिल जाते हैं। उन्हीं का 'चारु-मुखचित्तहरा' (१८६४ ई०), शेक्सपियर के 'रोमियो-ज्यूलियट' का देशीय संस्करण है।[२०] यही प्रवृत्ति बंगला के प्रथम प्रसिद्ध नाटककार 'रामनारायण तर्करत्न के संस्कृत अनुवादों—'वेणीसंहार' (१८५६ई०), 'अभिज्ञानशाकुन्तल' (१८६०ई०), 'मालती माधव' (१८६१ ई०)—में मिलती है। उन्होंने आवश्यकतानुसार परिवर्तन परिवर्धन किये।[२१] ये सभी अनुवाद समझे जाते हैं।

डॉ० गोपीनाथ तिवारी[२२] के विचारानुसार भारतेन्दु ने अनूदित नाटकों के लिये 'तर्जुमा' या 'अनुवाद' शब्द का प्रयोग किया है।[२३] इसी लिये 'विद्यासुन्दर' के लिये छाया शब्द के कारण ही उसे वे अनुवाद न कह, रूपान्तरित नाटक मानते हैं। परन्तु अनुवादित नाटकों के सूक्ष्म पर्यवेक्षण से स्पष्ट हो जायेगा कि 'तर्जुमा' में भी भारतेन्दु मौलिकता का स्पर्श दे जाते हैं। 'धनञ्जय विजय' के भरतवाक्य तथा 'कर्पूर मञ्जरी' के गीतों में भारतेन्दु ने स्वतन्त्रता का प्रयोग किया है। 'मुद्राराक्षस' मे ऐसे कई स्थल हैं जहाँ अनुवाद मूल से भिन्न और कही नहीं सुन्दर बन पाया है।[२४] अतः दोनो शब्दों का विवाद नहीं है। उस युग की आवृत्तियों को समक्ष रखते हुए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'छाया' शब्द का प्रयोग कोई महत्त्व नहीं रखता विशेषतः बंगला से अनूदित होने के कारण, जहाँ इस तरह का भेद-भाव उस समय नही रखा जाता था। 'छाया' या 'अनुवाद' पर्याय थे।

महाराज यतीन्द्रमोहन और भारतेन्दु के 'विद्यासुन्दर' के सूक्ष्म पर्यवेक्षण से स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु का नाटक मूलतः अनुवाद है। दोनों नाटकों की कथावस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण तथा उद्देश्य में मूलभूत समानता मिलती है। यही नहीं गर्भाङ्कों के क्रम, उनकी संख्या तथा घटनाओं के क्रमिक विकास में कोई अन्तर नहीं है। पात्रों की सख्या और उनके नाम भी अक्षरश वही हैं। निम्न गद्यांशों के पर्यवेक्षण से स्पष्ट हो जायेगा कि भारतेन्दु का नाटक अनुवाद-मात्र है।

"सुन्दर (आत्मगत) क्षति कि? बासार सुसारे आमार ओ सुसार हते पारे। ए सर्व्वदा राज वाड़ीते जाय, एर काछे सेखानकार सकल-समाचार इ पेते पार्ब्बो। तबे मागीर रीत्टे बड़ भाल देखचि ने। आगे हत्थे एकटा गुरुतर सम्पर्क पातानजुक्ति सिद्ध (मालिनीर प्रति) आमि भेवे देख्लेम आमार एर हत्ये उपकार आर कि हत्ये पारे तुमि ए विदिशे आमार मार मत कर्म्म कल्ले, ता आज अबधि तुमि आमार मासी आमि तोमार बोन्पो"?[२५]

महाराज यतीन्द्र मोहन का 'विद्यासुन्दर'

"सुन्दर (स्वगत) तो इसमें हमारी क्या हानि? जो रहने का ठिकाना होगा तो काम का भी ठिकाना हो रहेगा, क्योंकि यह रात-दिन रनिवास में आती जाती है इससे वहाँ के सब समाचार मिलते रहेंगे और ऐसे कामों में जहाँ अच्छा बिचवई मिला तहाँ उसके सिद्ध होने में विलम्ब नहीं होता। (प्रकाश) अब इससे बढ़ कर हमारा क्या उपकार होगा कि इस परदेश में हम को आप से आप रहने को घर मिले। तुमने हम पर बड़ी कृपा की, आज से तुम हमारी मौसी हम तुम्हारे भाँजे हुए।[२६] —भारतेन्दु का 'विद्यासुन्दर'

दोनों उद्धरणों के अध्ययन से स्पष्ट है कि मूलभाव, उसके क्रम तथा प्रस्तुति में कोई परिवर्तन नहीं लाया गया। भाषा का भेद होने के कारण स्पष्टीकरण की शैली में थोड़ा अन्तर है परन्तु दोनों की मूलभूत समानता से इनकार नहीं किया जा सकता। इस तरह के और कई प्रमाण दिये जा सकते हैं। निम्नगद्यांश और पुष्टि करेंगे:—

"केवल यन्त्रणा भोग कतेइ आमि पृथिवीते एसेछिलेम, नैले देख आज पर्यन्त एकटि दिनओ आमार सुखेर तरे हलो ना। कि जानि विधातार केमन बाद, आमार सुखकर बस्तु तिनि आगे अपहरण करेन, आमार प्रियलाइ अलक्षण सूचक। ..सखि, तबु आशार विपरीते आशा करे छिलेम जे एत कष्ट सये शेषे मनेर मत पति पेलेम, एखन बुझि सब दुःख दूरे जावे। ना सखि सकल साध्तो आज आमार मिट्लो। एखन निश्चय बुझलेम् जे जीवन सत्वे आमार यन्त्रणार शेष नाइ।"[२७]

भारतेन्दु की विद्या भी इसी स्वर में अपनी मनोवेदना व्यक्त करती है—

"केवल दुःख भोगने को जन्मी हूँ क्योंकि आज तक एक भी सुख नहीं मिला। क्या विधाता की सब उलटी रीति है कि जिस वस्तु से मुझे सुख होता है, उसी को हरण करता है। हाय! मैंने जाना था कि मुझे मनमाना प्रीतम मिला, अब मैं कभी दुःखी न हूँगी सो आशा आज पूरी हो गई। हाय! अब मुझे जन्म भर दुःख भोगना पड़ा।"[२८]

दोनों परिच्छेदों की समानता एवं एकरूपता स्पष्ट दिखाई दे रही है। इसके अतिरिक्त दोनों नाटकों का आरम्भ बिलकुल एक-सा है, कहीं-कहीं गीत तक भी समान मिलते हैं।[२९]

उपर्युक्त सन्दर्भों से एक परिणाम सहज ही निकाला जा सकता है, भारतेन्दु अनुवाद करते है, छायानुवाद नहीं। उन्होंने जो भी प्रस्तुत किया वह अनुवाद है, यहाँ वह विशेष स्वतन्त्रता का प्रयोग नहीं करते। यह सम्भव हो सकता है कि वे मूल नाटक के कुछ अंश छोड़ दें परन्तु जो भाग लिया गया है, उसका ही भाषान्तर प्रस्तुत किया गया है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं मिलता। वास्तव में भारतेन्दु का लक्ष्य अनुवाद को सुन्दर एवं प्रभावशाली बनाना रहा है। इसलिये उनका नाटक अविरल अनुवाद नहीं कहा जायेगा। प्रथम अङ्क के द्वितीय गर्भाङ्क में हीरा मालिन सुन्दर के असाधारण रूप एवं यौवन से इतनी प्रभावित होती है कि अपनी भावधारा गीत द्वारा व्यक्त करती है।[३०] भारतेन्दु ने उसके भावार्थ को गद्य में लिपिबद्ध किया है। इसी प्रवृत्ति के अनुसार अनावश्यक रूप से लम्बे संवाद घटा दिये हैं। इस तरह के और छोटे-मोटे साधारण परिवर्तन मिल सकते हैं किन्तु इनका लक्ष्य अनुवाद को सुन्दर बनाना है, मूल कथा मे अन्तर लाना नहीं। भारतेन्दु ने 'प्रस्ताव' शब्द के लिये गर्भाङ्क अपनाया है। कहने की नहीं कि गर्भाङ्क भी हिन्दी में बंगला से आया है

(२)

अब उन परिस्थितियों पर प्रकाश डालना ज़रूरी है जिनसे अनुप्रेरित हो कर भारतेन्दु इस भावप्रवण कथा की ओर आकृष्ट हुए और उसके लिये भी, महाराज यतीन्द्रमोहन ठाकुर के नाटक को चुना। इस पूर्वपीठिका से इस अनुवाद की वस्तुस्थिति तथा दृष्टिकोण आदि के बारे मे सर्वांगीण परिचय प्राप्त हो सकेगा तथा कई भ्रान्तियों का निराकरण सरल हो जायेगा।

इसमें कोई सन्देह नही कि भारतेन्दु ने १८६५ ई० में स्वयं कलकत्ते में 'विद्यासुन्दर' के अभिनय देखे होंगे। वास्तव में विद्यासुन्दर की कथा का बंगला जीवन और साहित्य से पुराना सम्बन्ध है। वह एक लोकप्रिय रोमाण्टिक कहानी है जिसकी वहाँ विशिष्ट परम्परा मिलती है। इसे बड़ी आसानी से प्रेमाख्यानक-परम्परा में रखा जा सकता है और इस पर, हिन्दी की तरह, सूफी मत के प्रभाव-सङ्केत भी मिल जाते हैं। सबसे पहले १५९५ ई० मे गोविन्ददास ने इस कथा को कविता मे सूत्रबद्ध किया। उसके बाद कृष्णराम (१६८६ ई०), क्षेमानन्द, मधुसूदन, रामप्रसाद (१८वीं सदी) ने इसे अपने काव्य का विषय बनाया। भारतचन्द्र रे 'गुणाकर' ने १७३७ ई० मे अपनी प्रतिभा से इस कथा में नवीन जीवन एवं सरसता उत्पन्न की। वस्तुतः उन्हीं की सरल तथा भावपूर्ण कविता के कारण यह प्रेम-कहानी जन-जीवन के लिये आकर्षण का केन्द्र बन गयी। फलस्वरूप इसे यात्राओं के लिये अपनाया गया। गुणाकर की लम्बी कविता को गोपाल उड़िया ने सक्षिप्त नाटकीय रूप दिया।[३१] कहने की आवश्यकता नहीं कि इसके प्रभावस्वरूप ही बंग देश मे आबाल-वृद्ध-वनिता सब उसको जानते हैं।[३२] गुणाकर के बाद प्राणराम चक्रवर्ती ने भी एक प्रयास किया।

'विद्यासुन्दर' की कथा इतनी लोकप्रिय थी कि लेबेडेफ तथा नवीनचन्द्र वसु ने विलायती ढङ्ग पर तैयार किये गये रङ्गमञ्च पर भी १८३५ ई० में 'विद्यासुन्दर' का अभिनय प्रस्तुत किया[३३] १८५८ ई० में महाराज यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने इस प्रेम कहानी को नाटकीय रूप दिया। इस नाटक का दूसरा संस्करण १८६५ ई० में तथा तीसरा संस्करण १८७५ ई० में प्रकाशित हुआ। सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि यह नाटक कितना लोकप्रिय एवं आकर्षक रहा होगा। इसकी प्रसिद्धि एवं प्रचार को देख कर ही कालिदास सान्याल ने १८८१ ई० में 'विद्यासुन्दर गीताभिनय' लिखा अर्थात् उसका गीति-नाट्य बनाया।[३४] उन्हीं दिनों विश्वनाथ बन्द्योपाध्याय और ब्रजनाथ दे ने भी इसी कथा पर नाटक लिखे।[३५] इस प्रकार १६ वीं सदी से लेकर १९ वीं सदी के अन्त तक इस रोमाण्टिक लोक-कहानी ने कलाकारों को अभिभूत किये रखा।

उक्त पृष्ठभूमि में भारतेन्दु का विद्यासुन्दर जैसी प्रचलित प्रेम कहानी की ओर झुकना स्वाभाविक था। यह बात उनकी आयु और स्वभाव के अनुकूल भी बैठती है। बंगाल में उन्होंने विद्यासुन्दर को कई रूपों में देखा सुना होगा। परन्तु वे सबसे अधिक यतीन्द्रमोहन ठाकुर के नाटक से प्रभावित हुए। यह आवश्यक भी लगता है, महाराज यतीन्द्रमोहन ने सब से पहले इस कथा को नाटकीय रूप दिया अर्थात् साहित्यिक धरातल पर उसे नाटककार ने प्रस्तुत किया। लौकिक कथाओं से अनुप्रेरित एवं अनुप्राणित होने के कारण इस कथा में लोक-साहित्य के तत्त्व उभरने लग थे। गुणाकर ने तो उसे यही जामा पहनाया था यतीन्द्रमोहन ने नाटक लिख कर उसे नया जीवन दिया

इसके अतिरिक्त उन दिनो ठाकुर परिवार अपनी साहित्यिक प्रवृत्तियों एवं कलात्मक रुचियों के कारण बंगला साहित्य पर छा रहा था। उस जैसे उच्च एवं प्रभुत्वपूर्ण परिवार के लिये नाटक और अभिनय में भाग लेना युग में कम महत्त्व की बात नहीं थी। ठाकुर-परिवार के सरक्षण मे ही पहले रङ्गमञ्च 'वेलगछिया थिएटर' का निर्माण हुआ। 'पाथुरिया घाट थिएटर' के सस्थापन में भी महाराज यतीन्द्रमोहन ठाकुर का योगदान है। यहीं पर उनके 'विद्यासुन्दर' के कई बार सफल अभिनय हुए। यह निश्चितप्राय है कि भारतेन्दु ने यहीं 'विद्यासुन्दर' का प्रभाव पूर्ण अभिनय देखा होगा। यह स्वाभाविक है कि वे इससे वहुत अभिभूत हुए होंगे और यही से उन्हे नाटक लिखने की प्रेरणा मिली तथा उसका श्रीगणेश 'विद्यासुन्दर' के अनुवाद से किया।

उक्त विश्लेषण की पृष्ठभूमि में 'विद्यासुन्दर' के बारे में कई भ्रान्तियों का निराकरण करना आसान हो जायेगा। ब्रजरत्नदास के विचार से "गुणाकर के काव्य का वास्तव में इस नाटक पर प्रभाव पड़ा है।"[३६] कारण केवल इतना ही दिया गया है—"क्योंकि इन दोनों के पात्रों के नाम स्थान आदि में साम्य है।"[३७] 'विद्यासुन्दर' जैसी चिरपरिचित एवं लोकप्रचलित कथा को ध्यान मे रखते हुए पात्र और स्थान के समान नाम मिलने में कोई ठोस आधार नही कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त उन्होने प्रभाव को स्पष्ट नहीं किया। ऐसी स्थिति में ब्रजरत्नदास की धारणा को विशेष महत्त्व देना कठिन हो जाता है। कारण स्पष्ट है; एक तो भारतेन्दु ने स्वयं स्वीकार किया है कि मेरे नाटक का आधार भारतचन्द्र का काव्य नहीं है। दूसरे उपर्युक्त अनूदित सन्दर्भ इस नाटक को यतीन्द्रमोहन के समीप ले जाते हैं। वैसे भी, भारतचन्द्र[३८] और भारतेन्दु के विद्यासुन्दर की कथावस्तु, पात्र के चरित्र निरूपण में अन्तर मिलता है। राजा वीर सिंह के दरबार में सुन्दर को कोतवाल प्रस्तुत करता है। राजदरबार में गुप्त रूप से आने और राजकन्या के साथ अनुचित सम्बन्ध रखने के कारण राजा उसे मृत्युदण्ड देता है। सुन्दर इन बातों की परवाह नहीं करता। वह काली देवी को याद करता है और वहाँ तत्काल ५० श्लोक अपने अलौकिक-प्रेम के बारे मे बोलता है। इस महत्त्वपूर्ण घटना का भारतेन्दु के नाटक में कोई उल्लेख नहीं। इसी तरह के और परिवर्तन मिलते हैं। प्रमुख पात्रों को छोड़कर साधारण पात्र भिन्न-भिन्न हैं। इसकी तुलना में यतीन्द्रमोहन के नाटक के अनुरूप भारतेन्दु के पात्र अक्षरशः मिलते हैं। इसके साथ ही दोनो कलाकारों के दृष्टिकोण मे स्पष्ट अन्तर है। भारतचन्द्र राय में सर्वत्र रीतिकालीन स्पर्श मिलता है। विद्या और हीरा के रूप वर्णन में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। भारतेन्दु के नाटक में ये बातें नहीं मिलतीं, अतः भारतचन्द्र के सीधे प्रभाव की कोई गुञ्जाइश दिखाई नही देती। हाँ, इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि महाराज यतीन्द्रमोहन का नाटक भारतेन्दु के काव्य पर ही आधारित है, इस लिये अप्रत्यक्ष सङ्केत मिलना स्वाभाविक है।

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लिखा है—"भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने १८६८ ई० में चौर कवि की संस्कृत रचना 'विद्यासुन्दर' का अनुवाद प्रकाशित किया।"[३९] आगे चल कर उन्होंने भारतेन्दु-युग में संस्कृत से अनूदित नाटकों की सूची में 'विद्यासुन्दर' को रखा।[४०] इसमें कोई सन्देह नही कि उन्होंने दोनों जगह बंगला कथा का उल्लेख किया है और उसके प्रभाव को भी स्वीकार किया है परन्तु इसके साथ यह भी आभास मिलता है कि भारतेन्दु पर चौर कवि का भी प्रभाव हो सकता है जसा कि उपर स्पष्ट किया जा चुका है कि भारतेन्दु ने केवल यतीन्द्रमोहन के नाटक

का अनुवाद किया। उन पर भारतचन्द्र के प्रभाव-सङ्केत ढूंढ़ने कठिन हैं, ऐसी स्थिति में चौर कवि या विल्हण की प्रतिच्छाया देखना व्यर्थ है।[४१] संस्कृत की रचना बंगला में लोक-साहित्य की पृष्ठ-भूमि में पनपी और लोकप्रिय हुई। उसके आधार पर यतीन्द्रमोहन और बाद में भारतेन्दु ने नाटक लिखे। संस्कृत के सीधे प्रभाव की सम्भावना नहीं हो सकती।

डॉ० दशरथ ओझा का विश्वास है कि भारतेन्दु के इस नाटक से "नाट्य कला के गुणो के अतिरिक्त सामाजिक परिस्थिति पर प्रकाश पड़ता है और एक चिर सत्य का सन्देश जनता तक पहुँचाने के लिये इसे चुना है।"[४२] उनकी धारणा है कि सामाजिक उद्देश्य को लेकर ही यह नाटक लिखा गया। यह समस्या-नाटक है और मूल प्रश्न है स्वेच्छा से विवाह किया जाये या नियोजित विवाह हो। दो रास्ते हैं। विद्या-सुन्दर एक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनमें सङ्घर्ष एवं द्वन्द्व है पर अन्त में उन्हें ही सफलता मिलती है।[४३]

डॉ० गोपीनाथ तिवारी भी डॉ० ओझा से सहमत हैं। उनके विचार से इतनी प्रचलित लोक-कथाओं में से केवल विद्यासुंदर को ही चुनना, उनके सामाजिक दृष्टिकोण को सिद्ध करती है। उनके अनुसार हीरा पुरानी हिन्दू समाज की परम्परा को लिये हुए है कि लड़का पहले माँ-बाप देखें। विद्या नवीन विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती है और लड़का स्वयं देखना चाहती है।[४४]

जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया है 'विद्यासुन्दर' एक लोक-कथा है। उसमें लोक-कथा की सभी विशेषताएँ मिलती हैं। प्रेमाख्यानक परम्परा के अनुरूप ही रोमाण्टिक लोक-कथाएँ लिखी गईं। उसी धारा में 'विद्यासुन्दर' का विकास हुआ। उसकी बंगला में पुष्ट-परम्परा मिलती है। क्षेमानन्द, मसूधुदन, रामप्रसाद, भारतचन्द्र गुणाकर आदि ने इसे एक प्रेम कहानी के रूप मे अपनाया। इसकी कथावस्तु, चरित्र-चित्रण तथा उद्देश्य में यही भाव परिलक्षित होता है। एक समाज-बाह्य एवं एकान्तिक प्रेम कथा का सामाजिक-परिवेश में मूल्याङ्कन करना विचित्र ही नही, निरर्थक लगता है। जैसा कि साधारण लोक-कथाओं में होता है, यहाँ भी घटनाओं एवं पात्रों मे सर्वत्र चमत्कार एवं औत्सुक्य पैदा करने की प्रवृत्ति मिलती है। वातावरण में कल्पना और रोमास है। राजकुमार सुन्दर क्यों घर छोड़ कर विद्या के लिये घूमा-फिरता है जब कि गङ्गा भाट उसी के यहाँ जा रहा है—इसका उत्तर युक्तियुक्त एवं सन्तोषजनक नहीं मिल सकता। विद्या एक ओर इतनी विदुषी है कि उसके योग्य कोई राजकुमार नहीं मिलता, दूसरी ओर वह इतनी सामान्य है कि हीरा के उल्लेख मात्र से (सुन्दर को देखे बिना) उसकी 'पिय बिन मेरो जियरा तड़पै' की स्थिति हो गई है। इन्हें सामाजिक मूल्यों या आचार-विचार की चिन्ता नहीं है। और फिर इस कहानी का बड़ा सीधा लक्ष्य प्रेम की विजय दिखाना है। यह अन्य सभी लोक-कथाओं में होता है। सुन्दर विद्या के रूप और गुणशील पर आसक्त है और उसके लिये सब उचित-अनुचित सीमाएँ खत्म हो जाती हैं। विद्या भी अपना सर्वस्व अर्पण करके सभी सामाजिक नीति-बन्धन भूल जाती है। प्रेम की एकनिष्ठता एवं सफलता दिखाने के लिये वे गन्धर्व-विवाह कर लेते हैं। यहाँ कोई सामाजिक प्रश्न नहीं है कि गन्धर्व-विवाह हो या नियोजित विवाह हो। इस कहानी की परम्परा एवं साहित्य को देखते हुए इसमें किसी प्रकार के सामाजिक तत्त्व ढूंढ़ना पात्रों को वर्ग-प्रतिनिधि बताना या नई-पुरानी मे बाधना व्यर्थ ही नही कुछ-कुछ लगता है

भारतेन्दु इस कथा की ओर किसी सामाजिक उद्देश्य को लेकर नहीं झुके थे। बंगला में यह कथा बड़ी लोकप्रिय थी, यह उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है। वहाँ पर उन्होंने इसका सफल अभिनय देखा। उसी से प्रभावित हो कर उन्होंने इसे अपनाया, साथ ही यह आयु, रुचि एवं स्वभाव के अनुकूल भी थी। अतएव इस नाटक को भी बंगला की 'विद्यासुन्दर' की विशिष्ट परम्परा की पृष्ठभूमि में आँका जाये। इतनी समाज-निरपेक्ष रोमाण्टिक लोककथा में सामाजिकता देखना कैसे ठीक परिणाम पर पहुँचने देगा।

भारतेन्दु का 'विद्यासुन्दर' हिन्दी नाटक साहित्य के आविर्भाव में नयी दिशा का प्रवर्तन करता है। उसकी कथावस्तु का आधार प्रचलित प्रेमगाथा होते हुए भी नाट्य-कला की दृष्टि से वह पर्याप्त सफल एवं सरस रचना है। लोक-कथा की सीमाओं के बावजूद उसकी कहानी बड़ी गठी हुई तथा गतिशील है। कथा में कौतूहल है तथा पात्रों का व्यक्तित्व कुछ सीमा तक सजीव बन पाया है। डॉ० सोमनाथ गुप्त को इसमें 'अपरिपक्व नाट्यकला' दिखाई देती है।[८५] उनकी भ्रान्तियों का समाधान डॉ० ओझा ने बड़े युक्तिपूर्ण ढङ्ग से किया है।[८६] डॉ० गुप्त की दृष्टि से इस नाटक की भाषा में 'गठन और प्राञ्जलता' नहीं है।[८७] परन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचार से 'विद्यासुन्दर' के अनुवाद द्वारा भारतेन्दु ने हिन्दी गद्य को बहुत ही सुडौल रूप का आभास दिया।[८८] इस बात की व्याख्या की आवश्यकता दिखाई नहीं देती कि 'सुडौल' भाषा में 'गठन और प्राञ्जलता' के गुण कहाँ तक मिल सकते हैं। वास्तव में 'विद्यासुन्दर' प्रथम रचना होते हुए भी बड़ी सफल एवं प्रभावपूर्ण है।

'विद्यासुन्दर' एक रोमाण्टिक नाटक है। जिसमें भारतेन्दु की प्रेम-भावना ने मार्ग पाया। एक ओर इसकी भावधारा के सङ्केत भारतेन्दु की मौलिक कृतियों में मिल जाते हैं तथा दूसरी ओर इसका प्रभाव युग के प्रेम-नाटकों पर भी पड़ा। डॉ० वीरेन्द्रकुमार शुक्ल के विचारानुसार विद्यासुन्दर की प्रेम-भावना चन्द्रावली में प्रस्फुटित हुई। 'विद्यासुन्दर' में प्रेम का स्वरूप बड़ा समाज-निरपेक्ष एवं पार्थिव है, वह सूक्ष्म एवं भावपरक नहीं। वह शारीरिकता को लिये हुए संयोग-प्रधान है।

'चन्द्रावली' एक भावप्रधान नाटिका है। इसमें चन्द्रावली और कृष्ण का प्रेम-वर्णन (भक्ति का स्पर्श न होने के कारण) 'विद्यासुन्दर' की भावधारा से भिन्न नहीं लगता। यहाँ भी चन्द्रावली के प्रेम में ऐसा उन्माद है कि उसे लोक-लाज की चिन्ता नहीं रहती। वियोग-वर्णन में पर्याप्त भावप्रवण है पर कृष्ण-मिलन पर वैसी ही माँसलता मिलती है जो 'विद्यासुन्दर' में दिखाई देती है।[८९] तीसरे अङ्क में सामान्य रूप से तथा माधुरी और कामिनी के संवाद विशेष रूप से अश्लील से हो गये हैं। कहने को इसे भक्ति-भावना का सहारा दिया जा सकता है परन्तु वैयक्तिक स्तर पर प्रेम-निरूपण होने के कारण प्रतिच्छाया देखी जा सकती है। 'सती-प्रताप' में पातिव्रत का चाहे कितना उच्च आदर्श हो परन्तु सावित्री-सत्यवान का प्रेम विद्या-सुन्दर की तरह है। प्रथम दृष्टि पर ही सावित्री, सत्यवान की ओर 'सतृष्ण दृष्टिपात' करती है क्योंकि वह तो उसके लिये 'कै कोऊ बनदेव कुंज में वन बिहार बिलस्यो' है।[९०] उधर स्त्रियों की मधुर ध्वनि सुन कर सत्यवान के हृदय में सङ्गीत-लहरी उठती है। इस तरह प्रत्येक नाटक की सीमा का ध्यान रखते हुए भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से ये 'विद्यासुन्दर' से अनुप्राणित हैं। वस्तुत भारतेन्दु ने सर्वत्र समाज-बाह्य प्रेम को अपने नाटकों में स्थान दिया उस में रोमाण्टिक स्पर्श अधिक है जीवन का प्रतिबिम्ब कम।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि उस युग की विभिन्न समस्याओं और उनके चित्रण के सम्बन्ध में इतने जागरूक कलाकार की दृष्टि प्रेम के रोमानी एवं काल्पनिक स्वरूप की ओर ही गई, जीवन के कड़वे-मीठे सङ्घर्षों की पृष्ठभूमि में उसे प्रकट करने का विचार उसे नहीं आया। निश्चय ही इसके पीछे विद्यासुन्दर का प्रभाव कार्य कर रहा है।

'विद्यासुन्दर' का भारतेन्दु की रचनाओं पर इतना प्रभाव नहीं पड़ा जितना तत्कालीन प्रेम-प्रधान नाटकों पर। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं कि उन्होंने प्रेम-नाटकों का प्रवर्तन किया।[५१] यह पर्याप्त स्वाभाविक था। एक तो यह प्रेम-कहानी है जिसका आधार चमत्कार एवं औत्सुक्य है। लोक-कथा का ढाँचा होने के कारण प्रेम का स्वरूप लौकिक एवं शारीरिक रहता है। प्रेम-प्रधान नाटकों में गीतों के लिये भी बहुत गुन्जाइश रहती है। उद्देश्य एक ही है—समस्त बन्धनों को तोड़ कर प्रेम की विजय दिखाना। इन कारणों के फलस्वरूप इस प्रकार के कई नाटक लिखे गये। किशोरीलाल गोस्वामी के 'मयङ्कमञ्जरी' में भी सतीत्व के माहात्म्य को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। यही नहीं, नाटककार सुमन्त द्वारा स्त्री-स्वतन्त्रता पर भी जोर देता है, परन्तु इनके बावजूद नाटक के सामान्य वातावरण में उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। मयङ्कमञ्जरी राजकुमार वीरेन्द्र से प्रेम करती है परन्तु उसका पिता सुमन्त उसका विवाह वसन्त नामक चरित्रहीन युवक से करना चाहता है। लगभग रूढ़ सी बाधाएँ आती हैं परन्तु वीरेन्द्र औचित्य-अनौचित्य की चिन्ता किये बिना मयङ्कमञ्जरी को प्राप्त कर लेता है। स्पष्ट इस प्रेम का विकास समाज के रीति-नीति बन्धनों से दूर होता है। इसलिये उसका आधार गम्भीर एवं शालीन न होकर रूप एवं यौवन का उद्दाम आकर्षण मात्र है। वीरेन्द्र और मयङ्कमञ्जरी का आचरण इतना अशिष्ट, उच्छृंखल एवं अशिष्ट हो जाता है कि दोनों रीतिकालीन कामदग्ध पात्र दिखाई देते हैं।[५२] वीरेन्द्र के कार्य-व्यापार में चमत्कार है। वह छद्म वेश में वसन्त के बन्दीगृह में विद्यमान मयङ्कमञ्जरी की चारपाई के नीचे से निकल आता है। गीत तो आवश्यकता से कहीं अधिक हैं। इस तरह विषय-वस्तु और उद्देश्य की दृष्टि से यह नाटक 'विद्यासुन्दर' की परम्परा की कड़ी कहा जा सकता है।

कुछ एक नाटक तो 'विद्यासुन्दर' की रेखाओं पर ही लिखे गये। विन्ध्येश्वरीप्रसाद त्रिपाठी के 'मिथिलेश कुमारी' की घटनाएँ और पात्र विद्यासुन्दर की छाया मात्र हैं। इसे रूपान्तर कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी। खड्गबहादुर मल्ल का 'रति कुसुमायुध' भी 'विद्यासुन्दर' के अनुकरण पर लिखा गया है। अमानसिंह गोटिया तथा पं० जागेश्वरदयाल द्वारा प्रणीत 'मदन मञ्जरी', खिलावन लाल का 'प्रेम-सुन्दर', जवाहरलाल वैद्य का 'कमलमोहिनी भँवर सिंह' आदि इसी धारा के नाटक हैं। कुछ प्रभाव श्रीनिवासदास के 'तप्ता संवरण' तथा 'संयोगिता स्वयम्वर' मे भी देखा जा सकता है।[५३]

इस तरह निम्न निष्कर्ष निकलते हैं—'विद्यसुन्दर' मूलतः यतीन्द्रमोहन ठाकुर के इसी नाम के नाटक का अनुवाद है। अनुवाद को सुन्दर एवं सरस बनाने के लिये छोटे-मोटे परिवर्तन अवश्य मिलते हैं। यह नाटक बंगला में 'विद्यासुन्दर' की पुष्ट-परम्परा से अनुप्रेरित होकर लिखा गया। भारतेन्दु ने स्वयं इसका अभिनय देखा था। इसके बारे में अन्य भ्रान्तियाँ व्यर्थ हैं। इसने हिन्दी मे प्रेम प्रधान नाटको का प्रवतन किया

-सङ्केत

१. ब्रजरत्नदास द्वारा सम्पादित, 'भारतेन्दु ग्रन्थावली', (पहला खण्ड), 'नाटक
५४।

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ४५३।

३. मिश्रबन्धु, 'हिन्दी नवरत्न', पृ० ४८८।

४. श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित, 'भारतेन्दु नाटकावली', (प्र० सं०), भूमिक
०।

५. दिनेशनारायण उपाध्याय, 'हमारी नाट्य-परम्परा', पृ० ७८।

६. जयनाथ नलिन, 'हिन्दी नाटककार', पृ० ४२।

७. डॉ० रामरतन भटनागर, 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', पृ० २७।

८. डॉ० दशरथ ओझा, 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास', पृ० १९५।

९. गुलाब राय, 'हिन्दी नाट्य-विमर्श', पृ० ६४।

१०. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिन्दी साहित्य', पृ० ३९७।

११. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', पृ० ७२।

१२. श्रीकृष्णदास, 'हमारी नाट्य-परम्परा', पृ० ५३२।

१३. डॉ० सोमनाथ गुप्त, 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास', पृ० ४०।

१४. डॉ० वीरेन्द्र शुक्ल, 'भारतेन्दु का नाट्य-साहित्य', पृ० १८२।

१५. डॉ० सोमनाथ गुप्त, 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास', पृ० ३९।

१६. डॉ० गोपीनाथ तिवारी, 'भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य', पृ० १६५।

१७. "एक सज्जन ने विद्यासुन्दर को किस प्रकार बंगला नाटक का अनुवाद मान लिया
स्वयं नहीं बतला सके हैं।"—ब्रजरत्नदास द्वारा सम्पादित, 'भारतेन्दु नाटकावल
ीय भाग), भूमिका, पृ० २।

१८. रामगोपाल चौहान, 'हिन्दी नाटक : सिद्धान्त और समीक्षा', पृ० २७३।

१९. ब्रजरत्नदास द्वारा सम्पादित, 'भारतेन्दु ग्रन्थावली' (पहला खण्ड), 'विद्यासुन्दर', उपक्र

२०. डॉ० सुकुमार सेन, 'बांगला साहित्येर इतिहास' (द्वितीय खण्ड), पृ० ३२-३३।

२१. वही, पृ० ३६।

२२. डॉ० गोपीनाथ तिवारी, 'भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य', पृ० १६४-६५।

२३. ब्रजरत्नदास द्वारा सम्पादित, 'भारतेन्दु ग्रन्थावली' (पहला खण्ड), 'रत्नावल
का), 'धनञ्जय विजय', 'मुद्राराक्षस', और 'कर्पूरमञ्जरी', की प्रस्तावनाएँ देखिये।

२४. रामगोपाल चौहान, 'भारतेन्दु-साहित्य', पृ० १०१-१०२।

२५. यतीन्द्रमोहन ठाकुर—'विद्यासुन्दर' नाटक (१८६५ ई० द्वितीय बार मुद्रित
ङ्क, द्वितीय प्रस्ताव, पृ० १६।

२६ द्वारा सम्पादित 'भारतेन्दु ग्रन्थावली' पहला खण्ड
अङ्क, द्वितीय गर्भाङ्क, पृ० ७

२७ यतीन्द्रमोहन ठाकुर 'विद्यासुन्दर नाटक' तृतीयाङ्क, द्वितीय प्रस्ताव पृ० ७४।
२८ (द्वारा सम्पादित भारतेन्दु ग्रंथावली (पहला खण्ड) विद्यासु
अङ्क, द्वितीय गर्भाङ्क, पृ० ३५।
२९. डॉ० सुधाकर चट्टोपाध्याय, 'आधुनिक हिन्दी साहित्ये बांगलार स्थ
७-३९
३०. यतीन्द्रमोहन ठाकुर, 'विद्यासुन्दर नाटक', पृ० १४।
३१. Dinesh Chandra Sen, 'History of Bengali Language & liter
pp. 538-71.
३२. ब्रजरत्नदास, 'भारतेन्दु ग्रन्थावली' (पहला खण्ड), 'विद्यासुन्दर', उपक्रम।
३३. डा० सुकुमार सेन, 'बांगला साहित्येर इतिहास' (द्वितीय खण्ड), पृ० २६।
३४. वही, पृ० ८१-८२।
३५. वही, पृ० २९६।
३६. ब्रजरत्नदास द्वारा सम्पादित, 'भारतेन्दु नाटकावली' (द्वितीय भाग), भूमिक
।
३७. ब्रजरत्नदास, 'हिन्दी नाट्य-साहित्य', पृ० ७६।
३८. दिनेशचन्द्र सेन ने अपने इतिहास में भारतचन्द्र के काव्य की विस्तृत चर्चा की है।
३९. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', पृ० २०४।
४०. वही, पृ० २३३।
४१. A. B. Keith, 'A History of Sanskrit Literature, p. 188.
४२. डॉ० दशरथ ओझा, 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास', पृ० २०३।
४३. वही, पृ० १९९-२०१।
४४. डॉ० गोपीनाथ तिवारी, 'भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य', पृ० १६५।
४५. डॉ० सोमनाथ गुप्त, 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास', पृ० ४०।
४६. डॉ० दशरथ ओझा, 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास', पृ० १९६-९९।
४७. डॉ० सोमनाथ गुप्त, 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास', पृ० ४०।
४८. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ४५९।
४९. ब्रजरत्नदास द्वारा सम्पादित, 'भारतेन्दु ग्रन्थावली', (पहला खण्ड), चन्द्राव
६३-६४।
५०. वही, सती प्रताप, पृ० ६८३।
५१. डॉ० वीरेन्द्र शुक्ल, 'भारतेन्दु का नाट्य साहित्य', पृ० १९०।
५२. किशोरीलाल गोस्वामी, 'मयङ्कमञ्जरी' (१८९१ ई०), पृ० २० तथा २९।
५३. डॉ० गोपीनाथ तिवारी, 'भारतेन्दुकालीन हिन्दी नाटक', पृ० १६७-६८।

जैन रास-साहित्य : एक सिंहावलोकन

अगरचन्द नाहटा

जैन-धर्म प्राणिमात्र के उद्धार का सन्देश देता है और प्राणि-मात्र की हिंसा का विरोध करता है। दुःख के कारणभूत राग-द्वेष को कम करके प्रत्येक प्राणी कर्मों के आवरण को हटाकर आत्मिक सुख प्राप्त कर सकता है—यह सन्देश अधिकाधिक व्यक्तियों तक पहुँचाने के लिये जैन तीर्थङ्करों ने 'जन-भाषा' में अपना उपदेश प्रचारित किया। जैनाचार्यों ने भी सदा लोक-भाषा में साहित्य-निर्माण किया। नीति और धर्म-प्रचार के प्रति जनसाधारण का झुकाव अधिकाधिक सरलता से हो सके, इसलिये उन्होंने लोक-गीतों, लोक-कथाओं व व्यावहारिक दृष्टान्तों तथा लोकप्रिय काव्य शैलियों व रचना-प्रकारों को अपनाया। रास भी उसी तरह की एक लोकप्रिय रचना-प्रकार है।

भागवतपुराण में श्रीकृष्ण और गोपिकाओं की रासलीला का वर्णन मिलता है और इसे परवर्ती काव्यशास्त्रों के लेखकों ने 'रासक' और गीत-नृत्य प्रधान रूपक माना है। प्राचीन जैन रासों से भी यह स्पष्ट है कि वे नृत्य के साथ गाये जाते थे। इसीलिये उन रासों के अन्त में—

"रंगिहिए रंगिहिए रमई जे रासु", "एह रास जो देसि गुणसि।"

"रास रमेवउ जिण भवणइ, ताल मेल ठविपाव।"

"एहि रास जो पढ़इ गुणइ, नाचिउ जिणवर देव"

—आदि उल्लेख मिलते हैं। तथा ताला रासक और डण्ड रासक का जो 'सप्तक्षेत्र रास' में उल्लेख है, उससे भी इन रासों को गाते समय तालियों और डण्डियों (लकुटि) का नृत्य होता था और जैन-मन्दिरों में विविध उत्सवों में इन रासों के खेले व गाये जाने का खूब रिवाज था—सिद्ध होता है। प्राचीन सभी छोटे-छोटे रास इसी उद्देश्य से बनाये गये थे और जैन मन्दिरों के प्राङ्गणों में खेले गये थे। 'युग प्रधानाचार्य खरतर गुर्वावली' में जैनाचार्यों के नगर प्रवेश के समय किस तरह रास और चर्चरी दिये-खेले व गाये जाते थे, इसका एक उल्लेख देखिये—

"स्थाने स्थाने प्रमुदितजनेन दीयमानेषु प्रधान रासकेसु, नाना विपणीमार्गेषु गीयमानेषु विविध प्रवरचञ्चरीश्रेणिशतेषु"।

रास नामक एक छन्द रचना प्रकार-विशेष का विवरण विरहाङ्क के 'वृत्त जातिसमुच्चय' और स्वयम्भू के मे मिलता है उसके अनुसार बहुत से अडिल्ला दोहे मात्रा रडडा ढोसा घत्ता छप्पय तथा पद्धडिछन्द जिसमे पाये जाते हो उसे रासक या कहते हैं

काल से इन रास या रासक सज्ञक रचनाओ की परम्परा मिलने लगती है जिनदत्तसूरिजी का उपदेश रसायन रास और अब्दुल रहमान का सन्देश रासक अपभ्रश भाषा के रास है तेरहवी शताब्दी से प्राचीन राजस्थानी या गुजराती भाषा मे राससज्ञक रचनाय जैन विद्वानो ने बहुत बडी सख्या में बनाई हैं। हिन्दी में भी 'पृथ्वीराज रासो' आदि रासों की परम्परा १९वीं शताब्दी तक चालू रही है। श्वेताम्बर जैन कवियों के द्वारा तो अब भी रास बनाये जाते हैं और वे लोक-गीतों की देसियों में व्याख्यानों मे गा-गाकर जनता को सुनाये जाते हैं। यद्यपि इधर इसका प्रचार क्रमशः घटता जा रहा है।

जैनेतर और दिगम्बर जैन विद्वानों ने भी रासों की रचना की है, पर इस काव्यशैली या रचना-प्रकार को सबसे अधिक अपनाने वाले श्वेताम्बर जैन कवि ही हैं। उनके बनाये हुए रासो की संख्या दो-तीन हजार की है। उनमें से सैकड़ों रास तो प्रकाशित हो चुके है।

जैन श्वेताम्बर कॉन्फ्रेन्स ने अब से ५० वर्ष पूर्व श्वेताम्वर जैन रासों की सूची जैन रास-माला के नाम से प्रकाशित की थी और उसकी पूर्ति स्वर्गीय मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने सवत् १९७० में की थी। वास्तव में जैन रासों के विवरण को संग्रह करने एवं प्रकाशित करने मे सबसे अधिक श्रम स्वर्गीय देसाई ने ही किया है। किस प्रकार विभिन्न ज्ञान-भण्डारों में पहुँचकर उन्होंने यह विवरण तैयार किया, इसकी कुछ चर्चा 'जैन गुर्जर कवियों भाग १ व २' के निवेदन मे उन्होंने की है। 'जैन गुर्जर कविओं' के तीसरे भाग के तैयार करने में तो उन्होंने बहुत ही अधिक श्रम किया। वे उसकी प्रस्तावना करीब ५०० पृष्ठ की लिखने वाले थे पर दुर्भाग्यवश वे पूरा नहीं लिख पाये। उसके कुछ नोट्स मेरे पास अवश्य पड़े हैं जिससे उनके ५०० पृष्ठों की प्रस्तावना की रूप-रेखा व उसमें दी जाने वाली महत्व पूर्ण सामग्री का कुछ परिचय मिल जाता है। 'जैन गुर्जर कवियों' के तीन भागों में उन्होंने दो हजार से अधिक रास, चौपाई आदि रचनाओ का विवरण प्रकाशित किया है।' इससे श्वेताम्बर जैन-समाज के कुछ विशाल राजस्थानी-गुजराती भाषा की पद्य-रचनाओं की एक झाँकी मिल जाती है। अब हम 'रास' संज्ञक रचनाओ की कुछ ज्ञातव्य बातों की थोड़ी जानकारी प्रस्तुत कर रहे हैं।

(१) **प्राचीनता**—उपलब्ध 'रास' संज्ञक अपभ्रंश व राजस्थानी, हिन्दी, गुजराती भाषा की स्वतन्त्र रचनाओं से १२वीं शताब्दी के ग्रन्थों में रास का उल्लेख मिलता है। १०वी शताब्दी के आचार्य सिद्धर्षि के 'उपमिति भव प्रपञ्च कथा' में तो रिपुदारण रास व मन्द्र संस्कृत मे प्राप्त हुआ, जो डॉ० दशरथ शर्मा 'मरू भारती' वर्ष ४ अङ्क २-४ में प्रकाशित कर चुके है। इससे संस्कृत में भी रास संज्ञक रचनाएँ बनाई जाती थी, इसका उदाहरण मिल जाता है। रास की प्राचीन परम्परा और स्वरूप के सम्बन्ध में मेरे विद्वान् मित्र डॉ० दशरथ शर्मा ने लिखा है—

"रास एक गीत एवं नृत्य विशेष है, एक प्रकार का काव्य और उपरूपक भी। प्रारम्भ मे ये तीनों रूप मिले-जुले थे, जब आनन्दातिरेक से जन-समूह नृत्य करता है तो अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिये स्वभावतः वह गान और अभिनय का आश्रय लेता है। उसकी उमङ्ग के लिये सभी द्वार खुले हों, तभी उसे सन्तोष होता है। उसे सम्पूर्णाङ्ग नृत्य चाहिये, केवल मूक नृत्य उसके भावाभिव्यक्ति के लिये पर्याप्त नहीं। श्रीमद्भागवत पुराण का रास कुछ इसी तरह का है। उसमें गान-नृत्य और काव्य का मधुर मिश्रण है"

'उपमिति भवप्रपञ्च कथा' की रचना वि० सं० ९६२ में हुई। इसमें 'रास' शब्द का प्रयोग काफी मिलता है। पृष्ठ ३३० में शरद् ऋतु के वर्णन में उल्लिखित 'मण्डला' बद्ध रास से सिद्ध है कि आश्विन-कार्तिक में गोपाल मण्डल बान्ध, रास नृत्य करते थे। गोपाल ही शायद इस नृत्य के उद्भावक थे। इस ग्रन्थ में प्राप्त रिपुदारण रास और बठरू गुरू गीत जो सम्भवतः एक रास है---को डॉ० दशरथ शर्मा 'मरू भारती' में प्रकाशित कर चुके हैं। इसमें उल्लिखित मण्डला-बद्ध रास के साथ अभिनय एवं गान भी है। पृष्ठ ६७६ पर अपानक उत्सव में जोर-जोर से तालियाँ बजाकर मद्यपों के रास-नृत्य का जिक्र है। वसन्त में चर्चरी और हिण्डोल राग कुछ अधिक जन-प्रिय रहे होंगे (पृष्ठ ३९२)। श्री हर्षवर्द्धन रचित रत्नावली नाटिका से सिद्ध किया जा सकता है कि चर्चरी भी रास की तरह बहुत प्राचीनकाल में केवल नृत्य-विशेष ही नहीं रही थी; उसके साथ अभिनय और गान सातवीं शताब्दी में था इससे पूर्व ही सम्मिलित हो चुके थे। परवर्तीकाल में चर्चरी के स्वरूप में कुछ विकास हुआ किन्तु रास के विचित्र स्वरूप परिणाम के सामने, वह नगण्य था। दसवीं शताब्दी तक रास का अधिकांश वही रूप था, जो हम श्रीमद्भावगत में पाते ह।

१४वीं और १५वी शताब्दी के आरम्भ तक तो रास प्रायः छोटे-छोटे बनते थे और वे गाये व खेले जाते थे। १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से बड़े-बड़े चरित्रकाव्य रास के नाम से बनने लगे। तब वे अभिनय और नृत्य से विरत होकर केवल गेय रूप में ही रह गये। उसके बाद तो बड़े-बड़े सस्कृत और प्राकृत के ग्रन्थों का और अनेक चरित्र ग्रन्थों का 'रास' के रूप में अनुवाद हुआ और उन रासों का परिमाण ८-१० हजार श्लोक तक आ पहुँचा। तभी दूसरा उल्लेखनीय परिवर्तन यह भी हुआ कि लोक-गीतों की देशियों में इन रासों की ढालें गाई जाने लगीं। इससे हजारों प्रचलित लोक-गीतों के प्रारम्भिक अंश जो उन ढालों के प्रारम्भ में दिये गये हैं, सुरक्षित रह गये और उन गीतों का सङ्गीत भी जैन मुनियों के कण्ठों में परम्परागत जीवित रह गया। तीसरी विशेषता यह आयी कि १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही लोक-कथाओं को अधिकाधिक रासबद्ध किया गया और उन कथाओं को धार्मिक रूप देकर जनता को नीति और धर्म की बहुत बड़ी प्रेरणा दी गई।

(२) भाषा---रास संस्कृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, हिन्दी और गुजराती, इन पाँच भाषाओं में प्राप्त है। प्राचीन परम्परा को देखते हुए प्राकृत भाषा में रास रचे गये होंगे, पर वे अब प्राप्य नहीं हैं। अपभ्रंश के भी रास अपेक्षाकृत बहुत कम मिले हैं, क्योंकि दिगम्बर विद्वानों ने ही अपभ्रंश भाषा में सबसे अधिक और बड़े-बड़े चरित-काव्य लिखे हैं और उन्होंने चरित-काव्यों की संज्ञा रास नहीं रखी।

(३) विषय---प्रारम्भिक रास तो प्रधानतया चरित-काव्य ही हैं, जिनमें कुछ ऐतिहासिक और पौराणिक हैं तथा कुछ रास शिक्षा, उपदेश तथा धार्मिक विषयों से सम्बन्धित हैं। आगे चलकर चरित-कथाओं की प्रधानता तो रही ही, पर अनेक नये-नये विषय सम्मिलित होते गये। जैन सैद्धान्तिक विषयों के सम्बन्ध में भी अनेक रास रचे गये हैं।

(४) उद्देश्य---रासों की रचना का उद्देश्य जैसा कि प्रारम्भ में लिखा जा चुका है---प्रारम्भ में तो जैन मन्दिरों में उत्सव आदि प्रसङ्गों में तालियों और डण्डियों के साथ खेले व गाये जाने का रहा है। दूसरा उद्देश्य जनता में धार्मिक भावना को बढाना रहा है। आगे चलकर सभी ज्ञातव्य बातों को इन रासो के द्वारा जन से समझ सके यह व्यापक उद्देश्य हो गया

(५) **परिमाण**—जब तक ये रास खले जाते रहे परिमाण मे उनका छोटा होना स्वाभाविक था पर जब पाठय और गेय मात्र रह गये तब परिमाण बढता गया प्रारम्भिक रासो मे से सं० १२४१ में शालिभद्र सूरि रचित 'श्री भरतेश्वर बाहुबली रास' १५वीं शताब्दी की पूर्वार्द्ध तक की प्राप्त रचनाओं में सबसे बड़ा है। वास्तव में वह करीब दो सौ वर्ष की रास-परम्परा मे एक अपवाद-सा है। वास्तव में यह रासा-बद्ध या छन्द में रचा गया है, अन्य रासो की तरह खेलने के लिये नहीं।

पहले लिखा गया है कि रासों का परिमाण बढ़ते-बढ़ते ८-१० हजार श्लोक तक जा पहुँचा। यदि पृथ्वीराज रासों को सम्मिलित करते हैं तो उसका वृहद् संस्करण ३५-४० हजार श्लोक परिमित है। छन्द वैविध्य और परिमाण की दृष्टि से रासो संज्ञक रचनाओं में यह सबसे बड़ा महाकाव्य है। सबसे अधिक रास-संज्ञक रचनाओं के निर्माता—वैसे तो श्वेताम्बर-दिगम्बर अनेक कवियों में एक-एक ने १०-१२ रास बनाये हैं और उनका परिमाण हजारों श्लोकों का है पर सबसे अधिक रास बनाने वाले खरतरगच्छ के कवि जिनहर्ष हैं, जिन्होंने अकेले पचास के करीब रास बनाये। वि० सं० १७०४ से १७६२ तक की उनकी रचनाएँ मिलती हैं। प्रारम्भ में वे राजस्थान में पैदल विहार करते रहे, अतः उस समय की रचनाओं की भाषा तो राजस्थानी है, पर जीवन के पिछले २५ वर्ष उन्होंने गुजरात के पाटन में बिताये, अतः पिछली रचनाओं की भाषा गुजराती होना स्वाभाविक है। उनके कई रास हजारों श्लोकों के बड़े-बड़े हैं। उपमितिभवप्रपञ्च तथा रास ४३०० श्लोक का, बीस स्थानक (पुण्य विलास) रास ४६३५ श्लोकों का, कुमारपाल रास ४१०७ श्लोकों का, शत्रुञ्जय माहात्म्य रास ८५६८ श्लोक का तथा महाबल मलया-सुन्दरी रास ३८७५ श्लोकों का है। इस प्रकार उनकी समस्त रचनाएँ करीब एक लाख श्लोक की होंगी। इसी तरह कवि ऋषभदास, जिन समुद्र सूरि आदि कई बड़े-बड़े रासकार हुए है।

रासों का प्रचार—मुद्रण युग से पूर्व जैन रासों का प्रचार बहुत अधिक रहने से एक-एक रास की १०-२०-५० यावत् सैकड़ों प्रतियाँ भी लिखी गई हैं और हजारों व्यक्तियों द्वारा कई रासों का तो नित्य पाठ होता रहा है। उदाहरणार्थ—राजस्थान में खरतरगच्छ का अधिक प्रभाव रहा। उस गच्छ के महो० समयसुन्दर जी के शत्रुञ्जय रास, उपाध्याय विनयप्रभ के गौतम रास का राजस्थान में हजारों व्यक्ति नित्य पाठ करते रहे हैं। जिनराजसूरि रचित शालिभद्ररास भी बहुत ही लोकप्रिय रहा है। उसकी सैकड़ों प्रतियाँ मिलती हैं, जिनमें से कई सचित्र भी है। मेरे देखते-देखते श्वे० मूर्तिपूजक समाज में दोपहर और रात के मुनिजनो के व्याख्यानों में रास गा-गा कर व्याख्यान किया जाता था। श्रीपाल रास का तो अब तक अच्छा प्रचार है। तपागच्छ में तो उपाध्याय विनयविजय जी और यशोविजय जी रचित श्रीपाल रास सबसे अधिक लोकप्रिय रहा है।[२]

प्रकाशन—रासों की इस लोकप्रियता और प्रचार के कारण ही मुद्रणयुग के प्रारम्भ मे जब जैन-ग्रन्थ छपने लगे तो रासों का प्रकाशन भी प्रारम्भ हुआ और विविध स्थानों से अनेक व्यक्तियों और संस्थाओं द्वारा सैकड़ों रास छप चुके हैं। इनमें सबसे अधिक रासों का प्रकाशन बम्बई के भीमसी माणक ने किया। भीमसी माणक के प्रकाशन की दो विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—प्रथम, गुजरात से प्रकाशित करने पर भी सारे भारत के लोग लाभ उठा सकें, इसलिए उन्होने नागरी लिपि मे ही ग्रन्थ छपाय दूसरी विशेषता यह कि उनके प्रकाशित ग्रन्थ अन्य प्रकाशनो की

अपेक्षा अधिक शुद्ध है। कागज, छपाई उत्तम और मूल्य भी उचित रखा गया है। जैन लिपि को टाइप में प्रधानता देना तो उनकी और विशेषता की बात थी।

स्थानकवासी समाज में भी रासों का खूब प्रचार रहा है और आज भी व्याख्यानो मे उनकी ढालों को गाकर उनकी व्याख्या की जाती है। लोकाशाह से लेकर अब तक स्थानकवासी कवियों के रासों की संख्या सैकड़ों की है। कवि केशराज की रामायण—रामयशोरसायन रास का तेरापन्थी व स्थानकवासी समाज में अच्छा प्रचार रहा है। तेरापन्थी साधु तो चौमासे के रात्रि के व्याख्यान में इसी रामायण की ढालें चार महीने नियमित रूप से गाते रहे हैं। यद्यपि इस रास में जो जैन मन्दिर व मूर्ति के उल्लेख थे, वे दोनों सम्प्रदायों की मान्यताओं से मेल न खाने के कारण निकाल दिये गये या परिवर्तित कर दिये गये हैं, जिनका पता 'आनन्द काव्यमहोदधि मौक्तिक' में प्रकाशित इस रामायण रास के संस्करण से चलता है।

स्थानकवासी आचार्यो व मुनियों ने इधर कुछ रास हिन्दी भाषा में भी बनाये है। गुजराती में तो अनेक रास अभी तक बनाये जाते रहे हैं। मूर्तिपूजक समाज में खरतरगच्छीय मुनि कान्तिसागर जी ने अञ्जनारास वि० सं० २००४ में बीकानेर में बनाया। मूर्तिपूजक सम्प्रदाय का शायद यही अन्तिम 'रास' है। मूर्तिपूजक समाज में तपागच्छ और खरतरगच्छ इन दो गच्छो का सबसे अधिक प्रभाव रहा है। फलतः सबसे अधिक रास इन दोनों गच्छों के कवियों के मिलते है। स्थानकवासी कवियों के रास भी बहुत से होंगे, पर प्रकाशित थोड़े से ही हुए हैं। तेरापन्थी सम्प्रदाय के तो और भी कम छपे हैं। दिगम्बर समाज के तो कुछ एक कवियों ने ही रास बनाये है, जिनमें ज्निदास, रायमल उल्लेखनीय हैं। इनमें से जिनदास तथा एक-दो और-और कवियो के दिगम्बर रास गुजराती में छपे है। इस सम्प्रदाय में रासों का अधिक प्रचार नहीं रहा। कुल मिलाकर ६०-७० रास रचे गये होंगे, पर छपे ४-५ ही हैं।

जैनेतर कवियों ने भी काफी रास बनाये है। पर पृथ्वीराज रासो और बीसलदेव रास को छोड़कर बाकी सभी रास १५वीं शताब्दी के बाद के रचे हुए हैं। बीसलदेव रास का भी सबसे अधिक प्रचार श्वेताम्बर जैन समाज में ही रहा। क्योंकि अब तक इसकी २५-३० प्रतियां मिली हैं, वे सभी जैन भण्डारों में व जैन मुनियों की लिखी हुई हैं और इस रास के छन्द में कई श्वेताम्बर-दिगम्बर जैन कवियों ने अपने रास बनाये हैं। इस तरह इस रास को बचाये रखने का समस्त श्रेय जैन यतियों को है। अपभ्रंश भाषा के 'सन्देश रासक' को भी जैन मुनियों ने ही जीवित रखा है और इसकी संस्कृत में टीका-टिप्पणी भी लिखी। पृथ्वीराज रासो के मैंने चार संस्करण खोज निकाले हैं, उनमें लघुतम संस्करण की अब तक दो ही प्रतियां मिली हैं, जिनमें से एक जैनमुनि की लिखी हुई है। पर मध्यम संस्करण को तो जैन यतियों ने ही सुरक्षित रखा। उसकी प्राय समस्त प्रतियाँ उनकी लिखी हुई व जैन ज्ञान भण्डारों में मिलती हैं। वृहद् संस्करण की भी कई प्रतियाँ जैनयति-महात्माओं की लिखी हुई हैं। इससे यह स्पष्ट है कि पृथ्वीराज रासो के सरक्षण और प्रचार में भी जैनों का विशेष योगदान है। राजस्थानी भाषा के रामरासो आदि की भी कई प्रतियाँ जैन यतियों की लिखी हुई मिली हैं और जैतसी रास नामक ऐतिहासिक महत्व-पूर्ण रास की दो ही प्रतियाँ मेरे संग्रह में प्राप्त हैं और वे दोनों ———च्छ के यति की लिखी हुई हैं अत इस रास को बचाने का भी श्रेय जन यतियो को ही है और भी अनेक जैनेतर रासो

की प्रतिया जन यतियो की लिखी हुई जैन भण्डारो मे सुरक्षित है जिनमे से कुछ का विवरण जन गुजर कविओ के भाग ३ के परिशिष्ट न० १ म श्री देशाई महोदय ने दिया हे

हिन्दी, गुजराती तथा राजस्थानी साहित्य का प्रारम्भिक युग रासो काव्यधारा से प्रारम्भ होता है। जैनेतर कवियों ने जो रास बनाये हैं, उनमें से हिन्दी के रासो ग्रन्थ तो बहुत ही कम छपे है जबकि गुजरात के जैनेतर कवियों के अनेकों रास प्रकाशित हो चुके हैं और अब भी उनका प्रकाशन जारी है। राजस्थानी भाषा के जैनेतर रासों में अधिकांश अप्रकाशित हैं; वैसे गुजराती रासों की अपेक्षा जैनेतर राजस्थानी रास संख्या में हैं भी बहुत कम।

इस तरह रास संज्ञक रचनाओं की प्राचीन व विशाल परम्परा सम्बन्धी सब ज्ञातव्य बातो पर यहाँ संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। आवश्यकता है इस विशाल साहित्य के सम्बन्ध में स्वतन्त्र अनुसन्धान किये जाने की। वास्तव में रासो सम्बन्धी प्रबन्ध का लिखा जाना बहुत ही आवश्यक है। तभी इस विशाल साहित्य का जो विविध दृष्टि से महत्त्व है, वह प्रकाश में आ सकेगा।

भाषा-विज्ञान का अध्ययन करने के लिये रास-साहित्य का अध्ययन बहुत ही आवश्यक एव महत्त्व का है। क्योंकि इस साहित्य का निर्माण बहुत व्यापक प्रदेश में हुआ और ८०० वर्ष से भी अधिक समय की इनकी लम्बी परम्परा है। जैनरास तो प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक चरण के प्राप्त है और राजस्थान, गुजरात में ही नही, पंजाब, सिन्ध, बंगाल तथा मध्यप्रदेश में भी जैन कवियों द्वारा रास रचे जाते रहे हैं, इसलिये अनेक प्रान्तों व स्थानों के शब्दो का बहुत अधिक उपयोग इन रासो में हुआ है। समय-समय पर विभिन्न स्थानों में भाषा के मूल में क्या परिवर्तन आया? निकटवर्ती प्रान्तों मे भी शब्द रूपों में क्या अन्तर रहा? इन सब बातों का अध्ययन रास-साहित्य के गम्भीर अध्ययन पर ही निर्भर है। छन्दों की दृष्टि से भी रासों साहित्य का वैविध्य-उल्लेखनीय है। लोकगीतों और कथाओं की बहुत बड़ी सुरक्षा जैन रास-साहित्य ने की है। काव्य की दृष्टि से भी कई रास बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। इन रासों के द्वारा ८०० वर्षों के भारतीय जीवन और संस्कृति का अध्ययन भी किया जाना अपेक्षित है। अनेक रास ऐतिहासिक भी है जिनसे बहुत से महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आ रहे हैं। बहुत से रास ऐतिहासिक न होने पर भी उनकी अन्तिम प्रशस्तियाँ, अनेकों ऐतिहासिक तथ्यों से परिपूर्ण हैं। जैन इतिहास के साथ-साथ भारतीय इतिहास की भी बहुत-सी मूल्यवान् सामग्री ऐतिहासिक रासों और प्रशस्तियो मे सुरक्षित है। बहुत से नगर, ग्राम और वहाँ के शासकों आदि के उल्लेख तो इन रासो में ही सुरक्षित रह गये हैं। साहित्यिक दृष्टि से तो इस साहित्य का महत्त्व निर्विवाद है। अनेक काव्य-शैलियों और रचना-प्रकारों पर रासों के अध्ययन से नवीन प्रकाश मिलेगा।

सन्दर्भ-सङ्केत

बेलि-काव्य की परम्परा

नरेन्द्र भानावत

वल्ली, बल्लरी, बेलि और बेल संज्ञक रचनाओं की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। वाङमय को उद्यान मानकर ग्रन्थों को चाहे वे व्याकरण, वेदान्त, दर्शन, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, अलङ्कार शास्त्र, कोष, इतिहास, नीतिशास्त्र, काव्य आदि किसी भी विषय से सम्बन्ध रखने वाले हो—वृक्ष (कल्पतरु, कल्पद्रुम आदि) तथा वृक्षाङ्गवाची (लता, मञ्जरी, पल्लव, कलिका, गुच्छक कन्दली, बीज आदि) नाम से पुकारने की प्राचीन परिपाटी रही है। बेलि तथा बेल संज्ञक रचनाएँ भी इसी प्रकार की हैं। बीकानेर के कवि राठौर पृथ्वीराज कृत 'क्रिसन रुकमणी री वेलि' हिन्दी साहित्य की महत्वपूर्ण कृति है।[१] अब तक विद्वानों के सामने वेलि संज्ञक यही रचना प्रकाशित रूप में थी, अत: वेलि-काव्य-रूप को लेकर जो थोड़ी बहुत चर्चा हुई वह इसी कृति को आधार मानकर हुई। विद्वानों ने पृथ्वीराज को वेलि-परम्परा का प्रवर्त्तक मान लिया।[२] पर यह सच नहीं है।

वेलि-काव्य की परम्परा बहुत पुरानी है। कुछ उपनिषदों में अध्यायों या अध्यायों के विभाग का नाम वल्ली मिलता है। कठोपनिषद् में दो अध्याय और छह वल्लियाँ हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् के सातवें, आठवें और नवें में प्रपाठक को क्रमश: 'शिक्षावल्ली', 'ब्रह्मानन्द वल्ली' और 'भृगुवल्ली' कहा गया है। आगे चलकर वल्ली संज्ञक कई रचनाएँ संस्कृत-प्राकृत में लिखी गईं। उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं:—

रचना-नाम	रचनाकार
१—चातुर्मास्य-व्रत कल्पवल्ली	विरूपाक्ष
२—द्रव्यगुण कल्पवल्ली	—
३—नानार्थ कल्पवल्ली	वैङ्कट भट्ट
४—विकृतिवल्ली	व्यालि
५—पद्धति कल्पवल्ली	विट्ठल दीक्षित
६—मधु-केलिवल्ली	गोवर्धन भट्ट
७—सपर्य्याक्रम कल्पवल्ली	वीरभद्र
८ [illegible] कल्पवल्ली	[illegible]

यही वल्ली' शब्द प्राकृत और अपभ्रंश मे 'वेल्लि' होता हुआ हिन्दी मे 'वेलि' तथा 'वेल' में रूपान्तरित हो गया विद्यापति ने अपनी रचना का नाम कीर्त्तिलता' रखा है पर उसे वल्लि' भी कहा है।[3] वेल नाम की सर्वप्रथम रचना रोड़ाकृत 'राउलवेल' मिलती है जिसका रचना-काल डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने ११वीं शती के लगभग अनुमानित किया है।[4] राजस्थान, ब्रज और गुजरात में यह काव्य-परम्परा आगे चलकर बहुत अधिक विकसित हुई।

राजस्थानी वेलि साहित्य—राजस्थानी वेलि साहित्य का इतिहास १५ वीं शती से १९ वीं शती तक का मिलता है। विषय और शैली की दृष्टि से इसे तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

(१) लौकिक वेलि साहित्य—रामदेवजी के भक्तों द्वारा गाया जाने वाला
(२) जैन वेलि साहित्य—जैन सन्तों द्वारा बोलचाल की भाषा में लिखा गया
(३) चारणी वेलि साहित्य—डिङ्गल शैली में लिखा गया साहित्य

(१) **लौकिक वेलि साहित्य**—यह साहित्य तीन रूपों में मिलता है—ऐतिहासिक, जन-श्रुतिपरक और नीतिपरक। भजनीक लोग रात्रि को आईजी के मन्दिर में बैठकर इसे बड़ी श्रद्धा से समवेत स्वर में गाते हैं। मारवाड़ के बिलाड़ा क्षेत्र में इसका बड़ा प्रचार है। इस साहित्य के अन्तर्गत निम्नलिखित वेलि-काव्य मिलते हैं—

रचना-नाम	रचनाकार	रचना-काल (सम्भावित)
(१) रामदेवजी री वेल	सन्त हरजी भाटी	१५वीं शती का उत्तरार्द्ध
(२) रूपान्दे री वेल	,,	,,
(३) तोलान्दे री वेल	—	,,
(४) रत्नादेरी वेल	तेजो	१५वीं शती का अन्त
(५) आईमाता री वेल	सन्त सहदेव	सं० १५७६
(६) पीर गुमान सिंघरी वेल	—	१८ वीं शती का अन्त
(७) बाबा गुमान भारती री वेल	चिमन जी कविया	१९वीं शती का उत्तरार्द्ध

(२) **जैन वेलि साहित्य**—यह साहित्य राजस्थान व गुजरात के विभिन्न जैन भण्डारो व पुस्तकालयों में हस्तलिखित प्रतियों के रूप में बिखरा पड़ा है। जैन वेलि-काव्य को स्थूल रूप से तीन भागों में बांटा जा सकता है —

(क) **ऐतिहासिक स्तवनात्मक**—इसमें वेलिकारों द्वारा अपने गुरुओं (धर्माचार्यो) का ऐतिहासिक जीवनवृत्त प्रस्तुत किया गया है। भट्टारक धर्मदास ने भट्टारक गुणकीर्ति की (गुरु-वेलि—सं० १९३८ पूर्व), कान्तिविजय ने यशोविजय की (सुजसवेलि—सं० १७४५), सकलचन्द्र ने हीरविजय सूरि की (देशनावेलि—सं० १६५२ के बाद), वीर विजय ने शुभविजय की (शुभवेलि—स० १८६०) तथा साधुकीर्ति ने जिनभद्र सूरि से लेकर जिनचन्द्र सूरि तक की खरतर-गच्छीय पाट-परम्परा का वर्णन करते हुए युग-प्रधान जिनचन्द्र सूरि की (सव्वत्थ वेलि प्रबन्ध—सं० १६१४ के आसपास) जीवन गाथा को अपने काव्य का विषय बनाया है। समयसुन्दर ने श्रमण होकर भी सङ्घपति श्रावक सोमजी को सोमजी निर्वाण वेलि स० १६७० के लगभग अपनी श्रद्धाञ्जलि

अर्पित की है। कनक सोम ने खरतरगच्छ और तपागच्छ के वीच हुई ऐतिहासिक पौषध चर्चा का (जइतपद वेलि—सं० १६२५) वर्णन किया है।

(ख) **कथात्मक**—इसमें जैन कथाओं को काव्य का विषय बनाया गया है। कथाएँ विशेषकर तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, बलदेव, सती तथा अन्य महापुरुषों से सम्बन्धित हैं। तीर्थङ्करों मे ऋषभदेव (ऋषभगुण वेलि, आदिनाथ वेलि), नेमिनाथ (नेमिपरमानन्द वेलि, नेमीश्वर की वेलि, नेमीश्वर स्नेह वेलि, नेमिनाथ रसवेलि, नेमिराजुल बारहमासा वेल, प्रबन्ध, नेमराजुल वेलि, पार्श्वनाथ (पार्श्वनाथ गुणवेलि) और बर्द्धमान भगवान् महावीर (वीर वर्द्धमान जिन बेलि, वीर जिन चरित्र वेलि) का आख्यान गाया गया है।—चक्रवर्तियों में भरत (भरत की वेलि), बलदेवो मे बलभद्र (बलभद्र वेलि) तथा सतियों में चन्दनवाला (चन्दनबाला वेलि) और राजमती का वृत्त अपनाया गया है। अन्य महापुरुषों में जम्बूस्वामी (जम्बूस्वामी वेलि, प्रभव जम्बूस्वामी वेलि), बाहुवली (लघुबाहुली वेलि), स्थूलिभद्र (स्थूलिभद्र मोहन वेलि, स्थूलिभद्र शीयल वेलि, स्थूलिभद्र कोश्या रस वेलि), रहनेमि (रहनेमि वेल), वल्कलचीरी (वल्कलचीर ऋषिवेलि), सुदर्शन (सुदर्शन स्वामी वेलि) तथा मल्लिदास (मल्लिदासनी वेलि) आदि की कथा को काव्यबद्ध किया गया है। तीर्थव्रतादि के माहात्म्य को बतलाने के लिये 'सिद्धाचल सिद्धवेलि' तथा 'कर्मचूर व्रत कथावेलि' की रचना की गई है।

(ग) **उपदेशात्मक**—इसमें आध्यात्मिक उपदेश दिया गया है तथा ससार की नश्वरता एव असारता का वर्णन कर जीव को जन्म-मरण से मुक्त होने के लिये प्रेरित किया गया है। यह उपदेश इन्द्रिय (पंचेन्द्रिय वेलि—सं० १५५०), गति (चिहुंगति वेलि—सं० १५२०, के लगभग, पचगति वेलि—सं० १६८३, वृहद्गर्भ वेलि—सं० १६८०, जीव वेलड़ी—१८२४), लेश्या षडलेश्या वेलि—सं० १७३०), गुणस्थान (गुणठाणा वेलि—सं० १६१६, लिपिकाल), कषाय (चार कषाय वेलि—सं० १६७०, क्रोधवेलि—सं० १५८८), भावना (बारह भावना वेलि—स० १७०३) आदि का तात्विक विश्लेषण कर दिया गया है। यशोविजय कृत 'अमृतबेलिनी सज्झाय' (सं० १७००-३९ के बीच) में तथा छीहलकृत 'वेलि' (सं० १५७५-८४ के बीच) मे सामान्य रूप से मन को विषयवासना से हटाकर आत्म-ज्ञान प्राप्त करने की बात कही गई है। 'प्रतिमाधिकार वेलि' (सं० १६७५) में जिन-प्रतिमा को पूजने की देशना दी गई है।

(३) **चारणी बेलि साहित्य**—यह साहित्य राजस्थान के राजा-महाराजाओं के निजी सग्रहालयों में सामान्यतः सुरक्षित है। इसे स्थूल रूप से दो भागों में बाँट सकते हैं—

(क) **ऐतिहासिक**—इसमें राजकुल के तथा सामन्तकुल के विभिन्न वीरों का यशोगान किया गया है। यह यशोगान प्रायः युद्धवर्णन एवं शृङ्गार-वर्णन के रूप में हुआ है। अखो भांणौत ने बगड़ी के सामन्त देवीदास की युद्ध वीरता का (देईदास जैतावत री वेल—सं० १६१३ के लगभग), दूदो विसराल ने रतनसी रवींवावत के आत्मोत्सर्ग का (रतन सी रवींवावत री वेल—स० १६१४ के आसपास), बीठू मेहा दुसलांणी ने चान्दाजी की विजय वैजयन्ती का (चान्दाजी री वेल—सं० १६२४ के बाद) तथा सान्दू माला ने बीकानेर-नरेश रायसिंह के वीर व्यक्तित्व का रामसिघ री वेल—स० १६५३ के ओजस्वी वर्णन किया है

महडू ने 'राउ रतन री वेल' स० १६६४-८८ के बीच में गाडण चोलो ने सूरसिंघ री वेल

(स० १६७२) में तथा गाडण वीरभांण ने 'अनोपसिंघ री वेल (सं० १७२६ से पूर्व) में अपने-अपने चरित्र-नायक की वंश-परम्परा का उल्लेख कर उसकी प्रशंसा की है।

(ख) **धार्मिक-पौराणिक**—इसमें विष्णु और शिव के प्रति भक्ति-भावना प्रकट की गई है। विष्णु के रूप में राम और कृष्ण दोनों को अपनाया गया है। महेसदास ने १८वीं शती के प्रारम्भ में 'रघुनाथचरित नवरस वेलि' की रचना कर राम के चरित्र में नव-रसों की व्यञ्जना की तो राठौड़ कवि पृथ्वीराज ने 'क्रिसन रुक्मणी री वेलि' रचकर कृष्ण के चरित्र में शक्ति और शृङ्गार की गङ्गा-यमुना प्रवाहित कर दी। सं० १६०० के आसपास सांखला करमसी रूणेचा ने 'किसनजी री वेलि' में रुक्मणी के नख-शिख का साहित्यिक निरूपण किया तो चूडौ दधवाडिया ने १७वीं शती के प्रारम्भ में 'गुणचांणिक वेल' में भक्ति का शुद्ध स्वरूप प्रकट किया। शिव और शक्ति के सम्बन्ध को लेकर आढ़ा किशना ने 'क्रिमण रुक्मणी री वेलि' के टक्कर की 'महादेव-पार्वती री वेलि' लिखी और जसवन्त नामक कवि ने 'त्रिपुर सुन्दरी री वेल' का सृजन किया।

ब्रजभाषा वेलि साहित्य—ब्रजभाषा में 'लता' और 'वेलि' दोनों नाम से लिखी जाने वाली अनेक रचनाएँ मिलती हैं। अकेले रसिकदास (ये गोस्वामी धीरीधर के शिष्य थे। इनका रचना काल-सं० १७४३ से १७५३ तक का है) ने २० 'लता' संज्ञक रचनाएँ लिखीं।[५] 'वेलि' और 'वल्लरी' नाम से लिखी जाने वाली रचनाएँ तो और भी अधिक हैं। कबीर के बीजक[६] में 'वेलि' नाम की एक छोटी सी (केवल २३ छन्द) रचना मिलती है जिसकी प्रत्येक पंक्ति के अन्त में "हो रमैया राम" शब्द आते हैं।"[७] बीजक की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है, अतः नरोत्तमदास स्वामी ने कबीर के नाम से संग्रहीत इस वेलि को कबीर की रचना नहीं माना है।[८] ब्रजभाषा में 'वेलि' 'वेल' तथा 'वल्लरी' नाम से मिलने वाली रचनाओं के नाम इस प्रकार है—

	रचना-नाम	रचनाकार	रचना-काल
(१)	काया वेल	दादू	१७ वीं शती का मध्य
(२)	मनोरथ वल्लरी	रामराय	सं० १७८९ लेखनकाल
(३)	मनोरथ वल्लरी	तुलसीदास	सं० १७९३ लेखन काल
(४)	रस केलि वल्ली	घनानन्द	१८वीं शती का उत्तरार्द्ध
(५)	वियोग वेलि	घनानन्द	"
(६)	वैराग्यवल्लरी	नागरीदास	सं० १७७२
(७)	कलि वैराग्य वल्लरी	नागरीदास	सं० १७९५
(८)	मोहन वेलि	पद्माकर	—
(९)	दुखहरण वेलि	महाराज प्रतापसिंह 'ब्रजनिधि'	१९ वीं शती का मध्य
(१०)	प्रीति वेलि	अमृतराम	सं० १८६९ के लगभग

संख्या में सब से अधिक 'वेलि' संज्ञक रचनाओं के प्रणेता हैं चाचा वृन्दावनदास। इनका रचना-काल सं० १८०० से १८४४ रहा है। ये राधावल्लभी गोस्वामी हितरूप जी के शिष्य थे और के भाई बहादुर सिंह के यहाँ रहे थे इन्होंने ७१ वेलियों की रचना की है

इनका वर्ण्य-विषय प्रधानतः कृष्ण और 'राधा की भक्ति तथा ब्रजभूमि का माहात्म्य रहा है। इनके द्वारा रचित 'वेलि' संज्ञक रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—

	रचना-नाम	रचना-काल	छन्द-संख्या
(१)	हरि प्रताप वेलि	संवत् १८०३ माघ वदी सातम	१०९
(२)	सत्सङ्ग महिमा वेलि	सं० १८०४ माघ वदी १३	८८
(३)	ब्रज विनोद वेलि	सं० १८०४ माघ शुक्ल ७	१५१
(४)	करुणा वेलि	सं० १८०४ ज्येष्ठ कृष्ण ५	६६
(५)	भक्त सुजस वेलि	सं० १८०४	८१
(६)	जमुना महिमा वेलि	सं० १८०४ पौष सुदी ७	११०
(७)	श्री वृन्दावन महिमा वेलि	सं० १८०५ माघ शुक्ल ११	२१०
(८)	रसना हित उपदेश वेलि	सं० १८०५ पौष वदी ११	१०१ पद ५ दोहे
(९)	मन उपदेश वेलि पदबन्ध	सं० १८०६ पौष शुक्ल २	१२६ पद १३ दोहे
(१०)	भक्त प्रसाद वेलि पदबन्ध	सं० १८०९ पौष शुक्ल १३	१७६ पद ८ दोहे
(११)	ब्रज प्रसाद वेलि पदबन्ध	सं० १८११ माघ शुक्ल १५	२१६ पद २ कवित्त
(१२)	श्री राधा जन्मोत्सव वेलि	सं० १८१२ भाद्र मास	६० कवित्त (पूर्वार्द्ध)
(१३)	वृन्दावन अभिलाष वेलि	सं० १८१२ आषाढ़ शुक्ल ११	१६५
(१४)	मङ्गल विनोद वेलि	सं० १८१२ पौष शुक्ल ३	
(१५)	कृपा अभिलाष वेलि	सं० १८१२ पौष शुक्ल ११	११२
(१६)	कलि चरित्र वेलि	सं० १८१२ माघ कृष्ण ९	१२५
(१७)	राधा प्रसाद वेलि	सं० १८१२ माघ शुक्ल ५	१२६
(१८)	श्रीकृष्ण सगाई अभिलाष वेलि	सं० १८१२ फाल्गुन शुक्ल ११	३५०
(१९)	श्रीकृष्णप्रति यशुमति शिक्षा वेलि	सं० १८१३ चैत्र शुक्ल २	१९२
(२०)	ज्ञानप्रकाश वेलि	सं० १८१३ चैत्र शुक्ल ९	८४
(२१)	बारह खड़ी भजनसार वेलि	सं० १८१३ चैत्र शुक्ल १३	१५२
(२२)	हितप्रताप वेलि	सं० १८१३ माघ कृष्ण १३	८४ पद ८ दोहे
(२३)	हरि कला वेलि	सं० १८१३	प्रारम्भ
(२४)	मनप्रबोध वेलि	सं० १८१३ श्रावण मास	८७
(२५)	हरिकला वेलि	सं० १८१७ आषाढ़ कृष्ण ११	१९१
(२६)	जमुनाप्रताप वेलि	सं० १८१७ कार्तिक वदी ११	१०९
(२७)	श्री वृषभानुनन्दिनी श्रीनन्द-नन्दन व्याह मङ्गल वेलि	सं० १८१७ फाल्गुन वदी एकादशी	२१०
(२८)	राधाजन्मोत्सव वेलि	सं० १८१८	१२१
(२९)	हितरूप चरित्र वेलि	सं० १८२० चैत्र शुक्ल पूर्णिमा	४६२
(३०)	श्रीकृष्ण गिरि-पूजन वेलि	सं० १८२० कार्तिक वदी २	३३५

			छन्द-संख्या
(३१)	विमुख उद्धारन वेलि	सं० १८२१ चैत्र पूर्णिमा	१६४
(३२)	सुबुद्धि चितावन वेलि	सं० १८२४ कातिक शुक्ल १३	५४ पद, ५ दोहे
(३३)	वृन्दावन जसप्रकाश वेलि	सं० १८२५ माघ शुक्ल ११	७५ पद, ६दोहे
(३४)	राधा नाम उत्कर्ष वेलि	सं० १८३१ अगहन वदी २	—
(३५)	श्रीकृष्ण-विवाह उत्कण्ठा वेलि	सं० १८३१ वैशाख वदी ७	१२९ पद, १२ दोहे
(३६)	विवेक पत्रिका वेलि	सं० १८३५ आसाढ़ वदी ५	१८५
(३७)	भक्ति प्रार्थना वेलि	सं० १८४० चैत्र सुदी ७	३३४
(३८)	राधा रूप प्रताप वेलि	सं० १८४० वैशाख कृष्ण ७	१३३
(३९)	मन परचावन वेलि	सं० १८४० भाद्रपद शुक्ल ३	२२८
(४०)	राधा रूप नाम उत्कर्ष वेलि	सं० १८४०	—
(४१)	वृन्दावन प्रेम विलासलीला	सं० १८४० पौष शुक्ल ७	१४६
(४२)	कृष्ण नाम-रूप मङ्गल वेलि	सं० १८४० पौष शुक्ल १०	११०
(४३)	इष्टमिलन उत्कण्ठा वेलि	सं० १८४१ श्रावण शुक्ल २	११८
(४४)	बारहमासा विहार वेलि	—	१८
(४५)	हित-कृपा विचार वेलि	—	८४
(४६)	दान वेलि		
(४७)	भक्ति उत्कर्ष वेलि		
(४८)	रूप सुजस वेलि		
(४९)	हित मङ्गल वेलि		
(५०)	इष्ट सुमिरन वेलि		
(५१)	महत् मङ्गल वेलि		
(५२)	हरिनाम वेलि		
(५३)	मन चेतावनी वेलि		
(५४)	मुरलिका उत्कर्ष वेलि		
(५५)	आनन्दवर्धन वेलि		
(५६)	हरि इच्छा वेलि		
(५७)	हित रूप अन्तर्धान वेलि		
(५८)	मदन मङ्गल वेलि		
(५९)	सुमति प्रकाश वेलि		
(६०)	कृष्णाभिलाष वेलि		
(६१)	भक्ति सुजस वेलि		
(६२)	मन हितोपदेश वेलि		
(६३)	भजन कुण्डलियाँ वेलि		
६४	जमुना प्रसाद वेलि		

रचना-नाम

(६५) गुरुमहिमा वेलि
(६६) कृष्ण नाम-रूप-उत्कर्ष वेलि
(६७) भजन उपदेश वेलि
(६८) गर्व प्रहार वेलि
(६९) हित स्वरूप वेलि
(७०) विवाह मङ्गल वेलि
(७१) महत्सगुन वेलि
(७२) विवेक लक्षण वेलि[१]

गुजराती वेलि साहित्य—गुजराती में कई जैन और जैनेतर कवियों ने 'वेलि' नाम की रचनाएँ रची हैं। जैन-गुजराती वेलियों की रचना जैन-सन्तों द्वारा विशेष रूप से हुई है। एक स्थान पर चातुर्मास के सिवाय (वर्षावास) अधिक दिनों तक निवास करने का आचार नहीं होने से जैन साधु प्रायः एक स्थान से दूसरे स्थान पर विहार करते रहते हैं। गुजरात और राजस्थान में जैन-साधुओं की अधिकता है। दोनों प्रान्तों में इनका विहार होता रहता है, इस कारण जैन-गुजराती वेलियों की भाषा मिश्रित (राजस्थानी-गुजराती) है। अतः उनका उल्लेख राजस्थानी-वेलि साहित्य के परिचय में यथास्थान कर दिया गया । यहाँ १७ वीं से १९ वीं शती के मध्य में रचित अजैन गुजराती 'वेलियों' के कुछ नाम दिये जाते हैं—

रचना-नाम	रचनाकार
(१) वल्लभ वेल	केशवदास वैष्णव
(२) सीता वेल	वजिया
(३) श्रुत वेल	जीवनदास
(४) व्रज वेल	प्रेमानन्द
(५) भक्त वेल	दयाराम
(६) रस वेलि	—

आधुनिक युग में आकर खड़ीबोली (हिन्दी) काव्य की अभिव्यक्ति का माध्यम बन गई। देखना यह है कि आज के गद्य-प्रधान युग में भी 'वेलि' संज्ञक रचनाओं की परम्परा जीवित है क्या ? यह ठीक है कि काव्य-परम्परा का वह रूप तो नहीं रहा जो पहले था। देश-काल के अनुसार उसके वस्तु और शिल्प में परिवर्त्तन आया है, पर 'वेलि' अभिधान अब भी देखने को मिलता है। उसका क्षेत्र अब केवल (पद्य कविता) नहीं रहा वरन् गद्य (उपन्यास-नाटक) भी हो गया है। कुछ रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—

रचना-नाम		रचना-विध
(३) विजय वेलि	सेठ गोविन्ददास	नाटक
(४) ममता वेलि[10]	मङ्गल मेहता	गद्यगीत
(५) अमर आराधना की बेल[11]	माखनलाल चतुर्वेदी	कविता
(६) अमृत वेलि[12]	डॉ० बच्चन	कविता

यहाँ हमने सामान्य रूप से संस्कृत-प्राकृत, राजस्थानी, ब्रज, गुजराती एवं हिन्दी वेलि-काव्य की परम्परा का अध्ययन प्रस्तुत किया है। असम्भव नहीं कि अन्य प्रान्तीय भाषाओं ने भी इस काव्य-परम्परा को जीवित रखा हो। समग्र रूप से कहा जा सकता है कि वेलि-काव्य परम्परा का इतिहास उस सरिता की तरह है, जो विरल रूप में उद्गमस्थल से निकलकर मध्यवर्ती भागों (मैदानो) मे विपुल-प्रवाह के साथ बहती हुई मुहाने तक आते-आते सूख-सी गई है।

वेलि काव्य की सामान्य विशेषताएँ—अन्त:साक्ष्य के आधार पर वेलि-काव्य की (विशेषकर राजस्थानी वेलि-काव्य की) सामान्य विशेषताओं का निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) वेलि काव्य की परम्परा काफी पुरानी और प्रसिद्ध रही है। यही कारण है कि कवि लोगों ने अपनी रचनाओं के प्रारम्भ में या अन्त में संज्ञा के रूप मे 'वेलि' या 'वेल' शब्द का प्रयोग किया है।

(२) वेलि-काव्य का वर्ण्य-विषय प्रमुख रूप से देवतुल्य श्रद्धेय पुरुषों का गुण-गान करना रहा है। ये पुरुष राजा-महाराजा, तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, बलदेव, धर्माचार्य, शिव, विष्णु, शक्ति और लौकिक-देवता आदि रहे हैं। जैन वेलियों में जहाँ 'भव सम्बोधन काजैं' उपदेश दिया गया है, वहाँ भी आरम्भ में तथा अन्त में तीर्थङ्करों, धर्माचार्यों आदि का प्राय: स्तवन कर लिया गया है।

(३) वेलि-काव्य स्तोत्रों का ही एक रूप प्रतीत होता है जिसमें दिव्य-पुरुषों के साथ-साथ लौकिक-पुरुषों का वीर व्यक्तित्व भी समा गया है। वेलिकारों ने रचना के प्रारम्भ या अन्त में वेलि-माहात्म्य भी बतलाया है। ऐतिहासिक चारणी वेलियाँ प्रशस्ति बनकर रह गई है। उनमे कहीं भी अन्त:साक्ष्य के रूप में 'वेलि' शब्द नहीं आया है। वहाँ 'वेलियों' के छन्द में रचित होने के कारण ही उन्हें 'वेलि' नाम दे दिया गया प्रतीत होता है।[13]

(४) इस वेलि-काव्य का प्रमुख तत्त्व गेयता है। जैन-साधु इसकी रचना कर बहुधा गाते रहे हैं। पाठ करने की भी परम्परा रही है।[14] पृथ्वीराज ने अपनी वेलि में पाठ-विधि तक दी है।[15] आई-पन्थ में लोक-वेलियाँ अब भी गाई जाती है।

(५) वेलि-काव्य विविध छन्दों में लिखा गया है। जैन वेलियों में ढालों की प्रधानता है। मात्रिक छन्द, दोहा, कुण्डलियाँ, सार, सखी, सरसी, हरिपद भी अपनाये गये हैं। लौकिक-वेलियाँ लोक-धुन प्रधान हैं।

(६) वेलि-काव्य में दो प्रकार की भाषा के दर्शन होते हैं—एक साहित्यिक डिङ्गल अलङ्कारो से लदी हुई और दूसरी बोलचाल की सरल राजस्थानी ब्रज या गुजराती पहले प्रकार

की भाषा चारणी वेलियों का प्रतिनिधित्व करती है तो दूसरे प्रकार की भाषा जैन, लौकिक तथा अन्य वेलियों की।

(७) प्रबन्धात्मकता वेलि-काव्य की सामान्य विशेषता है। गीत शैली होते हुए भी प्रबन्ध-धारा की रक्षा हुई है। मुक्त के शरीर मे भी प्रबन्ध की आत्मा है।

(८) प्रारम्भ में मङ्गलाचरण एवं अन्त में स्वस्ति-वाचन भी सामान्य नियम है।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. पृथ्वीराज कृत इस वेलि के अब तक ६ संस्करण विभिन्न सम्पादकों द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं—

(क) डॉ० एल० पी० टैसीटोरी द्वारा सम्पादित, एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल

(ख) ठाकुर रामसिंह व सूर्यकरण पारीक—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग

(ग) प्रो० नरोत्तमदास स्वामी—श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी, आगरा

(घ) डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित—विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर

(ङ) कृष्णशंकर शुक्ल—साहित्य निकेतन, कानपुर

(च) नटवरलाल इच्छाराम देसाई (गुजराती) फार्बस गुजराती सभा बम्बई

२. पृथ्वीराज का यह ग्रन्थ एक परम्परा की स्थापना करता है जिसे राजस्थान तथा ब्रजमण्डल के भक्त कवियों ने आगे तक निबाहने का प्रयत्न किया है।—डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित—वेलि की भूमिका, पृ० ४७

३. 'तिहुअन खेत्तहि काजि तसु, कित्तिवल्लि पसरेइ'

४. 'हिन्दी-अनुशीलन' (धीरेन्द्र वर्मा विशेषाङ्क), वर्ष १३, अङ्क १-२, पृ० २२ पर, डॉ० गुप्त का मत।

५. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० ५०१

६. प्रकाशक—पण्डित मोतीदास चेतनदास, ५०, ७५७—७६७

७. हँसा सरवर शरीर में हो रमैया राम।
जागत चोर घर मूसल हो रमैया राम॥२॥
जो जागल सो भागल हो रमैया राम।
सुतल से गेल बिगोय हो रमैया राम॥२॥

८. क्रिसन रुक्मणी री वेलि : प्रस्तावना पृ० ३२

९. संख्या १ से ४५ के लिये देखिये, राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० ५२४-२८ तथा ४६ से ७२ की सूचना प्रभुदयाल जी मीतल से मिली है।

१०. विक्रम : कार्तिक, सं० २०११

११ अप्रैल १९५६

१२ फरवरी १९६१

१३. वेलियो छन्द चारणी गीत, छोटा साणोर का एक भेद है। इसके चारों चरणों में क्रमशः १६।१५।१६।१५ मात्राएँ होती हैं।

१४. १८वीं शती के कवि जयचन्द ने एक स्थल पर लिखा है कि साधु लोग पृथ्वीराज रासो, वेलि, नागदमण, हरिरस आदि का वाचन क्यों नहीं करते ?

पृथ्वीराज रासौ, 'वेलि' वचनिका, पंचाख्यान न बाँचै।
नागदमणि, हरिरस, अङ्क, सुकन सामुद्रिक साँचै॥
दस काक विचार अङ्ग फरिकं, जं सारक भाषै।
विसहरा पल्लि भेद द्विपूछि त्रिपुच्छि से भेद फाषै॥
घूग्घू कल्प चोर काढ़णौ स्वेतोक गणेस, विधि जं कहै।
गाइ उगाल अर मंझारिनी पूजि जै-जै चन्द भागे लहि॥

१५. सहि सुइई षटमास, प्रात जलिमंजे, अपसपरस हरू, जितइन्द्री (२८०), (छै मास तक पृथ्वी पर सोवे, प्रातःकाल उठ कर जल से स्नान कर और सब का स्पर्श त्याग कर—एकाकी मौन धारण कर तथा जितेन्द्रिय हो कर नित्य वेलि का पाठ करे)।

'मैनासत' का रचयिता

सियाराम तिवारी

'मैनासत' की सूचना सर्वप्रथम नागरी प्रचारिणी सभा के खोज विवरण में प्रकाशित हुई थी। वहाँ इसके रचयिता को अज्ञात बताया गया था।[1] तत्पश्चात् इसका विवरण 'ए डिस-क्रिप्टिव कैटेलॉग ऑव् बार्डिक एण्ड हिस्टॉरिकल मैनुस्क्रिप्ट्स'[2] तथा 'राजस्थान में हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज', भाग २ में छपा। किन्तु विद्वानों का ध्यान इस कृति की ओर तब गया, जब प्रो० अस्करी को मनेर में इस पुस्तक की एक प्रति मिली और इसका विवरण उन्होंने 'जर्नल ऑव बिहार रिसर्च सोसाइटी' में प्रकाशित किया।[3] इसके बाद डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने 'अवन्तिका' में एक लेख लिख कर इसके रचयिता, इसकी भाषा, तथा इसके पाठों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया।[4] फिर, हिन्दी-विद्यापीठ ग्रन्थवीथिका में अगरचन्द नाहटा द्वारा सम्पादित हो कर इसके दो भिन्न पाठ, पाठान्तरों के साथ, छपे।[5] अब यह हरिहर निवास द्विवेदी द्वारा सम्पादित हो कर पुस्तकाकार प्रकाशित हो गया है।

'मैनासत' का रचयिता साधन कहा गया है, यह विचारणीय है। हरिहर निवास द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'मैनासत' में कुल सत्ताईस बार 'साधन' शब्द आया है जिनमें से केवल छह बार ही वह कवि के नाम की छाप कहा जा सकता है।[6] शेष इक्कीस में से बारह बार मैना ने अपने लिये इस शब्द का प्रयोग किया है[7] और नौ बार रतना मालिन ने इसका प्रयोग मैना के लिये किया है।[8] इस शब्द का प्रयोग जहाँ मालिन अथवा मैना ने किया है, वहाँ उसे किसी तरह भी कवि के नाम की छाप नहीं माना जा सकता। वहाँ वह या तो मैना के नाम का सम्बोधन है, या मैना ने अन्य-पुरुष में अपनी बात कही है। अगर रचयिता का नाम साधन होता तो वह इस शब्द का ऐसा प्रयोग कदापि नहीं करता। फिर, यह भी उल्लेखनीय है कि 'बीसलदेव रास'[9] में राजमती के लिये और ढोला-मारूरा दूहा[10] में मारवणी के लिये 'साधन' शब्द का प्रयोग हुआ है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि नायिका के लिये इस शब्द के प्रयोग का चलन प्राचीन साहित्य में था। 'साधन' में 'सा' संस्कृत अन्य-पुरुष सर्वनाम का स्त्रीलिङ्ग रूप है और 'धन' स्त्री-बोधक है। अतएव नायिका के अर्थ में इसका प्रयुक्त होना ही है यही 'साधन' यत्र-तत्र 'साऽधन' 'सायधन' साहधन'

अंश स्पष्टतः प्रक्षिप्त मालूम पड़ता है।[१] वन्दना के बाद जगत की नश्वरता का वर्णन होते होते कथा एकाएक शुरू हो जाती है। कवि एक पंक्ति क्या एक शब्द में भी कथा के आरम्भ का सङ्केत नहीं देता। नाहटा जी द्वारा प्रस्तुत हिन्दी-ग्रन्थ-वीथिका के पाठ में तो कथा का प्रारम्भ और भी अस्वाभाविक है और स्तुति वाले अंश के प्रक्षेप की सम्भावना को पुष्ट करता है। इससे स्पष्ट है कि पुस्तक के मूल-भाग में 'साधन' शब्द के अनेक प्रयोग देख कर इसको स्वतन्त्र रूप देने का प्रयत्न करने वाले प्रतिलिपिकार ने अपनी प्रति में 'साधन' की छाप लगा दी। अन्त में कवि जब अपनी टिप्पणी दे रहा है तो उसमें भी दो बार 'साधन' शब्द आया है, किन्तु एक स्थान पर उस शब्द को कवि के नाम की छाप नहीं भी माना जा सकता है।[१२] तत्रोक्त एक दोहे के द्वितीय चरण में यह शब्द आया है, जिसका अर्थ होगा, जैसा साधन होगा, वैसा ही आगे साध्य भी मिलेगा। अथवा जैसा उपाय किया जायगा, आगे फल भी वैसा ही मिलेगा। अन्तिम दोहा भरतवाक्य की तरह है जिसमें 'साधन' शब्द अवश्य ही कवि की भणिता के रूप में है।[१३] परन्तु यह दोहा सभी प्रतियों में नहीं है। अगरचन्द नाहटा ने हिन्दी ग्रन्थ-वीथिका में जो दो पाठ प्रस्तुत किये हैं, उनमें से एक में ही यह दोहा आया है। अतएव इस दोहे की प्रामाणिकता विचारणीय है। इस तरह 'साधन' नामधेय कवि का अस्तित्व असन्दिग्ध नहीं कहा जा सकता।

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी ने यह अनुमान भिड़ाया है कि 'मैनासत', 'साधन' छद्मनाम-धारिणी कवयित्री की निजी कथा है। उनका यह अनुमान अन्तस्साक्ष्य से निराधार सिद्ध होता है और बहिस्साक्ष्य है नहीं। अगरचन्द नाहटा ने उपलब्ध एक प्रति की पुष्पिका में ग्रन्थकार का नाम मियाँ साधन लिखा होने के कारण, 'मैनासत' का रचयिता साधन नामक मुसलमान को माना है।[१४] किन्तु नाहटा जी ने जिसको प्रमाण माना है, वह प्रतिलिपिकार के प्रमाद का उदाहरण मात्र है। सन् १६२२–१६३५[१५] के बीच दौलत काजी ने बंगाल में 'सती मयना ओ लोर चन्द्राणी' की रचना की थी, जिसमें 'मैनासत' की मूल-कथा मिलती है। दौलत काजी ने यह स्वीकार किया है कि 'मैनासत' का कथाकार साधन है।[१६] पर यह असम्भव नहीं कि जो भ्रम आज हो रहा है, वही दौलत काजी को भी हुआ हो! 'मैनासत' का रचना-काल हरिहर निवास द्विवेदी ने १४८०-१५०० ई० के बीच अनुमानित किया है।[१७] यह इसके स्वतन्त्र एवं लिखित रूप मिलने का काल हो सकता है। डॉ० सत्येन्द्रनाथ घोषाल का अनुमान है कि साधन ने लोक परम्परा से इस कथा को ग्रहण कर इसे पुस्तक रूप में लाया।[१८] पर सत्य तो यह है कि 'मैनासत' की लोक-प्रचलित कथा में 'साधन' (जो वहाँ नायिका के अर्थ में प्रयुक्त है) शब्द को देख कर लिपिकार ने साधन नामधारी कवि की कल्पना कर ली। अगर इस कथा का लेखक साधन होता तो चतुर्भुज दास की 'मधुमालती' और मुल्ला दाऊद के 'चन्द्रायन', जिनमें मैना और लोरिक की कथा आयी है, साधन नामधारी कवि का उल्लेख होता। सम्पूर्ण 'चन्द्रायन' में एक स्थान पर 'साधन' शब्द आया भी है[१९] तो वहाँ इसका प्रयोग नायिका के अर्थ में है और मैना ने अपने लिये इसका प्रयोग किया है। लोरिक द्वारा मैना के हृदय की परीक्षा लिये जाने का प्रसङ्ग है। मैना दुःखित हो कर कह रही है कि मैं ऐसी नायिका (साधन) हो गयी कि मुझे तौला जा रहा है, अर्थात् परीक्षा ली जा रही है। इससे इस मन्तव्य की पुष्टि होती है कि 'साधन' शब्द नायिका का वाचक है जो उस युग में प्रचलित था

निष्कर्षतः 'मैनासत' का रचयिता साधन नहीं है। वह एक लोक-कृति है औ
। लिपिबद्ध हुआ।

-सङ्केत

१. खोज-विवरण, ना० प्र० सभा, १९०२, संख्या ३७।

२. A Descriptive Catalogue of Bardic and Historical Manu
Tessitore, Calcutta, 1917, Section II, pt. I, p. 33 (d).

३. जर्नल ऑव बिहार रिसर्च सोसाइटी, मार्च-जून, १९५३।

४. अवन्तिका, पटना, जुलाई १९५४, पृ० ७८-८१।

५. हिन्दी विद्यापीठ ग्रन्थ-वीथिका। आगरा, १९५६, पृ० १०७-१२६।

६. प्रथमहिं गाऊं सिरजन हारू। अलख अगोचर भया भण्डारू ॥१॥
आस तोर मुहि बहुत गुसाईं। तोरे डर कम्पौ करिर की नाईं॥
सत्रु मित्र सब काहु सम्भारै। भुगुनि देइ काहू न बिसारै॥
अपने रंग आपु रंगराता। बूझै कौन तुम्हारी बाता॥
खिलै इह रही जगत फुलवारी। जो राता सो चल्या सम्भारी॥
दोहा——बंधन आँखि हमारिया, एकौ चरित न सूझि।
सोवत सपनौ देखियौ, कौऊ करै कछु बूझि॥
ोरठा——जिन कलि बिलसीएह, असदल गजदल दलमले।
साधन भये ते खेह, पृथमी चीन्हा नां रहा॥
——साधन-कृत मैनासत, स० हरिहरनिवास द्विवेदी, ग्वालियर, प्र० सं०, ...
पाई——दूति बचन जो मालिन कहई। मैना धाय केर मुख चहई॥
तीखे नैन सरूखे बैना। बोले सत्त महासति मैना॥१३...
लाज कानि तोहि कहत न आई। ऐसे बोलन कत पतियाई॥१३...
फाटै तासु नारि कौ हीयौ। एक छंडि जिहिं दूज्यौ कीयौ॥
एक-एक रटत जिउ देहूं। जग दूसर कौ नाम न लेहूं॥१४...
ऐसी मोहि कूं कहा सुनावै। एह मेरे मन नैक न भावै॥
दोहा——मोर भंवर जस मालिनी, रूप कि पूजै कोइ।
जोरे स्याम गुबरीरा, भंवर कि सरभर होइ॥
दोहा——नार अकेली सेज, सावन तौ बरसै घनौ।
काती होय करेज साधन चमकै बीजुरी॥
सावन चमकै बीज सखिहर खेलै हिंडोलना॥
सब कोठ खेलै तोव साधन सूतो पिठ क्तिना १४७
वही, पृ० १८०-१८१

सोरठा—समुद कि पारै जाहि पवन कि बांधा बाधिए।
साधन कौन खटाइ माघ अकेली गोररी॥
सूनी सेज सनेह दोइ जन बिन कैसे रहै।
प्रीत पुरानी तेह माघ न देखै नैन सूं॥
ौपाई—साधन मांह तुरंगम बाजै। सुर नर देव मुनीजन राजै॥
महा तुषार महा अहंकारी। तेरो कंथ न देखूं बारी॥
भाजै पांच इन्द्री कै जना। कंत अलोप भंवर भये मना॥
एह रित आली जान न दीजै। सरस सुघड तन मेला भीजै॥
—साधन-कृत मैनासत, स० हरिहरनिवास द्विवेदी, ग्वालियर, प्र० सं०, पृ० १९३-९४

९. (क) साधण बोलइ सुणि राव का पूत।
ऊलग जाण कउ परउ कुसूत॥४८।
(ख) साधण ऊभी छइ टेकि कमाडि।
कडिहि पटोली चूनडी सार॥५८॥
—बीसलदेव रास, स० डॉ० माताप्रसाद गुप्त, प्रयाग, द्वि० सं०

१०. रूप अनूपम मारुवी, सुगुणी नयण सुचंग।
साधण इन परि राखिजइ, जिम सिवमसतक गंग॥४५३॥
× × ×
ढोला, सायधण माँगने झीनी पाँसलियाँह।
कइ लाभे हर पूजियाँ, हेमाले गलियाँह॥४७७॥
× × ×
मारू देस उपन्नियाँ, नइ जिम नीसरियाँह।
साइधण, ढोला, एहवी, सरि जिय पहथरियाँह॥४८३॥
—ढोला-मारूरा दूहा, ना० प्र० सभा, १९३४।

११. ...यह प्रकट है कि 'मैनासत' की कल्पना मूलतः स्वतन्त्र रचना के रूप में नहीं त्युत् लोरकहा की कथा के एक नवीन विस्तार के रूप में की गयी थी और पीछे उसको प्रारम्भ स्तुति तथा जगत् की नश्वरता-सम्बन्धी कुछ छन्द दे कर एक स्वतन्त्र रूप दे दिया गया —डॉ० माताप्रसाद गुप्त, 'प्राचीन हिन्दी काव्यों में पूरक कृतित्व', हिन्दुस्तानी, भाग २०, अङ्क १

१२. पाप पुन्य दोउ बीज जो बोय सो उपजै।
साधन जैसा कीजिये तैसा आगू पावजै॥
—साधन-कृत मैनासत, स० हरिहरनिवास द्विवेदी, ग्वालियर, प्र० सं०, पृ० २०५

१३. सत मैना कौ साधन थिर राखौ करतार।
कुटनी देस निकारी कीनी गंगा कै पार॥—
—साधन-कृत मैनासत, स० हरिहरनिवास द्विवेदी- ग्वालियर- प्र० सं०, पृ० २०६

१४ हिन्दी-ग्रन्थ-वीथिका, आगरा १९५६

१५. Beginning of Secular Romance in Bengali Literature, Dr. S. N. Goshal, Vishwabharti Annals, 1959, p. 14.

१६. ठेना चौपैया दोहा कहिला साधने।
ना बुझे गोहारी भाषा कोनो कोनो जने॥
देशी भाषे कह ताके पंचालिर छंदे॥
सकले गुनिया ये न बुझय सानंदे।
तबे काजी दौलत बुझिया से आरति।
पंचालीर छंदे कहे मयनार भारती॥

—सती मयना आॅ लोरचन्द्राणी, सं०—डॉ० सत्येन्द्रनाथ घोषाल, विश्वभारती ऐनल्स पृ० ४८-४९।

१७. साधन-कृत मैनासत, स० हरिहरनिवास द्विवेदी, ग्वालियर, प्र० सं०, पृ० ५८।

१८. Beginning of Secular Romance in Bengali Literature Dr. S. N. Ghoshal, Vishwabharti Annals, 1959, p. 19.

१९. जौल्हि वह तजि मोहि कहँ गवा।
तौल्हि मोहि अस साधन भवा ॥५९॥

—चन्द्रायन, स० डॉ० विश्वनाथप्रसाद, आगरा, १९६२, पृ० ६८।

नये आलोक में पुरानी पोथियाँ

वाचस्पति गैरोला

मनुष्य की आरम्भावस्था में ज्ञान का संरक्षण और प्रवर्तन वाणी और श्रवण द्वारा मौखिक रूप में हुआ। इसीलिये ज्ञान को 'श्रुत' अर्थात् 'सुना गया' कहा गया। श्रुतियाँ इस ज्ञान के प्रामाणिक संग्रह या संहिताएँ हैं। यह श्रुति-संरक्षित मौखिक ज्ञान कब से दृश्यमान प्रतीको द्वारा प्रकाश में आया, इसका कोई तिथिवद्ध प्रामाणिक इतिहास नहीं है।

कुछ भाषाविदों एवं इतिहासकारों की स्थापनाएँ हैं कि भारत की प्राचीनतम ब्राह्मी लिपि ९वीं शताब्दी ई० पूर्व में भारतीय व्यापारियों द्वारा बाहर से भारत में लायी गयी, जिसका मूल उद्गम सेमेटिक लिपि है। इन विद्वानों का यह भी कथन है कि इसी सेमेटिक लिपि द्वारा योरप की अन्य प्रचलित लिपियों एवं उनकी वर्णमालाओं का जन्म हुआ। इस मत के प्रतिपादक-विद्वान् योरोपीय हैं। इस मत के विरुद्ध कुछ भारतीय विद्वानो का कथन है कि योरोपीय लिपि तथा वर्णमाला का मूल भले ही सेमेटिक लिपि रहा हो; किन्तु भारत में जिस लिपि और वर्ण-माला का जन्म तथा विकास हुआ, उसका मूल वेदों में है और उसके प्रामाणिक इतिवृत्त के हवाले भी वेदमन्त्रों में ही सुरक्षित हैं। सेमेटिक लिपि के कोई उपादान ब्राह्मी लिपि ने ग्रहण नहीं किये। इस सम्बन्ध में सभी विद्वान् एकमत हैं कि विश्व के विभिन्न देशों में ज्ञान की यह लिपिबद्ध परम्परा वस्तुचित्रों, भावचित्रों और ध्वनिचित्रों तथा कीलाक्षरों के रूप में पल्लवित हुई। इस परम्परा के प्रवर्तन के लिये मनुष्य ने कुछ विशिष्ट सङ्केतों को निर्धारित कर लिया था। उन्हें वे स्मरण रखते थे और उन्हीं के माध्यम से विचारों का पारस्परिक आदान-प्रदान हुआ करता था। ये सङ्केत कुछ तो ध्वन्यात्मक थे और कुछ मुद्रात्मक। अपनी इन ध्वनियों और मुद्राओं को दृश्यमान प्रतीकों के रूप में अङ्कित करने के लिये धीरे-धीरे मनुष्य ने तिरछी-आड़ी रेखाओ को निर्धारित किया। जैसा कि इस प्रागैतिहासिक सामग्री को देखने से ज्ञात होता है, ये रेखाएँ या तो किसी नुकीली वस्तु से खींची गयी है अथवा वे किसी वस्तु के तल पर रङ्गीन रूप में अङ्कित की गयी है। ये आलेखन ही लिपि-निर्माण की भावी परम्परा के मूल उत्स थे।

लिपि-विकास की परम्परा का यह प्रश्न एक स्वतन्त्र विषय है। उसके सम्बन्ध में अब तक जितने तथ्य प्रकाश में आ चुके हैं उन सब की गवेषणा के बाद ही इस प्रश्न का समुचित किया जा सकता है

लिपि-विकास की ही भाँति लेखन-साधनों का इतिहास भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। प्राचीन महत्व की जो लेख-सामग्री तथा पाण्डुलिपियाँ आदि उपलब्ध हैं उसको देखकर सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आदिम मानव-सभ्यता से लेकर अब तक लिखने के लिये जिन साधनों को उपयोग में लाया गया वे विभिन्न भाँति के थे। लिपि-विकास की ही भाँति लिपि-साधनों का इतिहास भी बड़ा रोचक, विस्मयकारी और कुतूहलपूर्ण है।

इस दृष्टि से जब हम संसार की आदिम सभ्यताओं के ज्ञान-प्रवर्त्तन का अध्ययन करते है तो हमें ज्ञात होता है कि आरम्भ में लिखने के लिये जिन साधनों को उपयोग में लाया जाता था वे बड़े विचित्र थे और जिन ज्ञानमना लोगों ने इन साधनों का उपयोग किया वे बड़े दूरदर्शी थे। परम्परागत श्रुत एवं इष्ट ज्ञान की थाती को लेखबद्ध रूप में प्रस्तुत करने वाले साधनों में पेपिरस पोथियों का नाम पहले आता है।

पेपिरस पोथियाँ

परम्परा से प्राप्त ज्ञानथाती को लिपिबद्ध करके स्थायी रूप देने का सबसे पहला कार्य मिस्र में हुआ। पेपिरस (Papyrus) की छालों पर लिखी हुई पोथियाँ सर्वप्रथम मिस्र में उपलब्ध हुई हैं। पेपिरस के ये वृक्ष मिस्र की नील नदी के तट पर बहुतायत से पाये जाते है। इन्ही पेपिरस पोथियों से लेखनकला की उपलब्ध परम्परा का इतिहास आरम्भ होता है। इस प्रकार का सबसे पहला ग्रन्थ 'बुक आफ़ दि डाइड' (दिवङ्गतों का ग्रन्थ) हैं, जो कि २५०० ई० पूर्व में लिपिबद्ध किया गया। इस ग्रन्थ में हम आज से लगभग ५००० वर्ष पूर्व के लेखन सम्बन्धी प्रयोगों का अध्ययन कर सकते है।

ईसा से लगभग २००० वर्ष पूर्व की कुछ शताब्दियों में मिस्र में कुण्डलीनुमा पेपिरस पोथियाँ अधिक संख्या मे लिखी गयीं। मिश्र के तत्कालीन सम्राट् पेरोए के शासन काल में साहित्य, कला और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में बहुमूल्य पोथियाँ पेपिरस पर लिखी हुई मिली हैं। साहित्य के अतिरिक्त कला और विशेषरूप से चित्रकला की भी उस युग में अच्छी लोकप्रियता थी। ऐसी विचित्र पेपिरस पोथियाँ भी मिश्र मे उपलब्ध हुई है, जो अब तक की प्राप्त कला-थाती में सबसे प्राचीन और सर्वाधिक महत्व की हैं।

मिश्र में प्राचीनतम ज्ञानथाती का लिपिबद्ध रूप में प्राप्त होने का एक कारण वहाँ के आदिम जन-जीवन की धार्मिक और आध्यात्मिक निष्ठा भी रही है। मिश्रवासियों में एक परम्परागत प्रथा यह भी थी कि वहाँ दिवङ्गत व्यक्तियों के साथ धार्मिक तथा आध्यात्मिक विषयों की पोथियों को कब्रों में गाड़ दिया जाता था। इन कब्रों से भी महत्वपूर्ण पेपिरस पोथियाँ उपलब्ध हुई हैं। पेपिरस से ही सम्भवतः 'पेपर' शब्द निकला है।

पेपिरस की ये पोथियाँ कुण्डलाकार या कुण्डलीनुमा हैं। छिली हुई पेपिरस की छालों की परतों को परस्पर इस प्रकार मिला दिया गया है कि कुण्डलीनुमा मोड़ने पर भी उनके जोड खुलते नहीं थे। आवश्यकतानुसार पेपिरस की छालों को जोड़कर उनकी लम्बाई-चौड़ाई तैयार की जाती थी और तदुपरान्त उन पर लिखा जाता था।

मिश्र मे प्राचीन महत्व के ऐसे अनेक ये जिनमें लाखो बहुमूल्य पोथियाँ सगृहीत

थी। इतिहासकारों का विश्वास है कि मिश्र स्थित टालेमी के ग्रन्थालय में लगभग दो लाख कुण्डलीनुमा पेपिरस पोथियाँ सुरक्षित थीं। इसी प्रकार सिकन्दरिया के विश्व-विख्यात पुस्तकालय मे चार लाख से भी अधिक पेपिरस पोथियों व्यवस्थित ढङ्ग से रखे जाने का भी उल्लेख मिलता है। सिकन्दरिया के इस ऐतिहासिक ग्रन्थालय का धर्मद्रोहियों द्वारा बार-बार अपहरण और अग्निदाह से अन्त हुआ। संसार के इस अद्वितीय और अद्भुत पुस्तकालय को विनष्ट करने और उसके बहुमूल्य संग्रह को अग्निसात् करने का पहला कुकृत्य रोम सम्राट् सीज़र द्वारा हुआ। बाद में मिश्र की विद्यानुरागिणी सम्राज्ञी क्लियोपेट्रा ने बड़े यत्न से लगभग दो लाख पेपिरस पोथियों को एकत्र कर सिकन्दरिया के पुस्तकालय को पुनर्जीवित किया; किन्तु ३८९ ई० मे धर्मद्रोही और ज्ञानद्वेषी आर्कबिशप थियाफिलास के प्रपञ्च से थियोडीशियन ने उसको जलवाकर राख कर दिया और इस दुष्कर्म का सारा अश्रेय खलीफ़ा उमर के सेनानायक तथा मिश्र के महान् विजेता अमरू के सिर मढ़ दिया।

सिकन्दरिया का यह वृहत् पुस्तकालय यदि आज जीवित होता तो विश्व के पुस्तकालयो मे उसका प्रमुख स्थान होता। उन बहुमूल्य पेपिरस पोथियों के महान् ज्ञान से विश्व-साहित्य की दिशा में नया आलोक प्राप्त हुआ होता।

मृत्तिका-पोथियाँ

पेपिरस के अतिरिक्त, प्राचीन लेखन-सम्बन्धी साधनों की जानकारी मध्यपूर्व के देशो से उपलब्ध मिट्टी के टेकरों से प्राप्त होती है। खोज में उपलब्ध प्रमाणों से ज्ञात होता है कि कई देशों में मिट्टी की टिकियाओं पर ग्रन्थ लिखने का प्रचलन था। गीली मिट्टी की टिकियों पर अक्षर उत्कीर्ण करके उन्हें धूप या आग की आँच में सुखाया जाता था। ऐसा करने से मिट्टी की टिकियाओं पर उत्कीर्णित वर्ण सूख कर पक्के और स्पष्ट उभर आते थे। हिट्टैक और असीरी जाति के लोग मिट्टी की टिकियों को आग में सुखाकर उन पर ग्रन्थ लिखते थे। बैबिलोन की खुदाइयो से इस प्रकार की सहस्रों मिट्टी की ईंटें तथा टीकरे प्राप्त हुए हैं, जिन पर अनेक प्रकार के लेख खुदे हुए हैं। मिट्टी की कुछ ऐसी टिकियाएँ भी वहाँ से उपलब्ध हुई है, जिनका लिपिकाल या लेखनकाल पुरातत्वज्ञों तथा इतिहासकारों ने ईसा से लगभग २००० वर्ष पूर्व निर्धारित किया है।

ये मृत्तिका-ग्रन्थ पेटियों में चुनकर रखे जाते थे। इन मृत्तिका ग्रन्थों के अध्ययन से शोधकर्ता विद्वानों ने बैबिलोन की प्रागैतिहासिक सभ्यता का पता लगाया है। इस प्रकार के मिट्टी के टेकरों पर लिखे गये पूरे के पूरे पुस्तकालय भी खोज में प्राप्त हो चुके हैं।

इसी प्रकार के कुछ बर्तन तथा धातु के टुकड़े भी खुदाई में प्राप्त हो चुके हैं, जिन पर ग्रन्थलेखन का आदि रूप देखा जा सकता है। इन्हीं मिट्टी के टेकरों तथा धातु बर्तनों के टुकड़ो का आधार लेकर 'पुस्तक' शब्द का प्रयोग हुआ। 'ग्रन्थ' नाम की अपेक्षा 'पुस्तक' नाम की प्राचीनता का भी यही आधार है। डॉ० वी० राघवन् का इस सम्बन्ध में कथन है कि "पुस्तक का अर्थ है ढालना; जैसे गीली मिट्टी या धातु की ढलाई। जब हम इस शब्द का अर्थ खुदाई में उपलब्ध उन मिट्टी-धातु के टुकडों से जोडते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि 'ग्रन्थ' के लिये 'पुस्तक' का अभियान उन्हीं मिट्टी के टेकरों तथा धातु की मुहरों के आधार पर हुआ

चर्म-पोथियाँ (पार्चमेण्ट)

मिट्टी और धातु के उपकरणों द्वारा लेखन की आवश्यकताओं को पूरा करना और उन्हे दीर्घ काल तक सुरक्षित बनाये रखना सम्भव नहीं था। परम्परा से प्राप्त ज्ञान-थाती को लेखन द्वारा आगे बढ़ाने के लिये पेपिरस की छालें भी सर्वत्र प्राप्य नहीं थीं। अतः लिखने के लिये पशुओ की खालों को उपयोग में लाया गया। इस प्रकार के चर्म-ग्रन्थों की प्राचीनता और उनका व्यापक रूप से प्रचलन इसलिये भी अधिक युक्तिसङ्गत जान पड़ता है कि संसार के प्रायः सभी भागों मे पशुओं का प्राप्त होना सुगम था। ऋग्वेद की एक ऋचा (१।१।४५) में चमड़े पर अग्निदेव का चित्र अङ्कित किये जाने का उल्लेख मिलता है। अन्य देशों से भी इसके प्राचीन प्रमाण मिले हैं।

इन्हीं चर्म-पोथियों को पार्चमेण्ट (Parchment) कहा गया है। इस प्रकार के चर्म-ग्रन्थ लगभग २०० ई० पूर्व पुराने उपलब्ध हुए है। विद्वानों की गवेषणाओं के अनुसार मृत्यु सागर की नामावलियों के बण्डल इन्हीं चर्म-ग्रन्थों में सुरक्षित हैं, जिनका लेखनकाल २०० ई० पूर्व से ७० ई० पूर्व के बीच का बताया जाता है।

खोजी विद्वान् डॉ० इब्शर ने मिश्र में पेपिरस पोथियों की खोज करते समय पता लगाया था कि उनमे पार्चमेण्ट, अर्थात् चर्म-पोथियों के अस्तित्व का भी उल्लेख किया गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि आज से लगभग ५०००-५५०० वर्ष पूर्व लेखन के लिये चर्म-ग्रन्थ उपयोग मे लाये जाने लगे थे। मिश्र के परागान नामक नगर में इस प्रकार के चर्म-ग्रन्थ अधिकता से लिखे गये। अरबवासियों में हड्डियों पर ग्रन्थ लिखने की प्रथा प्रचलित थी। एशिया की कुछ पुरानी जातियो मे भेंड़, बकरी या दूसरे पशुओं की खालों पर ग्रन्थ लिखने का रिवाज था। इसीलिये 'पोथियो' को वहाँ 'पोस्त' कहा जाने लगा।

वस्त्र-पोथियाँ

लेखन के लिये कागज का प्रचलन न होने से पहले जिन साधनों को उपयोग में लाया जाता था वे थे वस्त्र, बाँस, काष्ठ और धातु। राजकीय आलेख बहुधा वस्त्रों पर लिखे जाते थे। प्राचीन दस्तावेजों का स्वरूप ठीक वैसा ही था, जैसे आजकल वस्त्रों पर अभिनन्दन-पत्र तैयार किये जाते है। उन दस्तावेजों या आलेखों को खड़िया या श्वेतवर्ण पेंसिल से अङ्कित किया जाता था। इनके नमूने आज राष्ट्रीय अभिलेखालय और राजकीय अभिलेखालयों में देखे जा सकते हैं।

बौद्धकाल में वस्त्रचित्रों का निर्माण व्यापक रूप से होता रहा। मध्ययुगीन चित्रकला मे इस प्रकार के सैकड़ों वस्त्रचित्र निर्मित हुए। इस सम्बन्ध में 'वसन्तविलास' नामक काव्य-कृति का नाम उल्लेखनीय है। इसका लिपिकाल १४५१ ई० है। यह लम्बाकार कुण्डलीनुमा चित्रपट है। इसके अतिरिक्त 'भागवत' की कुण्डलीनुमा सचित्र पोथियाँ कपड़े पर व्यापक रूप से लिखी गयीं। राजपूत शैली के चित्रकारों ने इस दिशा में अच्छी ख्याति प्राप्त की। मुगल मुसव्विरो ने भी इस प्रकार के चित्रपट तयार किये वस्त्र पर ग्रन्थ-लेखन और चित्र-लेखन की व्यापक रूप से लम्बे समय तक बनी रही

बांसी पोथियाँ

धीरे धीरे लेखन के लिये सुविधाजनक साधनो का आविष्कार हुआ— वह था बास का कागद। इस प्रकार की पोथिया अधिकतर मिश्र मे ही लिखी गयी। वहा लगभग ३०० ई० पूर्व में ही बाँसी पोथियाँ लिखी जाने लगी थीं। बाद में ईरानवासियों और रोमवासियों ने भी, मिश्रवासियों के अनुकरण पर, पेपिरस और बाँस पर ग्रन्थ-लेखन का कार्य किया। कागज जब मिश्र मे तैयार किया जाता था और उस पर यूनानियो का आधिपत्य था, जो कि उस समय मिश्र के शासक थे, ईरान और रोम में तब बाँसी कागज पर ग्रन्थ लिखने का प्रचलन था। यही कारण है कि रोम और यूनान में ३०० ई० पूर्व तक की समस्त पोथियाँ या तो पेपिरस पर लिखी गयी या बाँसी कागज पर।

काष्ठफलक

बाँस के अतिरिक्त काष्ठफलक भी लेखन के उपयोग मे लाए जाते थे। काष्ठफलको पर लेखन की प्रथा ने ही पुस्तक को 'कोडेक्स' (Codex) नाम दिया। अंग्रेजी में 'बुक' (Book) शब्द 'बीच' (Beech) वृक्ष के कारण ही व्यवहृत हुआ। जर्मन लोग लेखन के लिये बहुधा बीच (Beech) के पट्टों का उपयोग करते थे। काष्ठफलकों पर लेखन की परम्परा भारत मे प्राचीन काल से प्रचलित रही है। प्राचीन महत्व के प्रागैतिहासिक एव ऐतिहासिक स्थानो की खुदाइयों से इस प्रकार के काष्ठफलक अधिक संख्या में उपलब्ध हुए हैं।

धातुपत्र

आज प्रायः अधिकतर दानपत्र तथा अभिलेख ताम्रपत्रों पर लिखे हुए उपलब्ध होते हैं। ये धातुपत्र कुछ तो तालपत्रों के आकार-प्रकार के और कुछ उनसे भारी तथा लम्बे-चौड़े होते थे। भारत के प्रायः विभिन्न भागों में इस प्रकार के सैकड़ों धातुपत्र उपलब्ध हैं, जो प्राचीनता की दृष्टि से और लिपिविकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। सम्राट् कनिष्क (प्रथम शताब्दी ई०) के धातुलेख इस विषय की महत्वपूर्ण उपलब्धि हैं। इसी प्रकार माहिष्मती के महाराज सुबन्धु का ऐतिहासिक महत्व का एक ताम्रलेख बाघ की दूसरी गुफा में उपलब्ध हुआ। इस ताम्रलेख के आधार पर इतिहासकारों ने यह सिद्ध किया कि बाघ की गुफाओं का निर्माणकाल ४थी-५वी शताब्दी ई० था। यह लेख पुरातत्व विभाग ने गुफाओं की सफाई करते समय १९२९ ई० मे प्राप्त किया था। गुप्त-साम्राज्य और उसके बाद १२वीं शताब्दी ई० तक भारत के छोटे-बडे रजवाड़ों में बहुतायत से ताम्रपत्र लिखे जाते थे। वीरता, सेवा, साहस, अनुग्रह, दान और भेंट के रूप में दिये जाने वाले बड़े-बड़े पुरस्कार ताम्रपत्रों पर अङ्कित किये जाते थे।

प्रस्तर-पोथियाँ

प्राचीन भारत में राजकीय कार्यो के लिये प्रस्तर-लेखों का व्यापक रूप से प्रचलन था। इस प्रकार के अभिलेख स्तम्भों, गुफा-मण्डपों और देव-मन्दिरों में देखने को मिलते हैं। सम्राट् अशोक के अभिलेख इस विषय के प्राचीनतम प्रस्तराङ्कन हैं। इसी प्रकार सातवाहनों गुप्तो

और पल्लवों के अभिलेख उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार के स्तम्भलेखों एवं शिलालेखों की संख्या सैकड़ों है।

संस्कृत-साहित्य में प्राचीनतम काव्य प्रवृत्तियों के जीवित प्रमाण आज हमें प्रस्तर-पुस्तिकाओं पर उत्कीर्ण हुए मिलते हैं। उनमें गिरनार शिलालेख (१५० ई०) तथा इसी समय का पुलुमावि का नासिक शिलालेखों का नाम प्रमुख है। इनके अतिरिक्त हरिषेण की प्रयाग-प्रशस्ति (३४५ ई०), वीरसेन का उदयगिरि गुफा का अभिलेख (४७० ई०), वत्सभट्टी की मन्दसौर-प्रशस्ति (४७३ ई०), रविशान्ति का हरहा अभिलेख (५५५ ई०) और वासुल की मन्दसौर-प्रशस्ति (६०० ई०) आदि में प्रस्तर अभिलेखों के कुछ नमूने देखे जा सकते हैं।

इन प्रस्तराङ्कनों का एक महत्व यह भी है कि उनके द्वारा अनेक अज्ञातनामा ग्रन्थकारों की जीवन सम्बन्धी जानकारी के सूत्र भी उपलब्ध होते हैं। इस दृष्टि से उनका ऐतिहासिक महत्व के साथ-साथ काव्यात्मक महत्व भी है।

इस प्रकार की ऐतिहासिक एवं काव्यात्मक महत्व की एक प्रस्तर-पोथी रोड कविकृत 'राउलवेल' (राजकुलविलास) का नाम उल्लेखनीय है। शिलाखण्ड पर लिखित यह प्रस्तर-लेख, प्रिंस आफ़ वेल्स म्यूजियम, बम्बई में सुरक्षित है। इसकी भाषा पुरानी दक्षिण कोसली है और इसका रचनाकाल ११वीं शताब्दी ई० निश्चित किया गया है। इस प्रस्तराङ्कित पोथी को प्रकाश में लाने का श्रेय डॉ० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणी तथा डॉ० माताप्रसाद गुप्त को है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इस प्रस्तराङ्कन को 'राउलवेल और उसकी भाषा' नाम से पुस्तकाकार रूप में सम्पादित कर प्रकाशित करवाया है, जिसमें उसका सर्वाङ्गीण अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। शिलालेखों के रूप में उपलब्ध इस प्रकार की सामग्री के उद्धार का यह स्तुत्य प्रयास है।

इसी प्रकार न केवल अभिलेखों की दृष्टि से, बल्कि लेखन की दृष्टि से भी उनका महत्व रहा है। १३वीं शताब्दी ई० में वर्तमान मदन कवि की 'पारिजात मञ्जरी' के पूरे दो अङ्क धार (मध्यभारत) की भोजशाला में प्रस्तर-खण्डों पर लिखे हुए आज भी देखने को मिलते हैं। दक्षिण भारत में पल्लव राजाओं के समय शिलाओं पर उत्कीर्णित प्रबन्ध इस दिशा की महत्वपूर्ण सामग्री है।

प्रस्तर पर प्रशस्ति, अभिलेख और ग्रन्थलेखन का यह क्रम प्रागैतिहासिक काल से लेकर लगभग १५वीं शताब्दी ई० तक निरन्तर होता रहा। विभिन्न पुरातत्व सम्बन्धी तथा कला-सम्बन्धी संग्रहालयों में प्रस्तराङ्कन के ये नमूने विपुल एवं विविध रूप में देखने को मिलते हैं। प्रस्तराङ्कनों के बाद ग्रन्थलेखन के लिये जिन साधनों को व्यापक रूप से अपनाया गया है और भारत के सभी अञ्चलों में आज जिनके पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होते हैं, वे हैं भुर्जपत्र और तालपत्र।

भुर्जपत्रीय पोथियाँ

ग्रन्थ-लेखन के लिये वृक्ष की छालों तथा पत्रों को उपयोग में लाने की प्रथा बहुत प्राचीन है। संसार के सभी देशों की आदिम सभ्यता में मौलिक ज्ञान की परम्परा को अग्रसर करने के लिए वृक्षपत्र और वृक्षछालें ही लेखन का माध्यम रही हैं, भुर्जपत्र भी उनमें से एक है। भारत मे भुर्जपत्रीय पोथियाँ काश्मीर में लिखी गयीं। काश्मीर प्राचीन काल से ही भारत के प्रमुख

बासी पोथिया

धीरे धीरे लेखन के लिये सुविधाजनक साधनो का आविष्कार हुआ वह था बास का कागद। इस प्रकार की पोथिया अधिकतर मिश्र मे हा लिखी गयी। वहा लगभग ३०० ई० पूर्व में ही बाँसी पोथियाँ लिखी जाने लगी थीं। बाद में ईरानवासियों और रोमवासियों ने भी, मिश्रवासियों के अनुकरण पर, पेपिरस और बाँस पर ग्रन्थ-लेखन का कार्य किया। कागज जब मिलो मे तैयार किया जाता था और उस पर यूनानियों का आधिपत्य था, जो कि उस समय मिश्र के शासक थे, ईरान और रोम में तब बाँसी कागज पर ग्रन्थ लिखने का प्रचलन था। यही कारण है कि रोम और यूनान में ३०० ई० पूर्व तक की समस्त पोथियाँ या तो पेपिरस पर लिखी गयी या बाँसी कागज पर।

काष्ठफलक

बाँस के अतिरिक्त काष्ठफलक भी लेखन के उपयोग में लाए जाते थे। काष्ठफलको पर लेखन की प्रथा ने ही पुस्तक को 'कोडेक्स' (Codex) नाम दिया। अंग्रेजी में 'बुक' (Book) शब्द 'बीच' (Beech) वृक्ष के कारण ही व्यवहृत हुआ। जर्मन लोग लेखन के लिये बहुधा बीच (Beech) के पट्टों का उपयोग करते थे। काष्ठफलकों पर लेखन की परम्परा भारत मे प्राचीन काल से प्रचलित रही है। प्राचीन महत्व के प्रागैतिहासिक एवं ऐतिहासिक स्थानो की खुदाइयों से इस प्रकार के काष्ठफलक अधिक संख्या में उपलब्ध हुए हैं।

धातुपत्र

आज प्राय: अधिकतर दानपत्र तथा अभिलेख ताम्रपत्रों पर लिखे हुए उपलब्ध होते है। ये धातुपत्र कुछ तो तालपत्रों के आकार-प्रकार के और कुछ उनसे भारी तथा लम्बे-चौड़े होते थे। भारत के प्राय: विभिन्न भागों में इस प्रकार के सैकड़ों धातुपत्र उपलब्ध हैं, जो प्राचीनता की दृष्टि से और लिपिविकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। सम्राट् कनिष्क (प्रथम शताब्दी ई०) के धातुलेख इस विषय की महत्वपूर्ण उपलब्धि हैं। इसी प्रकार माहिष्मती के महाराज सुबन्धु का ऐतिहासिक महत्व का एक ताम्रलेख बाघ की दूसरी गुफा में उपलब्ध हुआ। इस ताम्रलेख के आधार पर इतिहासकारों ने यह सिद्ध किया कि बाघ की गुफाओं का निर्माणकाल ४थी-५वी शताब्दी ई० था। यह लेख पुरातत्व विभाग ने गुफाओं की सफाई करते समय १९२९ ई० मे प्राप्त किया था। गुप्त-साम्राज्य और उसके बाद १२वीं शताब्दी ई० तक भारत के छोटे-बडे रजवाड़ों में बहुतायत से ताम्रपत्र लिखे जाते थे। वीरता, सेवा, साहस, अनुग्रह, दान और भेंट के रूप में दिये जाने वाले बड़े-बड़े पुरस्कार ताम्रपत्रों पर अङ्कित किये जाते थे।

प्रस्तर-पोथियाँ

प्राचीन भारत में राजकीय कार्यों के लिये प्रस्तर-लेखों का व्यापक रूप से प्रचलन था। इस प्रकार के अभिलेख स्तम्भों, गुफा-मण्डपों और देव-मन्दिरों में देखने को मिलते हैं। सम्राट् अशोक के अभिलेख इस विषय के प्राचीनतम प्रस्तराङ्कन हैं। इसी प्रकार सातवाहनों गुप्तो

और पल्लवों के अभिलेख उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार के स्तम्भलेखों एवं शिलालेखों की संख्या सैकड़ों है।

संस्कृत-साहित्य में प्राचीनतम काव्य प्रवृत्तियों के जीवित प्रमाण आज हमें प्रस्तर-पुस्तिकाओं पर उत्कीर्ण हुए मिलते हैं। उनमें गिरनार शिलालेख (१५० ई०) तथा इसी समय का पुलुमावि का नासिक शिलालेखों का नाम प्रमुख है। इनके अतिरिक्त हरिषेण की प्रयाग-प्रशस्ति (३४५ ई०), वीरसेन का उदयगिरि गुफा का अभिलेख (४७० ई०), वत्सभट्टी की मन्दसौर-प्रशस्ति (४७३ ई०), रविशान्ति का हरहा अभिलेख (५५५ ई०) और बासुल की मन्दसोर-प्रशस्ति (६०० ई०) आदि में प्रस्तर अभिलेखों के कुछ नमूने देखे जा सकते हैं।

इन प्रस्तराङ्कनों का एक महत्व यह भी है कि उनके द्वारा अनेक अज्ञातनामा ग्रन्थकारों की जीवन सम्बन्धी जानकारी के सूत्र भी उपलब्ध होते हैं। इस दृष्टि से उनका ऐतिहासिक महत्व के साथ-साथ काव्यात्मक महत्व भी है।

इस प्रकार की ऐतिहासिक एवं काव्यात्मक महत्व की एक प्रस्तर-पोथी रोड कविकृत 'राउलवेल' (राजकुलविलास) का नाम उल्लेखनीय है। शिलाखण्ड पर लिखित यह प्रस्तर-लेख, प्रिंस आफ़ वेल्स म्यूजियम, बम्बई में सुरक्षित है। इसकी भाषा पुरानी दक्षिण कोसली है और इसका रचनाकाल ११वीं शताब्दी ई० निश्चित किया गया है। इस प्रस्तराङ्कित पोथी को प्रकाश में लाने का श्रेय डॉ० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणी तथा डॉ० माताप्रसाद गुप्त को है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इस प्रस्तराङ्कन को 'राउलवेल और उसकी भाषा' नाम से पुस्तकाकार रूप में सम्पादित कर प्रकाशित करवाया है, जिसमें उसका सर्वाङ्गीण अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। शिलालेखों के रूप में उपलब्ध इस प्रकार की सामग्री के उद्धार का यह स्तुत्य प्रयास है।

इसी प्रकार न केवल अभिलेखों की दृष्टि से, बल्कि लेखन की दृष्टि से भी उनका महत्व रहा है। १३वीं शताब्दी ई० में वर्तमान मदन कवि की 'पारिजात मञ्जरी' के पूरे दो अङ्क धार (मध्यभारत) की भोजशाला में प्रस्तर-खण्डों पर लिखे हुए आज भी देखने को मिलते हैं। दक्षिण भारत में पल्लव राजाओं के समय शिलाओं पर उत्कीर्णित प्रबन्ध इस दिशा की महत्वपूर्ण सामग्री है।

प्रस्तर पर प्रशस्ति, अभिलेख और ग्रन्थलेखन का यह क्रम प्रागैतिहासिक काल से लेकर लगभग १५वीं शताब्दी ई० तक निरन्तर होता रहा। विभिन्न पुरातत्व सम्बन्धी तथा कला-सम्बन्धी संग्रहालयों में प्रस्तराङ्कन के ये नमूने विपुल एवं विविध रूप में देखने को मिलते हैं। प्रस्तराङ्कनों के बाद ग्रन्थलेखन के लिये जिन साधनों को व्यापक रूप से अपनाया गया है और भारत के सभी अञ्चलों में आज जिनके पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होते हैं, वे हैं भुर्जपत्र और तालपत्र।

भुर्जपत्रीय पोथियाँ

ग्रन्थ-लेखन के लिये वृक्ष की छालों तथा पत्रों को उपयोग में लाने की प्रथा बहुत प्राचीन है। संसार के सभी देशों की आदिम सभ्यता में मौलिक ज्ञान की परम्परा को अग्रसर करने के लिए वृक्षपत्र और वृक्षछालें ही लेखन का माध्यम रही हैं, भुर्जपत्र भी उनमें से एक है। भारत में भुजपत्रीय पोथियां काश्मीर में लिखी गयीं काश्मीर प्राचीन काल से ही भारत के प्रमुख

ज्ञानकेन्द्रों में रहा है। उसको पण्डित-प्रसविनी भूमि के रूप में स्मरण किया गया है। वहाँ ग्रन्थ-निर्माण और प्रतिलिपि-कार्य कई सौ वर्षों तक निरन्तर होता गया।

काश्मीर में ग्रन्थ-लेखन के लिये ताड़पत्र और भुर्जपत्र दोनों का उपयोग किया गया। ये ग्रन्थ काश्मीर में इतनी अधिक संख्या में लिखे गये, जिनकी गणना नहीं की जा सकती। समुचित सुरक्षा के अभाव में और कुछ धर्मान्ध शासकों के कारण यह ग्रन्थ-सम्पत्ति बहुत बड़े पैमाने पर कालकवलित होती गयी। सिकन्दर, बुतशिकन (मूर्तिभञ्जक) के समय का वर्णन करते हुए एक इतिहासकार ने लिखा है कि "यवनों की प्रेरणा से सिकन्दर ने काश्मीर के सभी ग्रन्थों को जला डाला। उस समय मुसलमानी आक्रमण के कारण काश्मीर के सभी ब्राह्मण अपने ग्रन्थों को लेकर दूर विदेशों में बिखर गये। हिमागम में पौधों की तरह सभी मनोहर ग्रन्थ ब्राह्मणों के साथ काश्मीर में कथामात्र को रह गये।"

इस विपत्ति काल में लोगों ने अपने ग्रन्थ को या तो जमीन में गाड़ दिया या उन्हें कुओं में फेंक दिया। किंवदन्ती है कि प्रसिद्ध डल झील का मध्यभाग भोजपत्रों को डालने के लिये बनाया गया था। कूपों, झीलों और भू-गर्भ से इस प्रकार की ग्रन्थ-सामग्री बाद की खुदाइयों में भी उपलब्ध होती रही। कुछ विद्याप्रेमी मुस्लिम सन्तों ने भी संस्कृत भाषा और ग्रन्थलेखन के प्रति अनुराग प्रकट किया। ऐसे सन्तों में सन्त मखदूम साहब का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने संस्कृत में एक वसीयत-नामा भुर्जपत्र पर लिखा था। बाद में उसको न्यायालय में उपस्थित किया गया और उसका फारसी अनुवाद भी हुआ। सम्प्रति यह वसीयतनामा श्रीनगर के संग्रहालय में सुरक्षित है।

जिन खोजी विद्वानों ने काश्मीर में इन लुप्तप्राय भुर्जपत्रीय पोथियों की खोज की उनमें प० राधाकृष्ण, डॉ० बूलर, लेफ्टिनेण्ट बोवर, डॉ० हार्नली और डॉ० स्टीन का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

१८७५ ई० में तीन वर्ष तक काश्मीर में रहकर बूलर साहब ने भुर्जपत्रीय पोथियों की ३०० जिल्दें खरीदीं, जिनमें ५४३ पोथियाँ वेष्टित थी। इन्हीं भुर्जपत्रीय पोथियों में जल्हण कवि कृत सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक महाकाव्य 'पृथ्वी राज विजय' पहले पहल प्राप्त हुआ था।

पूर्वी तुर्किस्तान में स्थित काशगर के कुचार नामक जिले में लेफ्टिनेण्ट बोवर द्वारा प्राप्त 'बोवर मैनुस्क्रिप्ट', आक्सफोर्ड की बोडलियन लाइब्रेरी में सुरक्षित है। इनके अतिरिक्त 'बरव-शाली मैनुस्क्रिप्ट', 'गिलगित मैनुस्क्रिप्टस' और 'होरिउजी मैनुस्क्रिप्ट' आदि भुर्जपत्रीय पोथियों का नाम विशेष महत्व का है।

गिलगित से जिन भुर्जपत्रीय पोथियों का पता चला वे सभी बौद्धधर्म से सम्बन्धित हैं। डॉ० नलिनाक्षदत्त, डॉ० एम० भट्टाचार्य और डॉ० शिवनाथ शर्मा 'विद्यावारिधि' ने इन पाण्डु-लिपियों को, काश्मीर के महाराजा हरीसिंह के आग्रह पर तीन भागों में सुसम्पादित कर प्रकाशित किया। इन पोथियों का लिपिकाल ७वीं, ८वीं शताब्दी ई० है। काश्मीर में जो सैकड़ों भुर्ज-पत्रीय ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं, उनमें से कुछ का लिपिकाल ४५०-५५० ई० है। 'नवनीतक' नामक आयुर्वेद-ग्रन्थ का नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय है।

भुर्जपत्र पर लिखी हुई प्राय: सभी पोथियाँ शारदालिपि में मिलती हैं। उसका कारण यह है कि काश्मीर में ही प्राय: वे लिखी गयीं काश्मीर की प्राचीन लिपि है और

संस्कृत-साहित्य की जिन बहुसंख्यक कृतियों का निर्माण काश्मीरी विद्वानों ने किया वे प्राय सबकी सब शरदालिपि में ही लिखी गयीं। इस लिपि का क्षेत्र काश्मीर के अतिरिक्त गान्धार (सीमाप्रान्त), काँगड़ा, बसौली, गुलेर आदि पहाड़ी रियासतों से लेकर जालन्धर तक के प्राचीन त्रिगर्त की विभिन्न रियासतों तक रहा है।

१७वीं शताब्दी ईसवी के बाद जब विदेशी लोगों का ध्यान भारत की इस महत्वपूर्ण एवं मूल्यवान् ज्ञानथाती की ओर अग्रसर हुआ तो वे उसके क्रय-संग्रह की दिशा में विशेष रूप से उत्सुक हुए। कुछ समय तक काश्मीर में इन पोथियों का बड़ी तेजी से व्यवसाय होता रहा। इन भुर्जपत्रीय पोथियों की महत्ता जैसे-जैसे प्रकाश में आने लगी और विदेशियों ने पर्याप्त धन देकर उन्हें खरीदना आरम्भ किया तो व्यावसायिक दृष्टि के कुछ लोगों ने नकली ग्रन्थ लिखकर उन्हे पुराना बताया और उसी भाव में उनको बेचा भी। किन्तु धीरे-धीरे जब यह भेद खुला तो इस प्रकार की परिपाटी समाप्त हो गयी।

जिन विदेशी लोगों या व्यवसायियों ने भुर्जपत्र के ग्रन्थों को सोने के भाव में खरीदकर विदेशों को भेजा तथा स्वयं ले गये, उनमें जर्मनों की संख्या अधिक है। अंग्रेज और अमेरिकन भी इन पोथियों को क्रय करके ले गये। तिब्बत और चीन तक ये पोथियाँ पहुँची। यही कारण है कि सम्प्रति भारत मे ये भुर्जपत्रीय पोथियाँ कम संख्या में मिलती हैं।

अल्पजीवी और नाजुक होने के कारण भुर्जपत्रीय पोथियों के बाहर सुरक्षा के लिये चमड़े की जिल्द या लकड़ी की दफ्तियाँ लगा दी जाती थीं। फिर भी इन दफ्तियों या जिल्दों की रगड़ से अधिकतर पोथियों के आदि-अन्त के पृष्ठ नष्ट हो गये। पुष्पिका के नष्ट हो जाने के कारण लिपिकाल के अभाव में इस प्रकार की पोथियों का महत्व कम हो गया।

तालपत्रीय पोथियाँ

प्राचीन भारत में ग्रन्थलेखन तथा लेखन-सम्बन्धी अन्य कार्यों के लिये जिन साधनों को व्यापक रूप से अपनाया गया, उनमें तालपत्रों का महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि भुर्जपत्र पर भी ग्रन्थलेखन का कार्य कुछ कम पैमाने पर नहीं हुआ; फिर भी अल्पजीवी और पर्याप्त अभिरक्षणीय होने के कारण भुर्जपत्रीय पोथियाँ, तालपत्रीय पोथियों की अपेक्षा कम तादाद में लिखी गयीं। भुर्जपत्रीय पोथियों के लेखन का मुख्य केन्द्र काश्मीर और उसके आस-पास की रियासतें रही हैं, जबकि तालपत्रीय पोथियाँ बिहार, बङ्गाल, पञ्जाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और समस्त दक्षिण भारत में कई सौ वर्षों तक निरन्तर लिखी जाती रहीं। भुर्जपत्रीय पोथियों की लेखन-सम्बन्धी कठिनाइयों और उनकी नाजुकता की कमी को पूरा किया तालपत्रीय पोथियों ने।

भारत में तालपत्रों पर व्यापक रूप से ग्रन्थ-लेखन का कार्य हुआ और उन्हीं के द्वारा ज्ञान की प्राचीन थाती तथा लेखन की परम्परा आगे की पीढ़ियों को मिली। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि ये तालपत्रीय पोथियाँ भारत के कुछ हिस्सों में ही लिखी गयीं; किन्तु सारे देश के ओर-छोर तक जिस अधिकता से आज वे उपलब्ध होती हैं उनको देखकर सहज ही में यह जाना जा सकता है कि वे कई सौ वर्षों तक अनेक लिपिकारों द्वारा लिपिबद्ध होती रहीं। यद्यपि दक्षिण भारत में आज भी तालपत्रों पर ग्रन्थ तथा दस्तावेज आदि लिखे जाते हैं; फिर भी वे आज इतनी

अधिक संख्या मे उपलब्ध हैं कि प्राचीनता की दृष्टि से भी उनका मूल्य बहुत है. न केवल भारत मे, बल्कि एशिया और योरप के देशों मे छठी शताब्दी ई० से लेकर १८वीं शताब्दी ईसवी तक जो बृहत्-ग्रन्थसंग्रह विदेशों को प्रवाسित हुए, उनमें भी तालपत्रीय पोथियों का एक महत्वपूर्ण भाग सुरक्षित है। इस दृष्टि से यह भी अन्दाजा लगाया जा सकता है कि भारत में ग्रन्थ-लेखन का प्राचीनतम जरिया तालपत्र ही था।

'पुस्तक' के लिये 'ग्रन्थ' अभिधान भी सम्भवत: तालपत्रीय पोथियों के प्रचलन के बाद हुआ। ग्रन्थ-लेखन का कार्य आरम्भ करने से पूर्व तालपत्रों के बीच में एक छिद्र किया जाता है। उसमें एक डोरा डाल कर उन पत्रों को एक सूत्र में पिरो दिया जाता है। इसी सूत्रबद्ध या ग्रन्थित होने के कारण पुस्तक को 'ग्रन्थ' नाम से कहा जाने लगा।

दक्षिण भारत में जो तालपत्रीय पोथियाँ लिखी गयीं, अन्य प्रदेशों मे लिखी गयी पोथियो की अपेक्षा स्वरूपत: वे भिन्न हैं। दक्षिण में तालपत्र को स्यालमुखी कलम या लौह लेखनी से खोद-कर लिखा जाता था और बाद में उसके ऊपर कोयले के चूर्ण या काजली रंग से पोत दिया जाता था। इससे खुदी हुई लिखाई स्पष्ट होकर उभर आती थी। अन्य प्रदेशों में जो पोथियाँ लिखी गयीं, उनमें स्याही पोत देने के बाद उनको खड़िया जैसे पदार्थ के चूर्ण से पोत दिया जाता था, जिससे अक्षर चमकने लगते थे।

तालपत्र की कुछ पोथियाँ बिना खोदे, सीधे स्याही से भी लिखी हुई मिलती हैं। ऐसी पोथियाँ, खुदे हुए अक्षरों की पोथियों की अपेक्षा प्राचीन हैं। दक्षिण में इस प्रकार की पोथियाँ भी लिखी गयीं।

तालपत्र पर लिखी हुई सबसे प्राचीन पोथी नेपाल के राजकीय पुस्तकालय में बतायी जाती है, जिसका लिपिकाल प्रथम शताब्दी ईसवी बताया जाता है। भुर्जपत्र और ताल पर ग्रन्थ-लेखन का कार्य सर्वथा असहज और दुस्तर है। इनको लिखने के लिये जितनी सूझ-बूझ अपेक्षित है, उतनी ही आवश्यकता सावधानी बरतने की भी है। इन पोथियों के लिपिकर्ता, विद्वान् और सुलेखक होने के साथ-साथ कलाविद् भी होते थे।

दक्षिण भारत और काश्मीर में तालपत्र तथा भुर्जपत्र की जो पोथियाँ लिखी गयी वे प्राचीनता की दृष्टि से, आज से लगभग सत्रह-अठारह सौ वर्ष पूर्व, अर्थात् ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी की हैं। भारत में उस समय शुङ्ग सातवाहनों के शासनकाल का अन्तिम समय और गुप्त राजाओं का उदयकाल था। गुप्तों के समय इस प्रकार की अनेक पोथियाँ लिखी गयीं। ये पोथियाँ बड़ी मूल्यवान् थीं। उनके सम्बन्ध में पुराणोक्त प्रमाणों से ज्ञात होता है कि उनकी सुनहरी खत और दफ्तियों की चित्रकारी बड़ी आकर्षक थी। १२वीं तथा १३वीं शताब्दी ई० मे श्वेताम्बरीय जैन-सम्प्रदाय की जो 'जैन-कल्पद्रुप' आदि की पोथियाँ गुजरात और जौनपुर आदि में लिखी गयीं, वे भी गुप्तकालीन पोथियों जैसी बहुमूल्य थीं। उनमें अधिकतर आज भी उपलब्ध हैं। ये सचित्र पोथियाँ हैं—'कालकाचार्य कथा', 'निशीथचूर्णिका' और, 'उत्तरराध्ययन सूत्र' आदि। ११वीं से १५वी० श० ई० के बीच लिखी हुई इस प्रकार की सैकड़ों सचित्र ताड़पत्रीय पोथियाँ पाटन, खम्भात, बड़ौदा, जैसलमेर और अमेरिका के बोस्टन म्यूज़ियम आदि स्थानों में सुरक्षित हैं' भोज के भतीजे उदयादित्य के समय (१०५९ १०८० ई०) की

बङ्गाक्षरों में लिखित 'बालग्रह' नामक एक सचित्र पोथी साराभाई के संग्रह में सुरक्षित बतायी जाती है।

माण्डपत्रीय पोथियाँ

मनुष्य ने जैसे-जैसे उन्नति की और ज्ञान की दिशा में वह आगे बढ़ा, अपने लिये उसने अधिक सुगम और सुविधाजनक साधनों को खोज निकाला। लिपिविकास के साथ ही नये लेखन-साधन प्रकाश में आये जिनमें माण्डपत्र का मुख्य स्थान है। माण्डपत्र, अर्थात् देशी हाथ का बना कागज।

माण्डपत्र इसको इसलिए कहा गया कि लिखने से पहले उसको माण्डा तथा घोटा जाता था। माण्ड का लेप कर देने के बाद कागज के छिद्र भर जाते हैं और उसमें कड़ापन तथा टिकाऊपन आ जाता है। आज भी ब्राह्मण परिवारों में लम्बी जन्मकुण्डली बनाने के लिये देशी कागज को माण्डा तथा शङ्ख से घोटा जाता है।

जितनी पोथियाँ अब तक लिखी गयी, उनमें माण्डपत्रीय पोथियाँ ही अधिक सख्या मे मिलती हैं। इन पोथियों की संख्या करोड़ों में है। काशगर में जो लेखयुक्त कागज मिले है, ऐसा विश्वास किया जाता है कि वे तीसरी से ५वीं शताब्दी ई० में लिखे गये।

कागद पर लिखी हुई प्राचीनतम पोथियाँ चीन में उपलब्ध होती हैं। इनका लिपिकाल आज से लगभग अठारह-उन्नीस सौ वर्ष बताया जाता है। चीन में सन् १०५ ई० के लगभग कागज का आविष्कार हुआ। किन्तु तादाद में वह इतना अपर्याप्त था कि कई सौ वर्षों तक दूसरे देश उसके लाभ से वञ्चित रहे।

भारत में इस प्रकार की माण्डपत्रीय पोथियाँ लगभग ८वीं-९वीं शताब्दी ई० से व्यापक रूप में लिखी जाने लगी थीं। ११वीं शताब्दी ई० के बाद भारतीय चित्रकारों ने एक नयी शैली को जन्म दिया, जिसको पश्चिम भारतीय शैली, जैन शैली, अपभ्रंश शैली या गुजरात शैली आदि अनेक नामों से कहा जाता है। इस चित्र शैली के इतने नाम इसलिये पड़े कि उसके चित्र उत्तर, पश्चिम और दक्षिण आदि अनेक स्थानों पर बहुलायत से मिले हैं। इस शैली के चित्रकारो ने अनेक ग्रन्थों के दृष्टान्त चित्र उतारे और अनेक पाण्डुलिपियाँ लिखीं। उसके बाद भी लगभग १९वीं शताब्दी ई० तक राजपूत, मुगल और पहाड़ी शैली के अनेक चित्रकारों ने माण्डपत्र पर सैकड़ों सचित्र पोथियों का निर्माण किया।

माण्डपत्र पर लिखी हुई इस प्रकार की प्राचीनतम पोथियाँ देश-विदेश के कई ग्रन्थ-संग्रहो मे सुरक्षित हैं। इन पोथियों के जो प्राचीन नमूने देखने को मिलते हैं और उनमें जिस स्याही का प्रयोग किया गया है, वह भी आज की स्याही से भिन्न है। ऐसा ज्ञात होता है कि तत्कालीन चित्रकारों की भाँति लिपिकार तथा ग्रन्थकार भी वनस्पतियों से स्वयमेव स्याही तैयार करते थे। इस स्याही से लिखी गयी पोथियों की यह विशेषता है कि पानी में भिगोने पर भी उनकी स्याही घुलती या पिघलती नहीं है।

न केवल पोथियाँ बल्कि चित्र, दस्तावेज, राजकीय पत्र, आलेख और अन्य महत्वपूर्ण पत्रों के लिये विगत एक सहस्राब्दि से सम्पूर्ण भारत में को उपयोग में लाया जाता रहा

है। मशीनी कागज के उत्पादन के बावजूद आज भी प्रतिलिपिकरण और लेखन के लिये प्राय: माण्डपत्र को ही उपयोग में लाया जाता है। उसका कारण यह है कि सुरक्षा और टिकाऊपन की दृष्टि से मशीनी कागज की अपेक्षा वह उपयोगी है।

इस प्रकार प्रागैतिहासिक काल से लेकर अब तक लेखन के लिये जिन साधनों को उपयोग में लाया जाता रहा है उनका इतिवृत्त जितना गम्भीर, उपयोगी तथा खोजकार्य की दृष्टि से महत्व-पूर्ण है उतना ही रोचक, विचित्र और अद्‌भुत भी है।

प्राचीन भारत में नगर-शासन

डॉ० उदयनारायण राय

नगर-प्रमुख—उपलब्ध साधनों से विदित होता है कि प्राचीन भारत में नगर-शासन राज्य की ओर से नियुक्त पदाधिकारियों तथा स्थानीय सभाओं, समितियों एवं समुदायों के द्वारा सम्पादित होता था। नगर के प्रमुख अधिकारियों को कौटिल्य ने 'नागरक' कहा है। उसका कार्य नगर में होने वाले कार्यों का पर्यवेक्षण था।[१] उसे सरोवरों, राजमार्गों, गुप्त रास्तों, वप्र, प्राकार तथा परिखा आदि का प्रतिदिन निरीक्षण करना पड़ता था।[२] वह दूसरों की खोई हुई अथवा उनके द्वारा भूली या छोड़ दी गई वस्तुओं की रक्षा करता था।[३] वह अपने उत्तरदायित्व को निभाने में किसी प्रकार की असावधानी नहीं दिखाता था।[४] कौटिल्य के 'नागरक' की पहचान अशोककालीन कलिङ्ग-लेख के 'नगलक' के साथ की जा सकती है।[५] नगर-प्रमुख की नियुक्ति की परम्परा भारतवर्ष मे मौर्य-काल के उपरान्त भी विद्यमान थी। ऊना के अभिलेख मे नगर-प्रमुख को 'द्राङ्गिक' कहा गया है।[६] राजपूत-अभिलेखों में उसे 'पत्तनाधिकार पुरुष' कहा गया है।[७] मनुस्मृति में नगर के प्रमुख अधिकारी को 'नगरसर्वार्थचिन्तक' अर्थात् पुर में होने वाली प्रत्येक घटना की देखरेख करने वाला कहा गया है।[८] जूनागढ़ के अभिलेख में चक्रपालित का नामोल्लेख हुआ है, जो सौराष्ट्र-पुर गिरिनगर का स्कन्दगुप्तकालीन प्रमुख अधिकारी था। इस लेख के अनुसार उसके दो प्रधान कर्त्तव्य थे —(१) नगर की रक्षा[९] (२) दुष्टों का दमन।[१०] इस पदाधिकारी से आशा की जाती थी कि उनका व्यवहार पुरवासियों के साथ सहानुभूति एवं आत्मीयता से परिपूर्ण हो। गिरिनगर का प्रधान अधिकारी चक्रपालित यहाँ के नागरिकों को पुत्र के समान मानता था तथा उनके दोषों को दूर करने की चेष्टा करता था।[११] इस अधिकारी से सार्वजनिक कार्यों की भी आशा की जाती थी, उदाहरणार्थ चक्रपालित ने नागरिकों के लाभ के लिये सुदर्शनकासार का जीर्णोद्धार किया था। इस पद पर प्रायः बहुत योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती थी। जूनागढ़ के लेख के अनुसार चक्रपालित सब प्रकार से योग्य था तथा उसमे सम्पूर्ण वाञ्छनीय गुण विद्यमान थे।[१२] वह क्षमा, प्रभुत्त्व, विनय, नय, शौर्य, दाक्ष्य, दान तथा दाक्षिण्य आदि सद्गुणों का केन्द्र-बिन्दु था।[१३]

राजपुरुष—कौटिल्य के अर्थशास्त्र में नगर-शासन-सम्बन्धी कतिपय राजपुरुषो के नाम मिलते हैं सुराध्यक्ष सूनाध्यक्ष तथा

पण्याध्यक्ष का प्रधान कर्त्तव्य नगर मे बेची जानेवाली वस्तुओं का मूल्य निर्धारण था वह यह देखता था कि नगर के व्यापारी कहीं अनुचित प्रकार से अधिक लाभ उठाकर खरीदने वाले को ठग तो नहीं रहे हैं।[१४] उसका यह भी चेष्टा रहती थी कि जो वस्तु बेची जाय, वह शुद्ध हो तथा उसमें किसी प्रकार की मिलावट न हो।[१५] सुराध्यक्ष का प्रधान कर्त्तव्य राजकीय नियमों के अनुसार मदिरा के क्रयविक्रय तथा प्रयोग का सञ्चालन था। वह देखता था कि सुरालय (पानागार) मे किसी प्रकार का झगड़ा तथा बेईमानी न होने पाये।[१६] सूनाध्यक्ष इस बात को देखता था कि माँस बेचने वाले हड्डियों को निकाल कर स्वच्छ माँस बेचते हैं अथवा नहीं।[१७] यदि कोई व्यक्ति हड्डियों के साथ माँस बेचता था, तो उसे दण्ड दिया जाता था।[१८] यदि माँस के तौलने में कोई कमी करता था, तो उसे भी अर्थदण्ड दिया जाता था।[२०] वह यह भी देखता था कि कोई कसाई बछडा, बैल या दुधार गाय को न काटे।[२१]

गणिकाध्यक्ष का कर्त्तव्य गणिकाओं की आय का निर्धारण करना तथा उस पर कर लगाना था।[२२] अनुचित व्यवहार के दोषी पाने पर वह गणिका तथा उसके साथ सम्बन्ध रखने वाले को दण्ड देता था। गणिका की इच्छा के विरुद्ध उसके साथ व्यवहार की इच्छा रखने वाले कामुक व्यक्ति को गणिकाध्यक्ष कठिन दण्ड देता था।[२३] नावध्यक्ष की नियुक्ति बन्दरगाहों में की जाती थी। उसका कर्त्तव्य विदेशी यात्रियों से शुल्क वसूल करना था।[२४] राजकीय जलपोत से उतरने वाले नावध्यक्ष को यात्रा-वेतन देते थे।[२५] प्रमाणपत्र के प्रस्तुत करने पर ही विदेशी वणिकों को नगर-प्रवेश की आज्ञा मिलती थी।[२६] जहाज से उतरने वाले जो यात्री व्यापार तथा बन्दरगाह के नियमों को भङ्ग करते थे, उन्हें यह अधिकारी दण्ड देता था।[२७] सन्दिग्ध आचरण करने वाले व्यक्ति इसके द्वारा बन्दी बनाये जाते थे।[२८]

जनसंख्या—बड़े नगरों में जनसंख्या का विवरण सुरक्षित रहता था। इस प्रथा के विद्यमान होने का प्राचीनतम प्रमाण मौर्य काल में मिलता है। मेगस्थनीज़ ने पाटलिपुत्र में प्रजा के जीवन-मरण का ब्यौरा प्रस्तुत करने वाले पदाधिकारियों के होने का उल्लेख किया है।[२९] वे सर्वदा इस बात पर सतर्क रहते थे कि जन्म एवं मृत्यु का कोई लेखा सरकारी खाते में छूटने न पाये।[३०] कौटिल्य ने जनसंख्या-कार्यालय का उल्लेख किया है। उसने दो राजपुरुषों का उल्लेख भी किया है, जो जनगणना करते थे—(१) गोप तथा (२) स्थानिक। गोप नगर के दस, बीस अथवा चालीस कुलों की गणना करता था।[३१] वह अपने अधिकार-क्षेत्र के प्रत्येक परिवार के पुरुषों एवं स्त्रियों की जाति, गोत्र, नाम एवं व्यवसाय का ब्यौरा अपने खाते में दर्ज करता था।[३२] स्थानिक गोप से बड़ा पदाधिकारी था। उसके खाते में नगर के चारों भागों के निवासियों के नाम उल्लिखित रहते थे।[३३] इन अधिकारियों को नगर में बाहर से आने वाले व्यक्तियों का भी नाम एवं पता सुरक्षित रखना पड़ता था। इसके लिये धर्मशालाओं के सञ्चालकों को रुकने वाले यात्रियों का नाम तथा पता जनसंख्या अधिकारियों के पास भेजना पड़ता था।[३४] नागरिकों को भी अपने अतिथियों की सूचना उन्हें देनी होती थी।[३५] इस प्रकार की व्यवस्था के कारण नगर में बाहरी आदमियों की संख्या तथा उनके सम्बन्ध में पूरा परिचय मिल जाता था।

नगरपालिका के कर्तव्य—नगर-शासन के लिये एक सभा होती थी, जिसे प्राचीन ग्रन्थो मे 'पौर' कहा गया है। खारवेल के लेख-[३६] दिव्यावदान-[३७] रामायण[३८] तथा कतिपय अन्य ग्रन्थो

मे 'पौर' का उल्लेख मिलता है। यहाँ पर जिस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया गया है, उसमे पुर-सभा का बोध होता है। यह सभा प्रधानतः सामूहिक लाभ की व्यवस्था करती थी। बृहस्पति के अनुसार यह नगर मे 'शान्तिक कर्म' अर्थात् शान्ति की व्यवस्था करती थी। इसके अतिरिक्त 'पौष्टिक कर्म' अर्थात् नागरिकों के हित में कार्य करना इसका कर्त्तव्य समझा जाता था।[३९] नगर-सभा के अन्य सार्वजनिक कार्यों में सभागृह, सरोवर, मन्दिर एवं विश्रामशाला का निर्माण तथा अनाथ एवं दरिद्रों की सहायता उल्लेखनीय है।[४०] विदेशी लेखक मेगस्थनीज़ ने भी नगर-सभा का उल्लेख किया है। उसके अनुसार पाटलिपुत्र के शासन के लिये एक सभा थी, जिसमे ६ विभाग थे तथा प्रत्येक विभाग में ५ सदस्य थे। पृथक् उत्तरदायित्व के अतिरिक्त इन विभागों के कतिपय सामूहिक उत्तरदायित्व भी थे। उदाहरणार्थ--जनसाधारण के लाभ के लिये कार्य, सार्वजनिक गृहों का जीर्णोद्धार, बाजारों में मूल्य-नियन्त्रण, बन्दरगाहों का पर्यवेक्षण तथा मन्दिरों की देखभाल।[४१]

जहाँ तक पृथक् उत्तरदायित्व का प्रश्न है, पहला विभाग औद्योगिक कला तथा दूसरा विदेशियों की सुविधा की देखरेख करता था। तीसरा प्रजा के जन्म एवं मरण का विवरण रखता था तथा चौथा वाणिज्य एवं व्यापार का सञ्चालन करता था। पाँचवाँ व्यावसायिक विकास का पर्यवेक्षण तथा छठाँ बाजारों में नाप-तौल की जाँच करता था।[४२] नगर-सभा का एक कार्यालय होता था, जहाँ इसकी बैठक होती थी। प्रयाग के सन्निकट भीटा नामक स्थान में इस प्रकार के एक कार्यालय के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं।[४३] नालन्दा से एक मुद्रा मिली है, जिस पर 'पुरिका' शब्द उत्कीर्ण मिलता है।[४४] इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नगर-सभा की एक मुद्रा भी होती थी, जिससे इस सभा के विशिष्ट लेख मुद्रित किये जाते थे।

न्याय-व्यवस्था---नगरों में न्याय-शासन का कार्य प्रधानतः राजकीय न्यायालयों के द्वारा किया जाता था। मृच्छकटिक मे नगर के न्यायालय को 'अधिकरण-मण्डप' तथा न्यायाधीश को 'अधिकरणिक' कहा गया है।[४५] अशोककालीन धौली के शिलालेख में नगर-न्यायाधीश को 'नगलवियोहालक' (नगर-व्यवहारक) कहा गया है।[४६] इसकी तुलना अर्थशास्त्र के 'पौर व्यावहारिक' से की जा सकती है।[४७] नगर-न्यायाधीश के पद पर योग्य व्यक्ति की नियुक्ति की जाती थी। मृच्छकटिक में अधिकरणिक (नगर-न्यायाधीश) की योग्यता के विषय में कहा गया है कि उसे शास्त्रज्ञ, छलकपट को जानने में कुशल, वाग्मी, क्रोधरहित, शत्रु एवं मित्र दोनों के लिये समान, चरित्र देखने के अनन्तर ही उत्तर देने वाला, दुर्बलों का रक्षक, धूर्तों के लिये दण्ड का दाता, धार्मिक, निर्लोभी, वास्तविक रहस्य का प्रकाशक, दूसरों के हृदय को जानने में कुशल तथा राजा के क्रोध का निवारक होना चाहिये।[४८] अधिकरणिक की सहायता के लिये कुछ और कर्मचारी भी होते थे, उदाहरणार्थ मन्त्रणा प्रदान करने वाले कर्मचारी, दूत, गुप्तचर तथा मुहर्रिर आदि। इनसे युक्त उज्जयिनी के न्यायालय के गम्भीर दृश्य को देखकर चारुदत्त सहसा घबड़ा उठता है। वह कहता है कि अधिकरण (कचहरी) हिंसक जीवों से युक्त समुद्र-सा लग रहा है। इसमे बैठे हुए चिन्तामग्न परामर्शदाता जलतुल्य तथा दूत लहरों एवं शङ्खों के समान प्रतीत होते हैं। इधर-उधर विचरण करते हुए गुप्तचर नाक तथा घड़ियाल के समान लग रहे हैं। हाथी तथा घोड़ों के रूप मे यह भयङ्कर जल-जन्तुओं से व्याप्त है शब्द करने वाले कर्मचारी

बगले आदि हैं लेखक भी विषैले सर्पों के समान बैठे हुए हैं इसका तट नीति से जर्जरित होता हुआ प्रतीत हो रहा है "अधिकरण में नगर के मुकदमा के अतिरिक्त वे मुकदमें भी पुनः सुनवाई के लिये आते थे, जिनमें ग्राम के न्यायालय के द्वारा एक बार फैसला दिया जा चुका था। नगरन्यायालय के निर्णय को दुहराने का अधिकार केवल राजा को ही था।[५०]

मृच्छकटिक में नगर-न्यायालयों की कार्य-पद्धति का सुन्दर वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ से विदित होता है कि व्यवहार-मण्डप के मुख्यद्वार के सामने एक दौवारिक नियुक्त रहता था। दण्डनायक की आज्ञा पाने पर वह घोषणा करता था कि कौन-कौन से लोग 'कार्यार्थी' अर्थात् मुकदमा दायर करना चाहते हैं।[५१] इस घोषणा के उपरान्त वादी (अर्थिन्) न्यायालय में अपना वक्तव्य देता था। न्यायालय से सूचना मिलने पर प्रतिवादी (प्रत्यर्थिन्) तिथि पर निश्चित उपस्थित होता था। प्रतिवादी के उत्तर के पूर्व वादी को अपने कथन में परिवर्तन का पूर्ण अधिकार दिया जाता था, पर प्रतिवादी के उत्तर के पश्चात् उसे इसके लिए अनुमति नही मिलती थी।[५२] न्यायालयों में प्रमाण भी लिया जाता था। बिना प्रमाण का निर्णय ठीक नही माना जाता था।[५३] इसके लिये गवाही ली जाती थी। सभी प्रकार के मनुष्यों की गवाही ठीक नहीं मानी जाती थी। केवल तपस्वी, दानशील, कुलीन, सत्यवादी, ऋजु, पुत्रवान्, धर्मप्रधान् तथा धनिक व्यक्तियों का प्रमाण ठीक माना जाता था।[५४] स्त्री, बालक, वृद्ध, पाखण्डी, उन्मत्त तथा लूले एवं लंगड़े प्रमाण के अयोग्य माने जाते थे ।[५५] गवाह से सत्य की आशा की जाती थी। मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि प्रमाण देने वाला व्यक्ति यदि झूठे बयान में पकड़ा जाता था, तो उसे अङ्गच्छेद की सजा दी जाती थी।[५६] लोगों का विश्वास था कि गवाही में सत्य बोलने वाला साक्षी मरने पर श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त करता है और इस लोक में उत्तम कीर्ति पाता है। ब्रह्मादि देवता भी सत्यवाणी से उसका सत्कार करते हैं ।[५७]

नगर-न्यायालय में शपथ-ग्रहण की भी प्रथा प्रचलित थी। ब्राह्मण को सत्य, क्षत्रिय को शस्त्र, वैश्य को गऊ, बीज एवं सुवर्ण तथा शुद्र को सब पापों का शपथ लेना पड़ता था।[५८] झूठा शपथ लेने वाला निन्दा तथा धिक्कार का भाजन बनता था। मृच्छकटिक में अधिकरणिक झूठा शपथ लेने वाले शकार को फटकारता है कि अरे नीच ! तू वेदों की शपथ ले रहा है, तब भी तेरी जिह्वा कट कर नहीं गिरती ? तू मध्याह्न में सूर्य को देख रहा है तो भी तेरी दृष्टि विचलित नहीं हुई ? प्रदीप्त अग्नि में तू हाथ दे रहा है, परन्तु तेरा हाथ दग्ध नही हुआ ? तू निर्दोष चारुदत्त को चरित्रभ्रष्ट बता रहा है, तब भी तेरे शरीर का पृथ्वी हरण नही कर रही है ?[५९] चार प्रकार की दिव्य परीक्षाएँ प्रचलित थीं—(१) विष-परीक्षा, (२) जल-परीक्षा, (३) तुला-परीक्षा तथा (४) अग्नि परीक्षा। मृच्छकटिक में चारुदत्त इन चारों दिव्य परीक्षाओं के प्रयोग के लिये प्रस्तुत दिखाया गया है।[६०]

नगर-न्यायालयों में निर्णय देने के लिये मुकदमों की काफी छानबीन की जाती थी, ताकि व्यक्ति के साथ किसी प्रकार का अन्याय न हो जाय। इस सम्बन्ध में लिच्छवियों के गणराज्य की राजधानी वैशाली में एक बहुत बड़ी विशेषता थी। वहाँ पर एक ही मुकदमे को एक-दूसरे से बडे नगर के सात न्यायालय क्रमशः देखते थे । यदि उनमें सभी अभियुक्त को अपराधी पाते थे, तभी

उसे दण्ड दिया जाता था ।[६१] पर इनमें से एक भी उसे यदि निर्दोष मानता था, तो वह अपराध-मुक्त घोषित किया जाता था ।[६२]

यद्यपि न्यायाधीश अपने क्षेत्र में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र था, तथापि राजकीय प्रभाव में आ जाने के कारण पक्षपातरहित निर्णय देना कभी-कभी उसे दुष्कर हो जाता था। मृच्छकटिक में प्रतिकूल निर्णय की आशङ्का रखने वाला राज्यश्याल शकार नगर-न्यायाधीश को राजा से पदच्युत कराने की धमकी देता था ।[६३] इस कारण वह दण्डनायक निर्दोष चारुदत्त को ही दण्ड देता है। सच्चे न्याय का इस प्रकार गला घुट जाने पर लोग उसे धिक्कारते हैं ।[६४] स्वयं चारुदत्त उसे फटकार लगाता हुआ कहता है कि ऐसा न्यायाधीश काक को श्वेत बता सकता है, न्याय को दूषित कर सकता है तथा सहस्रों निर्दोष व्यक्तियों की हत्या कर सकता है ।[६५]

अभियुक्त को मृत्युदण्ड प्रायः नगरों में ही दिया जाता था, क्योंकि इसके लिये वहीं पर व्यवस्था की जाती थी। मृत्युदण्ड के लिये जो तैयारियाँ की जाती थीं, उसका बहुत सुन्दर वर्णन मृच्छकटिक में मिलता है। इसके अनुसार चारुदत्त (जिसको शूली पर चढ़ाना था) को चाण्डालो ने कनैलपुष्प की एक माला पहना दी[६६] तथा उसके सारे शरीर में लाल चन्दन के थोप लगाकर एव काले तिलों के चूर्ण से व्याप्त कर बलि के पशु के समान बना दिया ।[६७] इस अवस्था मे चारुदत्त को बध्य-स्थान की ओर ले जाते देखकर नागरिक आँखों से आँसू भर कर चिल्ला रहे थे कि तुम स्वर्ग प्राप्त करो।[६८] प्रासादों के झरोखों से स्त्रियाँ अपने मुख को निकाल कर उसे देखती हुई 'हा चारुदत्त !' इस प्रकार विलापपूर्वक परनालों के समान आँखों से आँसू बरसा रही थी ।[६९] कभी-कभी इस प्रकार के अपराधी के साथ उदारता दिखाई जाती थी। अशोक ने ऐसे अपराधियों को आत्मशुद्धि के लिए तीन दिन का विश्राम प्रदान किया था।[७०] ब्राह्मणों को मृत्युदण्ड से कभी-कभी छूट दी जाती थी। मनुस्मृति में कहा गया है कि ब्राह्मण के वध से बढकर इस संसार में कोई पाप नहीं है। राजा को ब्राह्मण का वध मन से भी नहीं सोचना चाहिये ।[७१] पापी से पापी ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिये। उसे समस्त धन के साथ केवल देश से बाहर निकाल देना चाहिये ।[७२] मृच्छकटिक में उज्जयिनी का न्यायाधीश मनु को प्रमाण मान कर अभियुक्त चारुदत्त को पहले देशनिष्कासन का दण्ड निर्धारित करता है ।[७३]

स्थानीय समितियों के कर्तव्य—इस स्थान पर उल्लेखनीय है कि नगर के न्यायालयो मे बहुधा बड़े मुकदमें ही निर्णय के लिये आते थे। छोटे मुकदमों का फैसला प्रायः स्थानीय समितियों एवं समुदायों के द्वारा किया जाता था। इनमें तीन विशेष रूप से उल्लेखनीय है—(१) श्रेणी, (२) पूग तथा (३) कुल। इन तीनों समितियों को अपने-अपने क्षेत्रों में निर्णय देने का अधिकार राज्य की ओर से प्राप्त था।[७४] इन समितियों के प्रधान ही निर्णय देने का काम करते थे ।[७५] व्यावसायिक समिति को 'श्रेणी' कहा जाता था तथा इस समिति के कुछ रीति-रिवाज थे, जिन्हें स्मृतियों में 'श्रेणीधर्म' कहा गया है। यह समिति 'श्रेणी-धर्म' के अनुसार अपने सदस्यो के झगड़े निपटाया करती थी। पूग नगर में रहनेवाली विभिन्न जातियों की समितियों को कहा जाता था।[७६] कुल, सम्भवतः एक ही परिवार के सदस्यों के समूह को कहा जाता था। श्रेणी के समान पूग तथा कुल के भी निश्चित नियम थे जिन्हें क्रमशः पूगधर्म तथा कुलधर्म कहा जाता था। इन विभिन्न धर्मों को राज्य की ओर से मान्यता प्राप्त थी [७७] इन्हीं के ये समितियाँ अपने सदस्यो

के झगडो मे फैसला देती थी यदि कुल जाति तथा श्रेणी के सदस्य अपने धर्म का पालन नही करते थे, तो राज्य उन्हें दण्ड देता था।[७८]

स्वच्छता-व्यवस्था—नागरिकों के स्वास्थ्य की रक्षा के लिये नगर के भीतर स्वच्छता की व्यवस्था की जाती थी। प्रधान राजमार्गों पर थूकना, मूत्रत्याग तथा पुरीषोत्सर्ग अपराध माना जाता था।[७९] कौटिल्य ने नगर के भीतर सफाई को बहुत अधिक महत्ता प्रदान की है। उनका मत है कि यदि कोई व्यक्ति राजमार्ग पर गन्दगी इकट्ठा करने का प्रयत्न करे, तो उससे पण का आठवाँ भाग दण्ड के रूप में वसूल किया जाय।[८०] सड़क पर मरे हुए मनुष्य अथवा जानवर का शरीर फेंकने वाले को कठोर दण्ड का भागी बनना पड़ता था।[८१] अधिक सफाई की दृष्टि से मुर्दे नगर मे उसी मार्ग मे ले जाये जाते थे, जो कि इसके लिये निर्दिष्ट होता था।[८२] शव को श्मशान पर ही जलाया जाता था। अन्यत्र जलाने पर दण्ड दिया जाता था।[८३] जनता के स्वास्थ्य की रक्षा के लिये औषधालयों का निर्माण किया जाता था। इनमें औषधियों के निःशुल्क वितरण की व्यवस्था की जाती थी। औषधियों के लाभ के लिये स्थान-स्थान पर राज्य की ओर से सुप्रसिद्ध औषधियों एव जडी-बूटियों का आरोपण किया जाता था। अशोक ने अपने एक लेख में कहा है कि पशुओं एव मनुष्यों के लिये लाभकारी औषधियाँ जहाँ-जहाँ नहीं थीं, वहाँ-वहाँ मैंने लगवा दीं।[८४] जन-स्वास्थ्य को अधिक ठीक रखने के लिये चेष्टा की जाती थी कि अशुद्ध पदार्थ बाजारों में न बेचे जायें। जो लोग इस प्रकार के दोष में पकड़े जाते थे, उन्हें कठिन दण्ड दिया जाता था।[८५] इस प्रकार की व्यवस्था के कारण नागरिक काफी सुरक्षा का अनुभव करते होंगे।

कर-व्यवस्था—नगर में वसूल किये जाने वाले करों में दो कर विशेष रूप से उल्लेखनीय है—(१) वाणिज्य-कर तथा (२) उद्योग-कर। वाणिज्य-कर बनियों से लिया जाता था। वाणिज्य-कर में चुङ्गी, माप तथा तौल पर लिया जाने वाला कर तथा बिक्री-कर उल्लेखनीय हैं। चुङ्गी को शुल्क कहा जाता था। शुल्क राजभाग के रूप में ग्रहण किया जाता था।[८६] चुङ्गी लेने वाले पदाधिकारी को शुल्काध्यक्ष कहते थे। शुल्काध्यक्ष का कार्यालय नगर के प्रवेश-द्वार पर स्थित होता था। इसके कार्यालय के ऊपर एक ऊँची पताका लगी रहती थी।[८७] सौदागरों से नाम, पता, बेचने वाली वस्तुओं की संख्या तथा तौल आदि पूछ लेने के उपरान्त शुल्काध्यक्ष उन्हें नगर के अन्दर जाने की आज्ञा देता था।[८८] यदि कोई सौदागर शुल्क को बिना दिये हुए धोखा देकर निकल जाने का प्रयास करता था तो उसे उचित कर का कई गुना दण्ड के रूप में देना पड़ता था। अर्थशास्त्र के अनुसार ऐसे सौदागर से उचित कर का आठ गुना दण्ड के रूप में वसूल किया जाय।[८९] कभी-कभी नगर की बाजारों मे भी व्यापारियों से शुल्क वसूल करने के लिये राजपुरुष घूमते रहते थे। मृच्छकटिक में कहा गया है कि नगरों में व्यापारी तथा उनकी दूकान के आसपास शुल्क वसूल करने वाले राजकीय कर्मचारी वैसे ही चक्कर काटते हैं, जिस प्रकार भौंरे वृक्ष तथा उसके पुष्पों के चतुर्दिक् मँडराते हैं।[९०] विष्णुस्मृति में कहा गया है कि जो माल स्वदेश से आता हो, उसका दसवाँ भाग चुङ्गी के रूप में लिया जाय। जो माल विदेश से आता हो, उसका बीसवाँ भाग चुङ्गी के रूप में लिया जाय।[९१]

नगर में व्यवहार में आने वाले माप एवं तौल को भली-भाँति जाँचकर उन पर राजकीय मुहर लगाई जाती थी तथा इस रूप में उन्हें प्रमाणित किया जाता था। इसके लिये बनियों को कर देना पड़ता था। अर्थशास्त्र में इसे 'प्रातिवेधनिक कर' कहा गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार

यह कर केवल चार मासा था।[९२] जो वणिक् अपने माप अथवा तौल पर मुहर नहीं लगवाता था उसे साढ़े २७ पण का दण्ड लगाना कौटिल्य की दृष्टि में सम्मत था।[९३] अर्थशास्त्र में विक्रय पर कर लगाने का उल्लेख किया गया है। इसके अनुसार तुला पर तौल कर बेची जाने वाली वस्तु का बीसवाँ भाग कर के रूप में वसूल किया जाय[९४] तथा जो वस्तुएँ गिन कर बेचीं जायें, उनका ग्यारहवाँ भाग कर के रूप में लिया जाय।[९५] उद्योग-कर कारीगरों से लिया जाता था। यही कारण है कि अभिलेखों में इसे कारुकर (कारीगरों से लिया जाने वाला कर) कहा गया है। यह कर दो रूपो मे लिया जाता था—(१) विष्टि अर्थात् बेगार के रूप में तथा (२) द्रव्य के रूप में। विष्टि छोटे कारीगरों से ली जाती थी, उदाहरणार्थ, कुम्हार, बढ़ई तथा लोहार। स्मृतियों में कहा गया है कि राजा छोटे कारीगरों से महीने में एक बार सार्वजनिक कार्यों में विष्टि ले सकता था।[९६] पर बडे कारीगरों से कर द्रव्य के रूप में लिया जाता था। इनमें सुनार, जुलाहे तथा शराब बनाने वाले आते थे। कौटिल्य के अनुसार शराब बनाने वाले पाँच प्रतिशत कर देते थे।[९७]

रक्षा-व्यवस्था—नागरिकों की रक्षा के लिये राज्य की ओर से कई प्रकार की व्यवस्थाएँ की जाती थीं, उदाहरणार्थ चोरी से बचाव के लिये पहरेदारों की नियुक्ति की जाती थी। नगर के पहरेदारों को 'नगररक्षिन्' कहा जाता था।[९८] ये रात्रि के समय कड़ा पहरा देते थे। मृच्छकटिक में कहा गया है कि काफी रात बीत जाने पर भी नगर के राजमार्गों पर पहरेदार घूमते रहते थे।[९९] यदि ये चोर का पता लगाने में असमर्थ सिद्ध होते थे, तो इन लोगों को बहुत कडा दण्ड दिया जाता था।[१००] नागरिकों की अधिक सुरक्षा की दृष्टि से कभी-कभी रात्रि के द्वितीय प्रहर में राजमार्गों पर चलना निषिद्ध घोषित कर दिया जाता था। अर्थशास्त्र में कहा गया है कि रात्रि के द्वितीय प्रहर के प्रारम्भ में भेरिवादन होता था तथा उसके उपरान्त तृतीय प्रहर के अन्त तक नागरिक घर के बाहर नहीं निकल सकते थे।[१०१] मृच्छकटिक से विदित होता है कि रात्रि के भ्रमण-निषिद्ध प्रहर में नगर-पदाधिकारियों के अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति राजमार्गों पर नहीं चल सकता था।[१०२] केवल आवश्यक कार्यों तथा आकस्मिक घटनाओं के आ पड़ने पर ही नागरिकों को घर से बाहर निकलने का अधिकार दिया जाता था, उदाहरणार्थ मृतक शरीर के साथ श्मशान-भूमि को प्रस्तुत व्यक्ति तथा रोगों को देखने के लिये जाने वाले चिकित्सक नहीं रोके जाते थे।[१०३] इस प्रकार के व्यक्तियों को यदि नगर के पहरेदार रोकते थे, तो उन्हें दण्ड दिया जाता था।[१०४]

नगर के व्यापारियों की सुरक्षा का भार राज्य अपने ऊपर लेता था। एक जातक में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि राजा व्यापारियों के कल्याण के लिये उनकी सुरक्षा की व्यवस्था करता था।[१०५] यह व्यवस्था उस समय नहीं रह जाती थी, जिस समय राजा के अभाव में चतुर्दिक् अराजकता का साम्राज्य फैल जाता था। रामायण में कहा गया है कि भूप-विहीन साम्राज्य में व्यापारी असुरक्षा का अनुभव करने लगते हैं तथा परिणाम-स्वरूप वे माल के साथ नगर के बाहर नहीं निकलते।[१०६]

नगरों में आग बुझाने के लिये कभी-कभी एक विभाग की नियुक्ति की जाती थी। इस विभाग में कार्य करने वालों को बस्ती के एक ही भाग में रहना पड़ता था। सावधानी के लिये ये लोग पहले से ही जल से भरे हुए घडों को नगर के प्रधान राजमार्गों तथा चतुष्पों पर बगल

मे एक ही स्थान पर रख देते थे [७] आग बुझाने के काय मे इन लोगो की सहायता नागरिको को भी करनी पडती थी जो नागरिक इस काय मे सहायता नही करता था उसे राजकीय दण्ड का भागी बनना पड़ता था। अथशास्त्र मे कहा गया है कि एसे नागरिक को १२ पण का दण्ड दिया जाय।[१०८]

दैवी आपत्तियों के आ जाने पर राज्य नागरिकों की यथेष्ट सहायता करता था। महामारी के प्रकोप से पीड़ित, दीन एवं असहाय व्यक्तियों को राजकीय सहायता, औषधि एव द्रव्य के रूप में दी जाती थी।[१०९] दुर्भिक्ष के अवसर पर नागरिकों में दान का वितरण किया जाता था।[११०] बाढ़-पीड़ितों को भी सहायता पहुँचाई जाती थी।[१११]

जन-स्वास्थ्य——जन-स्वास्थ्य की रक्षा के विषय में कुछ महत्वपूर्ण विदेशी उल्लेख मिलते हैं। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज लिखता है कि पाटलिपुत्र की नगरपालिका की दूसरी समिति विदेशियों के स्वास्थ्य की देख-रेख करती थी। जब वे बीमार पड़ते थे, तो यह उनके औषधि की व्यवस्था करती थी। उनके मरने पर उनकी अन्तिम क्रिया का प्रबन्ध तथा सम्पत्ति को उनके सम्बन्धियों के पास पहुँचा देना इसी समिति का कर्तव्य था।[११२] फाहियान ने लिखा है कि देश के धनिक वैश्यों ने नगरों में चिकित्सालयों का निर्माण किया था। इसकी दीवालों पर संस्थापकों के नाम उत्कीर्ण किये जाते थे। इनमें दीन एवं असहाय व्यक्तियों को औषधियाँ निःशुल्क मिलती थी।[११३]

हाट-व्यवस्था——हाट-नियन्त्रण नगर-शासन का अभिन्न अङ्ग था। मेगस्थनीज़ लिखता है कि पाटलिपुत्र की सभा की चतुर्थ समिति का कार्य बाजारों का पर्यवेक्षण था। इसके सदस्य वहाँ की बाजारों में प्रयोग में आने वाले माप एवं तौल का समय-समय पर निरीक्षण करते थे। वे एक व्यापारी को केवल एक ही प्रकार की वस्तुओं को बेचने देते थे।[११४] कौटिल्य के द्वारा उल्लिखित पण्याध्यक्ष नामक कर्मचारी की चर्चा पहले की जा चुकी है, जो बाजारों में अपना कठोर नियन्त्रण स्थापित रखता था। उसका भी कार्य नाप-तौल की परीक्षा करना तथा धोखेबाज़ बनियों को दण्ड देना था।[११५] इससे लगता है कि मौर्यकाल से ही भारतीय बाजारों में राजकीय नियन्त्रण का कार्य बड़ी कड़ाई के साथ होना प्रारम्भ हो चुका था।

व्यवसाय-नियन्त्रण——भारतीय नगर व्यवसाय के केन्द्र-बिन्दु थे, अतएव शासन की दृष्टि से उद्योग-धन्धों के ऊपर राजकीय नियन्त्रण आवश्यक था। मेगस्थनीज़ के अनुसार पाटलिपुत्र की सभा की प्रथम समिति नगर-व्यवसाय का पर्यवेक्षण करती थी।[११६] कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे व्यवसाय के ऊपर नियन्त्रण रखने वाले राजपुरुषों के उल्लेख मिलते हैं, उदाहरणार्थ सुराध्यक्ष जिसके कार्यों का विवरण इस परिच्छेद के प्रारम्भ में दिया जा चुका है। राज्य औद्योगिक विकास के लिये प्रयत्न करता था। मेगस्थनीज लिखता है कि यदि कोई व्यक्ति किसी कारीगर को क्षति अथवा शारीरिक हानि पहुँचाता था, तो उसे मृत्युदण्ड दिया जाता था।[११७] कौटिल्य ने भी लिखा है कि राज्य, व्यावसायिकों की सुरक्षा की व्यवस्था करता था।[११८]

नगर-सीमा का रक्षण——सुरक्षा की दृष्टि से नगर-सीमाओं पर गहरी परिखा एवं उच्च प्राकार का निर्माण किया जाता था। पाटलिपुत्र की परिखा ६०० फीट चौड़ी तथा ५५ फीट गहरी थी। प्राकार की चोटी पर नगर-रक्षा के हेतु विभिन्न शस्त्र एकत्र किये जाते थे। पुर पर आक्रमण

के समय नगर-रक्षक प्राकार-शिखर पर से इन शस्त्रों को नीचे की शत्रु-सेना के ऊपर फेंकते थे।[११९] कुछ रात्रि के व्यतीत हो जाने पर नगर के फाटक बन्द कर दिये जाते थे। जो यात्री रात मे देर को पहुँचते थे, उन्हें फाटक पर रोक दिया जाता था। दूसरे दिन सूर्योदय होने पर उन्हें नगर-प्रवेश की आज्ञा मिलती थी। वाराणसी के नगर में इस प्रकार की व्यवस्था के होने का उल्लेख जातकों में मिलता है।[१२०] कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में अन्तपाल (सीमारक्षक राजपुरुष) नामक कर्मचारी का उल्लेख किया है। वह नगर में आने वाली विदेशी सामग्री का निरीक्षण करता एवं उस पर मुहर लगाता था। छोटी वस्तुओं के छिपाने पर वह अपराधी को आठ गुना दण्ड देता था। उत्तम कोटि की वस्तुओं के छिपाने पर उससे भी कड़ा दण्ड दिया जाता था। सन्दिग्ध आचरण तथा हानि पहुँचाने वाले व्यक्तियों को वह नगर में आने से रोकता था।[१२१]

धर्मशालाओं का प्रबन्ध—चीनी यात्री फाहियान ने उत्तरी भारत के नगरों में धर्मशालाओ के विद्यमान होने का उल्लेख किया है। वहाँ पर रुकने वाले यात्रियों को किसी प्रकार का विश्राम-शुल्क नहीं देना पड़ता था। धर्मशालाओं की स्थापना बहुधा धनिक वैश्यों के द्वारा पुण्यार्जन के निमित्त की गई थी।[१२२] कौटिल्य ने लिखा है कि धर्मशालाओं के व्यवस्थापकों को उनमें रुकने वाले यात्रियों का नाम, पता तथा अन्य विवरण अपने खाते में सुरक्षित रखना पड़ता था। वे इनमे अवाञ्छित एवं अशुद्ध आचरण वाले व्यक्तियों को नहीं रुकने देते थे।[१२३] शुक्रनीति मे धर्मशालाओ के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण उल्लेख मिलते हैं। इस ग्रन्थ के अनुसार इनके सञ्चालक इनमें विश्राम की इच्छा रखने वाले यात्रियों के नाम, कुल, जाति तथा पता आदि के विषय में प्रश्न पूछकर उनके सम्बन्ध में पहले पूरी जानकारी प्राप्त कर लेते थे। अपनी विवरण-पत्रिका में उनका पूरा ब्यौरा उल्लिखित कर लेने के पश्चात् वे उनको इनमें रुकने की आज्ञा देते थे। रात्रि में धर्मशालाओ के दरवाजे बन्द हो जाते थे। द्वार-रक्षक इन पर कठोर पहरा देते थे। इनके व्यवस्थापकों को नगर के जनसंख्या-कार्यालय में यात्रियों के विषय में सूचना देनी पड़ती थी। इस प्रकार पुर में आने वाले नवागन्तुक सरकार को किसी प्रकार से भी धोखा नहीं दे सकते थे।[१२४]

गुप्तचर—नगर के पदाधिकारियों को गुप्त सूचना प्रदान करने के लिये गुप्तचरो की नियुक्ति की जाती थी। कौटिल्य का कथन है कि नगर के भीतर गुप्तचर अपने वेष को तीन प्रकार से बदल कर घूमें—(१) सिर मुँडाकर (मुण्ड.), (२) जटाजूट बाँधकर (जटिल), तथा (३) तपस्वी का रूप धारण कर (तापसव्यञ्जन:[१२५])। नीतिसार में भी कहा गया है कि जासूस (चर) तपस्वी, धूर्त, सौदागर तथा व्यावसायिक का वेष बनाकर घूमें[१२६] बस्ती के प्रत्येक भाग मे हर छोटी बड़ी बात की सूचना लेने के लिये उन्हें घूमना पड़ता था।[१२७] अपराधियों के मन मे गुप्तचर का आतङ्क सर्वदा बना रहता था। मृच्छकटिक में एक अपराधी नगर-गुप्तचर के भय से आतङ्कित दिखाया गया है।[१२८] नीतिसार में गुप्तचर को 'नृपतिचक्षु', कहा गया है।[१२९] इस उक्ति का कारण यह है कि वास्तव में इन्ही के द्वारा सम्राट प्रत्येक घटना का अवलोकन करता था।

जल-वितरण—नागरिकों की जल प्राप्ति की सुविधा के निमित्त प्रत्येक नगर में सरोवर विद्यमान थे। तटाक-निर्माण एक पुनीत कार्य समझा जाता था। महाभारत के अनुसार इन्द्रप्रस्थ के नगर मे सरोवर बने हुए थे जो हंस एवं आदि पक्षियो से सुशोभित तथा

गंधि सम्पन्न कमलो से युक्त थे[३] मालवा के नगर दशपुर के सरोवरो का जल तट पर उगे हु
क्षो पुष्पों का सुगंध से सुवासित हो उठता था[३] बाढ से रक्षा के निमित्त सरोवरो के चतुर्दि
ाध बने होते थे। इसका कम से कम एक एतिहासिक उदाहरण मिलता है। जब गिरिनगर
सिद्ध तटाक सुदर्शन का बाँध टूट गया, उस समय नागरिकों को क्षति से बचाने के निमि
ुद्रदामन ने अपने व्यक्तिगत कोष से इसका पुनरुद्धार किया था।[१५२]

उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय साहित्य एवं अभिलेखों में यहाँ क
ालन नगर-शासन-पद्धति के विषय में महत्त्वपूर्ण सामग्री भरी हुई है। वे इस बात को स्पष्ट करा
कि विविध राजपुरुषों एवं राजकीय संस्थाओं के अतिरिक्त नगर की स्थानीय सभाओ ए
मितियों को अपने-अपने क्षेत्रों में प्रशासकीय अधिकार प्राप्त थे। वे सुसङ्गठित प्रतिनिधि संस्था
ों एवं उनके अपने रीति-रिवाज एवं कानून थे, जिन्हें शासन के विषय में राज्य की ओर
ान्यता प्राप्त थी।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. "नागरको नगरं चिन्तयेत्"—अर्थशास्त्र, प्रकरण ५६।
२. "नित्यमुदकस्थानमार्गभूमिच्छन्नपथवप्रप्राकाररक्षोवक्षणम्"—वही, प्रकरण ५६।
३. वही, प्रकरण ५६।
४. वही, प्रकरण ५६।
५. हेमचन्द्र राय चौधरी, पो० हि० एं० इ०, पृष्ठ ३१७।
६. रमाशङ्कर त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ़ कन्नौज, ३४३।
७. वही, पृष्ठ ३४३।
८. "नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम्"—मनुस्मृति, अध्याय ७, पंक्ति २४१।
९. "यः सन्नियुक्तो नगरस्य रक्षाम्"—फ्लीट, का० इं० इं०, ३१, पृष्ठ ५९।
१०. "अस्मिन्पुरे चैव शशास दुष्टाः"—वही ३, पृष्ठ ५९।
११. "यो लालयामास च पौरवर्गान् स्वस्यैव पुत्रान्सुपरीक्ष्य दोषान्"—वही ३, पृष्ठ ५९
१२. "स एव कार्त्स्येन गुणान्वितानाम् बभूव नृणामुपमानभूतः"—वही ३, पृष्ठ ५९।
१३. वही, ३, पृष्ठ ५९।
१४. अर्थशास्त्र, प्रकरण ३४।
१५. "स्थूलमपि च लाभं प्रजानामौपघातिकं वारयेत्"—वही प्रकरण ३४।
१६. वही, प्रकरण ४२।
१७. अर्थशास्त्र, प्रकरण ४२
१८. "मृगपशूनामनस्थिमांसं सद्योहतं विक्रीणीरन्"—वही, प्रकरण ४३।
१९. "अस्थिमतः प्रतिपातं दद्युः"—वही, प्रकरण ४३।
२०. "तुलाहीने हीनाष्टगुणम्"—वही, प्रकरण ४३।

२१. "वत्सो वृषो धेनुश्चैषामवध्याः"—वही, प्रकरण ४३।
२२. "भोगं दायमायव्ययमायतिं च गणिकायाः"—वही, प्रकरण ४४।
२३. "अकामायाः कुमार्याः वा साहसो उत्तमो दण्डः"—वही, प्रकरण ४४।
२४. "पत्तनानुवर्तं शुल्कभागं वणिजो दद्युः"—वही, प्रकरण ४५।
२५. "यात्रावेतनं राजनौभिः सपतन्तः"—वही, प्रकरण ४५।
२६. "कृतप्रवेशाः पारविषयिकाः सार्थप्रमाणा वा विशेयुः—वही, प्रकरण ४५।
२७. "पण्यपत्तनचारित्रोपघातिकाश्च"—वही, प्रकरण ४५।
२८. वही, प्रकरण ४५।
२९. मेक्रिण्डिल, खण्ड २७।
३०. वही, खण्ड २७।
३१. "दशकुलीं गोपो विंशतिकुलीं चत्वारिंशत्कुली वा। स तस्यां स्त्रीपुरुषाणाम् जाति-गोत्रनामकर्मभिः जंघाग्रमायव्ययो विद्यात्"—अर्थशास्त्र, प्रकरण ५६।
३२. वही, प्रकरण ५६।
३३. "एवं दुर्गचतुर्भागं स्थानिकश्चिन्तयेत्"—वही, प्रकरण ५६।
३४. वही, प्रकरण ५६।
३५. वही, प्रकरण ५६।
३६. ए० इं०, २०, ७१।
३७. दिव्यावदान, पृष्ठ ४१०।
३८. अयोध्याकाण्ड, सर्ग १११, श्लोक १९।
३९. बृहस्पति स्मृति, ६, ३२।
४०. "सभाप्रपादेवतडाकारामसंस्कृतिः।
तथानाथदरिद्राणां संस्कारो यजन-क्रिया।" बृहस्पति, वीरमित्रोदय, पृष्ठ ४२५।
४१. मेक्रिण्डिल, मेगस्थनीज़ एण्ड एरियन, खण्ड २६।
४२. वही, खण्ड २६।
४३. आ० स० रि०, १९११-१२, पृष्ठ ४७।
४४. ए० इं०, २०, ७१।
४५. मृच्छकटिक, अङ्क ९।
४६. सरकार सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ ४१।
४७. पो० हि० एं० इ०, पृष्ठ ३७१।
४८. शास्त्रज्ञः कपटानुसारकुशलोवक्ता न च क्रोधन-
स्तुल्यो मित्रपरस्वकेषु चरितं दृष्ट्वैव दत्तोत्तरः।
क्लीवान् पालयिता शठान् व्यथयिता धर्म्यो न लोभान्वितो
द्वार्भावे परतत्वबद्धहृदयो राज्ञश्च कोपापहः।
—मृच्छकटिक, अङ्क ९

...नानावाशककंकपक्षिरचितं कायस्थसर्पास्पदम् ।
नीतिक्षुण्णतटं च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते ॥
—मृच्छकटिक

"ग्रामे दृष्टः पुरे याति पुरे दृष्टस्तु राजनि", यौली, नारद, १, ११ (...
मृच्छकटिक, अङ्क ९।
नारद, २, ७।
वही, १, १४।
तपस्विनो दानशीलाः कुलीनाः सत्यवादिनः ।
धर्मप्रधाना ऋजवः पुत्रवन्तो धनान्विताः ।—याज्ञवल्क्य, २, ...
याज्ञवल्क्य, २, ६८।
मेक्क्रिण्डिल, मेगस्थनीज, खण्ड २७।
सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् ।
इह चानुत्तमाम् कीर्ति वागेषा ब्रह्मपूजिता ।—मनुस्मृति, ८...
सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः ।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥—वही, ८, ११३।
वेदार्थान् प्राकृतस्त्वं वदसि, न च ते जिह्वा निपतिता ।
मध्याह्ने वीक्षसेऽर्कं, न तव सहसा दृष्टिर्विचलिता ॥
दीप्ताग्नौ पाणिमन्तः क्षिपसि, स च ते दग्धो भवति नो ।
चारित्र्याच्चारुदत्तं चलयसि, न ते देहं हरति भूः — मृच्छकटिक, अ...
"विषसलिलतुलाग्निप्रार्थितं मे विचारे"—वही, अङ्क ९।
जायसवाल, हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ४९।
वही, पृष्ठ ४९।
मृच्छकटिक, अङ्क ९।
"दुर्बलं नृपतेश्चक्षुर्नैतत् तत्त्वं निरीक्षते",—वही, अङ्क ९।
ईदृशैः श्वेतकाकीयैः राज्ञः शासनदूषकैः ।
अपापानां सहस्राणि हन्यते च हतानि च ॥—वही, अङ्क ९, ४१।
"दत्तकरवीरदामा गृहीत-आवाभ्यां बध्यपुरुषाभ्याम्"—मृच्छकटिक
सर्वगात्रेषु विन्यस्तैः रक्तचन्दनहस्तकैः ।
पिष्टचूर्णावकीर्णश्च पुरुषोऽहं पशुकृतः ॥—वही, अङ्क १०।
"स्वर्गं लभस्वेति वदन्ति पौराः"—वही, अङ्क १०।
"एताः पुनर्हर्म्यगताः स्त्रियो मां वातायनार्धेन विनिःसृतास्याः ।
हा चारुदत्तेत्यभिभाषमाणा बाष्पं प्रणालीभिरिवोत्सृजन्ति ॥—वही,
सरकार सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस पृष्ठ ६०

७१. न ब्राह्मणवधात् भूयानधर्मो विद्यते भुवि।
तस्मादस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत्।—मनु, ८, ३८१।

७२. न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपिस्थितम्।
राष्ट्रादेनं बहिर्कुर्यात् समग्रधनमक्षतम्॥—वही, ८, ३८०।

७३. अयं हि पातको विप्रो न बध्यो मनुरब्रवीत्।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह॥—मृच्छकटिक, अङ्क ९, ३९।

७४. "नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च।"—याज्ञवल्क्य, २, ३०।

७५. "कुलश्रेणिगणाध्यक्षाः प्रोक्ता निर्णयकारकाः"—बृहस्पतिस्मृति, पृष्ठ १६, पंक्ति १८५ (गायकवाड़ प्रकाशन)।

७६. "पूगाः समूहाः भिन्नजातीनाम्"—मिताक्षरा।

७७. मनु, ८, ४१।

७८. "कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणञ्जानपदानपि।
स्वधर्माच्चलितान्राजा विनीय स्थापयेत्पथि॥—याज्ञवल्क्य, १, ३६०।

७९. याज्ञवल्क्य, १, १३४।

८०. "पांसुन्यासे रथ्यायामष्टभागो दण्डः"—अर्थशास्त्र, प्रकरण ५८।

८१. वही, प्रकरण ५८।

८२. वही, प्रकरण ५८।

८३. "श्मशानादन्यत्र न्यासे दहने च द्वादशपणो दण्डः"—वही, प्रकरण ५८।

८४. "ओसुदानि च यानि मनुसोपगानि च पसोपगानि च यत् तत् नास्ति सर्वत्र हारापितानि च रोपापितानि च"—का० इं० इं०, पृष्ठ २।

८५. अर्थशास्त्र, प्रकरण ३४।

८६. "राजभागः शुल्कमुदाहृतम्"—शुक्रनीति, अध्याय ४, प्रकरण २, १०८।

८७. "शुल्काध्यक्षः शुल्कशालाध्वजं-महाद्वाराभ्याशे निवेशयेत्"
—अर्थशास्त्र, प्रकरण ३९

८८. वही, प्रकरण ३९।

८९. "ध्वजमूलमतिक्रान्तानां चाकृतशुल्कानां शुल्कादष्टगुणो दण्डः"—वही, प्रकरण ३९।

९०. वणिजा इव भान्ति तरवः पण्यानीव स्थितानि कुसुमानि।
शुल्कमिव साध्यन्ते मधुकरपुरुषाः प्रविचरन्ति॥
—मृच्छकटिक, अङ्क ७, श्लोक १

९१. स्वदेशपण्याच्च शुल्कांश्च दशमादद्यात्।
परदेशपण्याच्च विंशतितमम्॥—३० विष्णुस्मृति, अध्याय ३, पृष्ठ १२

९२. "चतुर्माषकं प्रातिवेधनिकं कारयेत्"—अर्थशास्त्र, प्रकरण ३७।

९३. "अप्रतिविद्धस्यात्ययः सपादः सप्तविंशतिपणः"—वही, प्रकरण ३७।

९४. "विंशतिभागस्तुलामानम्"—वही, प्रकरण ३५।

९५ —वही प्रकरण ३५

९६. कारुका[illegible]।
एकैकं कारयेत् कर्म मासि मासि महीपतिः ॥—मनुस्मृति, ७, १३८।
९७. "अराजपण्याः पञ्चकंशतं शुल्कं दद्युः"—अर्थशास्त्र, प्रकरण ४२।
९८. मृच्छकटिक—अङ्क ९।
९९. "राजमार्गेहि शून्योऽयं रक्षिणः सञ्चरन्ति च"—वही, अङ्क १।
१००. अग्निपुराण, पृष्ठ ७९१ (मन्मथनाथ अनूदित)।
१०१. अर्थशास्त्र—प्रकरण ५६।
१०२. मृच्छकटिक—अङ्क १।
१०३. अर्थशास्त्र—प्रकरण ५६।
१०४. वही, प्रकरण ५६।
१०५. जातक, ४, १३५।
१०६. नाराजके जनपदे वणिजो दूरगामिनः।
गच्छन्ति क्षेममध्वानं बहुपण्यसमन्विताः ॥—बालकाण्ड, सर्ग ६७, २२।
१०७. "असम्पातिनो रात्रौ रथ्यासु, कपटव्रजास्सहस्रं तिष्ठेयुः चतुष्पथेद्वारे राजपरिग्रहेषु च।"—अर्थशास्त्र, प्रकरण ५६।
१०८. "प्रदीप्तमनभिधावतो गृहस्वामिनो द्वादशपणो दण्डः"—वही, प्रकरण ५६।
१०९. वही, प्रकरण ७८।
११०. वही, प्रकरण ७८।
१११. वही, प्रकरण ७८।
११२. मेक्रिण्डिल, मेगस्थनीज, खण्ड २६।
११३. गाइल्स, फाहियान, पृष्ठ ५९।
११४. मेक्रिण्डल, मेगस्थनीज, खण्ड २६।
११५. अर्थशास्त्र—प्रकरण ३४।
११६. मेक्रिण्डिल, मेगस्थनीज, खण्ड २६।
११७. वही, खण्ड २६।
११८. अर्थशास्त्र—प्रकरण ३४।
११९. अर्थशास्त्र—पृष्ठ ५६ (शामा शास्त्री अनूदित)।
१२०. जातक—संख्या १६४।
१२१. अर्थशास्त्र—प्रकरण ३४।
१२२. गाइल्स, फाहियान, पृष्ठ ४५।
१२३. अर्थशास्त्र—प्रकरण ५६।
१२४. शुक्रनीतिसार, अध्याय २।
१२५. अर्थशास्त्र—प्रकरण ७।
१२६. "तपस्विलिङ्गिनो धूर्ताः शिल्पपण्योपजीविनः",—नीतिसार, १९, पंक्ति ३९।
१२७. "चराश्चरेयुः परितः पिबन्तो जगतां मतम्"—वही १९ पंक्ति ४०।

१२८. "नरपतिपुराधाणां दर्शनाद्भीतः",—मृच्छकटिक, अङ्क ७।

१२९. आदिपर्व, अध्याय १९९, श्लोक ७७।

१३०. वही १९९, श्लोक ७७।

१३१. सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ २९०।

१३२. वही, पृष्ठ २।

समासशक्ति और समासोक्ति

ब्रजनाथ झा

समासशक्ति एक व्याकरण का विषय है जिसके अनुसार समस्त पद में एक शक्ति होती है जो व्यस्त पदों की अपनी शक्ति से भिन्न हुआ करती है। समस्त पदों में जो सामर्थ्य होता है वह व्यस्त पद से भिन्न हुआ करता है।[1] साहित्य में एक समासोक्ति नामक अलङ्कार है जहाँ समास (सक्षेप) से जो उक्ति होती है वह वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ से भिन्न हुआ करती है। अतः जिस[2] प्रकार समास की शक्ति व्यस्त पदो की शक्ति से भिन्न है पङ्कज शब्द की तरह, उसी प्रकार समास से जो उक्ति होती है वह भी व्यस्त पद वा वाक्यांश की शक्ति से भिन्न है। दूसरी बात है कि समास शब्द 'समसन' शब्द से बना है (सम्+अस्+घञ्=समासः)। समसन का अर्थ है कि दो से अधिक पदों को एक[3] वृत्ति के अन्दर लाना। एक वृत्ति के अन्दर लाने से जो शक्ति वहाँ आती है वह पदों के स्वार्थ से इतर होती है। साहित्य में समसन का अर्थ है श्लिष्ट विशेषण के माहात्म्य से संक्षेपार्थ कथन जो वाच्यार्थ[4] व्यंग्यार्थ से भिन्न है। इस दृष्टि से इन दोनों के विषय मे सर्वप्रथम पृथक् रूप से विचार उपस्थित करने के बाद ही दोनों के मिश्रित अर्थ को बताना इस निबन्ध का उद्देश्य है। अतः पहले व्याकरण में समासशक्ति से क्या समझा जाता है इसका विवेचन करके बाद में काव्य[5] के साथ व्याकरण के सम्बन्ध आदि की चर्चा की जायेगी। कारण कि काव्य और व्याकरण में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

अष्टाध्यायी में एक सूत्र है 'समर्थः पदविधिः' जिसका अर्थ है कि पदसम्बन्धी नियम समर्थाश्रित होता है अर्थात् जहाँ दो या दो से अधिक पद परस्पर मिलते हैं वहाँ मिलन के बाद उसमें एक शक्ति आती है। इसी को व्याकरण में 'समर्थाश्रित' शब्द कहा गया है। यही बात समास-शक्ति कहलाती है। यह सामर्थ्य वैयाकरण के मत से आता है। परन्तु नैयायिक और मीमांसक आदि ने इसका खण्डन कर दिया है। फिर भी व्याकरण-प्राण-भूत नागेश[6] और कौण्डभट्ट[7] आदि ने इसका मण्डन करके समासशक्ति की मर्यादा को अक्षुण्ण बना दिया है। यही विषय यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। महाभाष्य के अनुसार समास एक वृत्ति[8] है। वृत्ति का अर्थ है पर (दूसरे)[9] अर्थ का प्रतिपादन करना। समास होने या उसके नियम लगने के पहले जो शब्द समूह होता है, उसे विग्रह[10] वाक्य कहते हैं और नियम लग जाने के बाद के शब्द नियम को वृत्ति कहते हैं। इस वृत्ति शब्द में जब विभक्ति लगाई जाती है तो उसे पद[11] कहते हैं। इसी वृत्ति पद में जो शक्ति होती है

उसे समासशक्ति कहते हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर पाणिनि ने पदविधि को समर्थाश्रित माना। इनके सूत्र में जो[१२] समर्थ शब्द है उसके दो प्रकार के अर्थ किये गये हैं। समर्थ में दो शब्द हैं—सम् + अर्थ। सम् का अर्थ तुल्य और अर्थ का अर्थ प्रयोजन। अतः तुल्य (समान) प्रयोजन है जिसका उसे समर्थ कहते हैं। अर्थात् समर्थ का अर्थ हुआ अभिप्राय बोधन के प्रति तुल्य प्रयोजन वान् शब्द। राजपुरुष शब्द में 'राजाका' यह शब्द राज सम्बन्धी पुरुष को बताता है और पुरुष शब्द भी 'राजाका' इसको बताता है। अतः राज्ञः और पुरुषः दोनों सप्रयोजन शब्द हुए। इन्हीं दोनों सापेक्ष शब्दों को लेकर पदविधि सम्पन्न होती है जिसमें सामर्थ्य रहता है। इसको व्यपेक्षारूप सामर्थ्य कहते है। यह व्यपेक्षारूप सामर्थ्य विग्रह-वाक्य में होता है, परन्तु वृत्ति मे यह शक्ति नहीं होती। उसमें दूसरी शक्ति होती है जिसे एकार्थी भाव रूप सामर्थ्य कहते है। इसकी व्याख्या उक्त सूत्र के समर्थ पद से इस प्रकार की जा सकती है। सम् का अर्थ है संसृष्ट (एकार्थी भूत), अर्थ शब्द का अर्थ अभिधेय है। अत. जिस नियम में अर्थ एकार्थीभूत हो, संसृष्ट हो, वहीं यह पदविधि प्रवृत्त होती है अर्थात् वृत्ति होने पर दोनों पदों में तुल्यार्थता हो जाती है। राजपुरुष वृत्ति के राजाशब्द केवल राजा को नहीं बताता प्रत्युत् पुरुष युक्त राजा को। इसी प्रकार पुरुष भी राजयुक्त पुरुष को कहता है। इस तरह राजा और पुरुष का अर्थ संसृष्ट हो गया। ससृष्ट होने पर संसर्ग हुआ, संसर्ग से शक्ति आई। अतः जब यह एकार्थीभावरूप शक्ति आती है तो उसी को वैयाकरणों ने समासशक्ति के नाम से पुकारा। अतः यह स्पष्ट हो गया कि वाक्य मे सापेक्षता होती है और वृत्ति में एकार्थता।

इस प्रसङ्ग में दूसरी बात यह है कि नियम लगने के पहले वाक्य का जो अर्थ था वही बाद मे भी लागू हो जाता है। जैसे राज्ञः पुरुषः और राजपुरुषः इन दोनों से राजस्वामिक पुरुष का ही बोध होता है। इसी को पदविधि की गमकता कहते हैं। इसी कारण से कहीं-कहीं असमर्थता होने पर भी समास का नियम लागू होता है जैसे 'असूर्यं पश्या राजदारा' इत्यादि स्थलों में। इसी का नाम 'असमर्थ समास' रखा गया है। जहाँ गमकता नहीं होती वहाँ समास का नियम भी नही लगता। इसी प्रकार की पदविधि पाँच रूपों से की जाती है जिनके[१३] नाम अव्ययीभाव आदि है। अतः समास[१४] एक वृत्ति है। सभी वृत्तियाँ ५ हैं जिन्हें बता दिया गया है। वृत्ति होने के बाद ही प्रातिपदिक संज्ञा या नाम संज्ञा होती है जिसके उपरान्त विभक्ति आती है और विभक्ति लगने पर वह पद हो जाता है। जैसे—

१. दो या अधिक पदों को जोड़ने की इच्छा 'यूप और दारु'
V
२. इनके विग्रह वाक्य बनाले हैं 'यूपाय दारु'
V
३. समास होता—विभक्ति चली आती है
V
४. दोनों जुट जाते हैं 'यूपदारु'
V
५ यह वृत्ति हो जाती है
V

६ प्रातिपदिक संज्ञा होती है
V
७. विभक्ति आती है—यूपदारु
V
८. पद बन जाता है यूपदारु।

इसी क्रम में जहाँ वृत्ति की स्थिति है, ठीक वहीं से उसमें शक्ति आ जाती है। यह वृत्ति दो प्रकार की होती है—अहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था। जहति पदानि स्वार्थं यस्यां=जिसमे पद अपने स्वकीय अर्थ को छोड़ दे तथा समुदायार्थ को ग्रहण करे उसे जहत्स्वार्था[15] कहते है। जैसे 'रथन्तर' शब्द 'शुश्रूषा' शब्द जिनका सामवेद और सेवा अर्थ होता है। न जहति पदानि स्वार्थं यस्यां=जिसमें पद अपने स्वार्थ को न छोड़े परन्तु स्वार्थ के साथ समुदायार्थ को बतावे उसे अजहत्स्वार्था[16] कहते हैं। जैसे राजपुरुष शब्द। इन दोनों दृष्टियों से समुदाय[17] में तो शक्ति होती ही है परन्तु एक में अवयवार्थ का भी भान होता रहता है। इसी कारण समासादि पाँच वृत्तियों में विशिष्ट में ही शक्ति होती है नतु अवयव में। इस प्रकार वैयाकरण एकार्थीभाव रूप शक्ति मानकर इन वृत्तियों में समुदायार्थ में शक्ति की घोषणा करते हैं।

परन्तु नैयायिक और मीमांसकों का कहना है कि समास में शक्ति नहीं होती। समुदाय मे शक्ति के बिना भी 'राजपुरुष' में राज पद का राज सम्बन्धी पुरुष में लक्षणा करके राज सम्बन्धवत् अभिन्नः पुरुषः इत्याकारक बोध से जायमान शक्ति की कल्पना करते है। यही कारण है कि राज्ञ' पदका पदार्थ के एकदेशी होने से ऋद्धस्य आदि विशेषण पदों से युक्त होने पर समास नहीं होता ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः यह असमस्त ही रह जाता है। अतः इनके अनुसार लक्षणा[18] से ही हर जगह काम चलाया जा सकता है।

परन्तु शाब्दिक इसे नहीं मानते। इनका कहना है कि वृत्ति से जब प्रातिपदिक सज्ञा होती है तो उसे अर्थवान्[19] होना चाहिये। समस्तपद[20] अर्थवान् होता न कि प्रत्येक पद। समुदाय मे शक्ति नहीं मानने से समस्त पदों से प्रातिपादिक संज्ञा नहीं होगी, पद नहीं बनेगा और इस तरह 'अपदं न प्रयुञ्जीत' इस भाष्य का खण्डन हो जायगा।

इनका दूसरा जो तर्क है कि पदार्थ[21] को पदार्थ के अवयव से सम्बन्ध नहीं होना चाहिये और इसी कारण ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः यह असमस्त रह जाता है, यह भी निराधार है। कारण कि एकार्थीभाव समास स्वीकार करने पर अवयव निरर्थक हो जाते हैं। यही कारण है कि विशेषणादि पदो से सम्बन्ध सम्भव नहीं है।

फिर लक्षणा करने की कथा जो उन्होंने कही उसका भी कोई आधार दृष्टिपथ में नही आता। कारण यह है कि राज शब्द का सम्बन्धी में लक्षणा करेंगें या सम्बन्ध में। यदि सम्बन्धी मे लक्षणा करेंगें तो शक्ति का निर्णय नहीं होगा। कारण यह है कि सम्बन्धी में लक्षणा करने के लिये विग्रह वाक्य में वृत्ति के अर्थ की समानार्थकता होनी चाहिये। यदि सम्बन्ध में लक्षणा करेंगे तो 'राज सम्बन्ध रूप पुरुष' अर्थ राजपुरुष पद का होगा जो अनन्वित है। अतः लक्षणा से काम नही चलता। इसी हेतु समुदाय में शक्ति माननी चाहिये जिसे हम समासशक्ति कहते हैं। इसी हेतु भर्तृहरि[22] ने भी ऐसा ही कहा है। पङ्क से उत्पन्न इस अर्थ में पङ्कज शब्द कमल बोधक है न कि

शैवाल बोधक, समास में शक्ति मानने से यह उस अर्थ में योग रूढ़ है। शब्द चार प्रकार के हैं—रूढ[23] जैसे रथन्ताम्, योग रूढ़[24] जैसे पङ्कज, यौगिक[25] जैसे पाचिका, यौगिकरूढ़[26] जैसे मण्डप, (मण्ड पीने वाला तथा घर)।

फिर व्यपेक्षा में शक्ति मानने पर कुछ और अनिष्ट होगा। घटपटौ शब्द के घटश्च पटश्च इस विग्रह में जो चकार[27] है उसका अर्थ केवल समुदाय शक्ति द्योतन करना है। यदि समास में शक्ति नहीं होगी तो उसका अर्थ निषेध होना होगा। यदि हम साहित्यावच्छिन्न में शक्ति मानते है तो चकार की आवश्यकता हमें नही पड़ती। इस प्रकार समास में ही शक्ति मानना सर्वथा युक्तियुक्त एवं न्यायोचित है।

समुदाय में समास करने पर शक्ति आती है। समास छः[28] प्रकार के है जिनका विवरण निम्नलिखित है। इसी प्रकार अब समास से होनेवाली उक्ति की (समासोक्ति) विशेषता देखिये। समास (संक्षेप) से जो कथन होता है वह समासोक्ति है। परन्तु संक्षेप से सभी कथन समासोक्ति नही होते। जहाँ प्रकृतार्थ प्रतिपादक वाक्य से अप्रकृतार्थ का अभिधान संक्षेप मे किया जाता है वहीं समासोक्ति होती है। इसी बात को कुछ आलङ्कारिकों ने विविधरूपों से प्रस्तुत किया है। वामन[29] जो रीतिवादी हैं और जो काव्य को अलङ्कार से ग्राह्य मानते हैं, कहते है कि जहाँ[30] उपमेय को अनुक्ति से समान वस्तु का न्यास हो वहाँ समासोक्ति होती है। परन्तु यह समान वस्तु न्यास अर्थात् वाक्यार्थ विन्यास संक्षेप से होना चाहिये। इस प्रकार इनके मत से वह सक्षेप कथन जहाँ उपमेय न हो समासोक्ति होगा। इन्होंने केवल प्रतिवस्तूपमा से यहाँ भेद दिखलाने के हेतु ऐसा कहा क्योंकि प्रतिवस्तूपमा में उपमेय की उक्ति होती है। उदाहरण के हेतु निम्नलिखित पद्य में इन्होंने बताया कि मेरू[31] पर कल्पवृक्ष की शोभा को धिक्कार है प्रत्युत् मरु पर शरीर की स्थिति श्लाघनीय है। यहाँ उपमेय के अकथन से समासोक्ति की मर्यादा अपने अनुसार आपने रखी है। मम्मट ने भी संक्षेप कथन को ही समासोक्ति माना है, परन्तु उनकी परिभाषा में कुछ शब्द व्याख्येय हैं। उनका कहना है कि श्लिष्ट भेदक से जो परोक्ति[32] होगी वहाँ समासोक्ति होती है। यहाँ श्लिष्ट का अर्थ है अनेकार्थक, भेदक का अर्थ है विशेषण (भेदक, प्रकार और विशेषण) पर का अर्थ है अप्रकृत=अप्रकृतव्यवहार तथा उक्ति का अर्थ है कथन=बोद्धव्य विषय अर्थात् व्यञ्जना शक्ति से बोद्धव्य अर्थ का प्रतिपादन। इस प्रकार अनेकार्थक विशेषण पदो से जहाँ पर संक्षेप में अप्रकृत व्यवहार का व्यञ्जना द्वारा कथन हो वहाँ समासोक्ति अलङ्कार होता है। उदाहरण के हेतु सुधा सागरकार के अनुसार किसी वीर पत्नी की उक्ति या महेश्वर के अनुसार विजयी नृपति के प्रति किसी की उक्ति को देखिये।[33] हे वीर तुम्हारे भुजाङ्ग को पाकर जिसे कुछ अनिर्वचनीय आनन्द हुआ वह जयलक्ष्मी तुम्हारे विरह में अति दुर्बल है, प्रसन्न नही दीखती। यहाँ बाहुस्पर्श लाभरूप उल्लासादि साधारण विशेषण वाक्य के आधार पर जयलक्ष्मी वृत्तान्त नायिका वृत्तान्त को बताता है। अतः इस संक्षेपोक्ति को समासोक्ति कहते हैं। श्लेष जब प्रकरणादि से नियमित होता है तो व्यंग्य होता है यदि अनियमित रहा तो वाच्य ही होगा। अतः समासोक्ति वाच्य अर्थ को ही बताती है। अतः यह ध्वनि के अन्तर्गत नहीं आ सकती। समासोक्ति ध्वनि हो सकती है।

विश्वनाथ इससे कुछ भिन्न बताते हैं [34] जब प्रस्तुत में अप्रस्तुत का व्यवहार कार्य लिङ्ग

एवं विशेषण की समता से आरोपित की जाय तो समासोक्ति होता है [३] उदाहरण के हेतु "कमल नयना के कनक कुम्भसमान स्तन के ऊपर के वस्त्र को दूर हटाकर जो तुमने इसके सभी अङ्गों का बलपूर्वक आलिङ्गन किया, अतः हे मलयपवन तुम धन्य हो।" यहाँ कार्य साम्य से पवन में हठ-कामुक के व्यवहार का आरोप है। अतः हठकामुक वैसे ही करता जैसे पवन, यह संक्षेपार्थ रूप समासोक्ति होती है।

इन सभी दृष्टियों से समासोक्ति एक संक्षेप कथन है जिसमें शक्ति समुदायपरक होती है। अतः इसकी शक्ति समासशक्ति की बराबरी करती है। अतः ये दोनों आपस में बहुत मिलते हैं। समासोक्ति कैसे होती है उसको देखिये :—
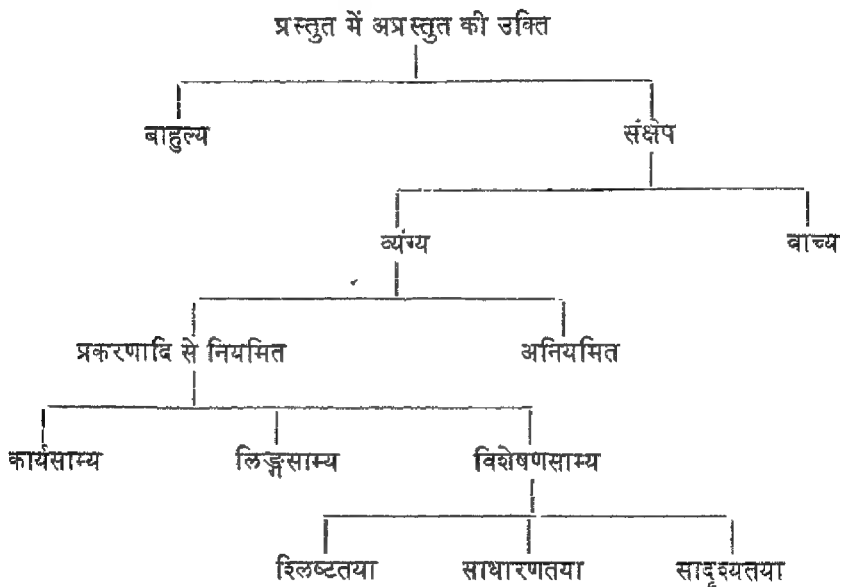
उपर्युक्त सभी कथनों के अनुसार इसमें निम्नलिखित बातें हैं—

१. संक्षेप से अप्रस्तुत की उक्ति
२. उपमेय की अनुक्ति से वाक्यार्थ ज्ञान
३. श्लिष्ट भेदक, लिङ्ग और कार्य साम्य से परोक्ति
४. व्यवहारारोप नतु रूपारोप
५. प्रकरणादि से नियमित व्यंग्य से कार्य, लिङ्ग या विशेषण साम्य का प्रतिपादन।

ये ही कुछ बातें है जो समासोक्ति में हुआ करती हैं। मूलतः समास से उक्ति का वही वैचित्र्य है जो समासशक्ति में हुआ करता है। समास शक्ति विग्रह वाक्य के पदों की स्व-शक्ति से भिन्न है। समासोक्ति भी वाक्यार्थ से भिन्नार्थक है। इसी बात को ध्यान में रखकर दोनों का साथ-साथ प्रतिपादन प्रस्तुत किया गया है। मूलतः दोनों एक ही होते हैं। अतः शाब्दिकों की लक्षणा आदि शक्ति से इतर समस्त पदों की समास शक्ति और आलङ्कारिकों की वाच्य, प्रतीय-मानादि से इतर वाक्यों की समासोक्ति की शक्ति दोनो सम्प्रदायों की महिमा को अक्षुण्ण बनाती

हुई सकल जन-मनरञ्जन करती है। यही कारण है कि आनन्दवर्धन[१६] ने अलङ्कारों में ध्वनि के अन्तर्भाव का खण्डन[१७] प्रस्तुत करते हुए ध्वनि की परिभाषा की कि जहाँ शब्द और अर्थ अपने स्वार्थ को गौण करके काव्य विशेष का प्रतिपादन करे, वहाँ ध्वनि होती है।

अस्तु, जहाँ शक्ति होगी वहीं सामर्थ्य होगा : जहाँ सामर्थ्य होगा वहीं वह पदविधि प्रवृत्त होगी और पदविधि प्रवृत्त होने पर ही वाक्यों के अर्थ प्रस्फुटित होंगे। इस प्रकार शक्ति चाहे ईश्वरेच्छा हो, या न हो, शब्दशास्त्र में या अलङ्कारशास्त्र में अवश्य ही रहनी चाहिये। शक्ति के बिना 'शिव' शब्द भी अशक्त हो जाता। शिव पद से यदि ईकार (शक्ति) हटा दी जाय तो शव-मात्र अवशेष रह जायगा।

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्।
न चेद्देवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।—शङ्कराचार्य

सन्दर्भ-सङ्केत

१. "समर्थः पदविधिः"—अष्टा०, २।१।१

२. "समासे खलु भिन्नैव शक्तिः पङ्कज शब्दवत्
बहूनां वृत्ति धर्माणां वचनैरेव साधने
स्यान्महद्गौरवं तस्मादेकार्थी भाव आश्रितः ॥"—वै० भूषणसार, ३०

३. समसनम् एकत्र निक्षेपः एकस्यां वृत्तौ अन्तर्भावः—तत्वबोधिनी।

४. व्यंग्य व्यञ्जक सम्बन्ध निबन्धनतया ध्वनेः।
वाच्यवाचक चारुत्व हेत्वन्तः पातिता कुतः॥—ध्वन्या०, १ उद्यो०।

५. "काव्यं विना व्याकरणं न राजते।
न काव्यमव्याकरणं विराजते॥"—लोकोक्ति

६. परमलघुमञ्जूषा।

७. वैयाकरण भूषणसार॥

८. कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्त धातुरूपाः पञ्चवृत्तयः—महाभाष्य।

९. परार्थाभिधानं वृत्तिः—महाभाष्य।

१०. वृत्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः।

११. सुप्तिङन्तं पदम् १।४।१४
—'राज्ञः पुरुषः' विग्रह, 'राजपुरुष' वृत्ति, 'राज पुरुषः' पद।

१२. समर्थः पदविधिः २।१।१

१३. द्वन्द्वो द्विगुरपि चाहं मद्गेहे नित्यमव्ययीभावः तत्पुरुष कर्मधारय येनाहंस्याम बहुव्रीहिः-
यह किसी ब्राह्मण पण्डित का कथन है राजा के प्रति—(हे) पुरुष, तत् कर्मधारयः (ऐसा काम करें, कर्मधारय समास) येनाहंस्याम (जिससे हम हो जायें) बहुव्रीहिः बहुत अन्न वाले समास का नाम अहं मैं) द्वन्द्व मैं मरी स्त्री द्विगु ब्राह्मण

मद्गेहे (मेरे घर में) नित्यम् (हमेशा) अव्ययी भावः (व्यय का अभाव है के कारण)।

१४. समास—छः प्रकार के; वृत्ति ५ प्रकार की।

१५. अवयवार्थ निरपेक्षत्वे सति समुदार्थ बोधिकात्वम् जहत्स्वार्थात्वम्—म

१६. अवयवार्थ संवलित समुदायार्थ बोधिकात्वम् अजहत्स्वार्थात्वम्।—मञ

१७. अथैतस्मिन् व्यपेक्षायां सामर्थ्ये योऽसावेकार्थी भावकृतो विशेषः स —महाभाष्य।

१८. "अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्"—अष्टा० १।२।४५

१९. स्वशक्यसम्बन्धो लक्षणा—मञ्जूषा।

२०. अर्थवदिति किं, अर्थवतां समुदायोऽनर्थकः दशदाडिमानि षडपूपाः कुण्डम —महाभाष्य

२१. "पदार्थः पदार्थेनान्वेति ननु पदार्थैकदेशेन"—'स विशेषणानां वृत्तस्य च विशेषणयोगेन'—शब्द०

२२. "समासे खलु भिन्नैव शक्तिः पङ्कजशब्दवत्"—वाक्यपदीयः

२३. अवयवार्थमनपेक्ष्य समुदायशक्तिमात्रेणार्थबोधकत्वम्।

२४. अवयवार्थसंवलित समुदायशक्त्यार्थ बोधकत्वम्।

२५. अवयवशक्त्यैवार्थवाचकत्वम्।

२६. अवयवशक्त्या समुदाय शक्त्या चार्थबोधकत्वम्।—मञ्जूषा।

२७. चकारादि निषेधोऽयं बहुव्युत्पत्ति भञ्जनम्।
कर्तव्यंते न्यायसिद्धं त्वस्माकं तदिति स्थितिः॥"—नागेशः

२८. १. सुपां सुपा—राजपुरुषः (दोनों रूप हैं)
२. सुपांतिङा—पर्य्यभूषयत् (परि सुप् है अभूषयत् तिङ)।
३. सुपां नाम्ना—कुम्भकारः (कुम्भम् सुप है कार नाम)।
४. सुपां धातुना—कटप्रूः (कट सुप् प्रूः धातु)।
५. तिङा तिङा—पिबतखादता (दोनों तिङ्)।
६. तिङा सुबन्तेन—जहिस्तम्बः (जहि तिङ् है स्तम्बः सुप्)।

२९. रीतिरात्मा काव्यस्य काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः—का० सू० वृ अधिकरण।

३०. उपमेयस्यानुक्तौ समानवस्तुन्यासः समासोक्तिः। संक्षेप वचनात्समासोक्तिरित्याख —का० सू० वृ०।

३१. श्लाघ्याध्वस्ताध्वगग्लानेः करीरस्य मरौ स्थितिः।
धिङ् मेरौ कल्पवृक्षानामनुत्पन्नार्थिनां श्रियः॥

३२. परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः—काव्य प्र०

३३. लब्ध्वा तव बाहुस्पर्शं यस्याः स कोऽप्युल्लासः
जयलक्ष्मीस्तव विरहे न खलूज्वला दुर्बला ननु सा॥—काव्य०

३४. समासोक्तिः समयत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः ।
व्यवहार समारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ॥—साहित्यदर्पण

३५. व्याधूय यद्वसनमम्बुजलोचनाया वक्षोजयोः कनककुम्भविलासभाजोः ।
आलिङ्गसि प्रसभमङ्गलमेषमस्या धन्यस्त्वमेव मलयाचल गन्धवाह ॥—सा० द०

३६. "कामनीयकमनतिवर्तमानस्यतस्योक्तारंभकारेष्वन्तर्भावः"—ध्वन्या०

३७. व्यंग्यव्यंजकसम्बन्ध निबन्धनतयाध्वनेः ।
वाच्यवाचक चारुत्व हेत्वन्तः पातिता कृतः—ध्वन्या पृ० ३

तुलसी के गीतकाव्य में छन्द-योजना

वचनदेव कुमार

गोस्वामी तुलसीदास स्वयंसिद्ध महाकवि थे। उनका काव्यशास्त्र एवं छन्दशास्त्र पर भी सहज अधिकार था। कष्टसाधना के द्वारा कवि ने अपनी कविता को छन्दोबद्ध करने की चेष्टा नहीं की। कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होता है। अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छन्द ही में बहने लगा, इसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य और संयम आ जाता है।[1] इस प्रकार उनका समग्र साहित्य छन्दों की मर्यादा से अनुशासित है।

गोस्वामी जी की रचनाओं में विनयपत्रिका और गीतावली को छोड़कर पच्चीस छन्द व्यवहृत हुए है। ये हैं चौपाई, दोहा, सोरठा, चौपैया, डिल्ला, तोमर, हरिगीतिका, त्रिभङ्गी, अनुष्टुप, इन्द्रवज्रा, तोटक, नगरस्वरूपिणी, भुजङ्गप्रयात, मालिनी, रथोद्धता, वसन्ततिलका, वंशस्थ, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, सवैया, छप्पय, घनाक्षरी, झूलना, सोहर तथा बरवै।[2] लेकिन इनमें वर्णिक और मात्रिक दोनों प्रकार के वृत्त हैं। रामचरितमानस में ही नौ संस्कृत वृत्त—अनुष्टुप, शार्दूल विक्रीड़ित, वसन्ततिलका, इन्द्रवज्रा, मालिनी, वंशस्थ, रथोद्धता, नगरस्वरूपिणी, और स्रग्धरा तथा ग्यारह मात्रिक दोहा, सोरठा, चौपाई, हरिगीतिका, चौपैया, त्रिभङ्गी, प्रमाणिका, तोमर, तोटक, भुजङ्गप्रयात, कुल बीस छन्द प्रयुक्त हुए है।[3] लेकिन तुलसी के गीति-काव्य में प्रयुक्त छन्दों की विवेचना नही हुई। छन्दों या वृत्तों को चार भागो मे विभक्त किया जा सकता है—

(१) वैदिक स्वरवृत्त (२) वर्णवृत (३) मात्रावृत्त (४) तालवृत्त

स्वरवृत्त, उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित ध्वनि, विशेषताओं या स्वर के आरोह-अवरोह पर आधारित हैं। वेदों के मन्त्र इसी प्रकार के हैं। वर्णवृत्त मे वर्णो की निश्चित संख्या एवं लघु-गुरु क्रम नियत रहता है। मात्रिक वृत्त में मात्राओं की संख्या तथा स्थान प्रायः निश्चित रहता है। तालवृत्त में मात्राओं या वर्णों की चरणगत संख्या की समानता अपेक्षित नहीं होती—केवल लय और ताल का आधार ग्रहण किया जाता है। ताल सृष्टि के लिये ताल मात्रिक इकाइयों की बलाघातपूर्ण आवृत्ति होती है।[4]

तुलसीदास ने अपने गीतिकाव्य को छोड़कर मात्रिक और वर्णवृत्तों का प्रयोग किया है, जिसका स्पष्टीकरण ऊपर हो चुका है लेकिन उनके गीतिकाव्य में प्रमुखतया ही प्रयुक्त

हुए हैं। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वर्णिक और मात्रिक वृत्त प्रयुक्त हुए है, लेकिन उन पदो मे वृत्त निर्वाह मात्र कवि का अभिप्रेत नहीं, वरन् तालयोजना के द्वारा साङ्गीतिक प्रवाह उत्पन्न करने की चेष्टा ध्येय है।

वस्तुत: यह ध्यातव्य है कि गीति रचना में छन्द और सङ्गीत--इन दो तत्त्वों की आवश्यकता होती है। छन्द का सम्बन्ध ताल से है और सङ्गीत का ताल और स्वर दोनों से। सङ्गीत में स्वर-तत्त्व मुख्य हैं जिसके कारण राग-रागिनियों का वैविध्य मिलता है, लेकिन छन्द (तालवृत्त) में ताल तत्त्व ही अपेक्षित रहता है।

कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है, कविता हमारे प्राणों का सङ्गीत है, छन्द हृत्कम्पन। कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होता है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते है--जिनके बिना वह अपनी ही बन्धनहीनता में अपना प्रवाह, खो बैठती है, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन, कम्पन तथा वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल कलरव भर, उन्हें सजीव बना देते हैं। वाणी की अनियमित साँसें नियन्त्रित हो जातीं, तालयुक्त हो जातीं, उसके स्वरों में प्राणायाम, रोओं में स्फूर्ति आ जाती, राग की असम्बद्ध झङ्कारें एक वृत्त में बँध जातीं, उनमें परिपूर्णता आ जाती है। छन्द-बद्ध शब्द चुम्बक के पार्श्ववर्ती लौह-चूर्ण की तरह, अपने चारों ओर एक आकर्षण-क्षेत्र तैयार कर लेते हैं, उनमें एक प्रकार का सामञ्जस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता, उनमें राग की विद्युत् धारा बहने लगती, उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।[५] पन्त ने उक्त विचार कविता मात्र के लिये व्यक्त किये हैं। गीत में छन्दों का महत्त्व ओर अधिक रहता है।

इस तरह छन्द की अनिवार्यता इन गीतों के लिये ही है। विनयपत्रिका, गीतावली तथा श्रीकृष्णगीतावली के सभी गीत तालबद्ध होकर सङ्गीतोपयोगी सिद्ध होते हैं। कवि ने इन गीतो को सङ्गीत के स्वरताल में बाँधा है। तुलसीदास की छन्द-प्रयुक्ति में उनका छन्द-विवेक प्रशंसनीय है। सुवृत्ततिलककार ने लिखा है कि किसी भी छन्द का चुनाव रस के अनुसार और वर्णो की अनुरूपता में करना चाहिये। वीररस के लिये कवित्त, छप्पय, शार्दूलविक्रीडित आदि ही उपयुक्त है, किन्तु शृङ्गार के लिये सार, सरसी, दोहे तथा मन्दाक्रान्ता आदि छन्द प्रयुक्त होने चाहिये। एक रसानुकूल छन्द इस कथन को उदाहृत करता है—

> साँझ समय रघुवीरपुरी की सोभा आजु बनी
> ललित दीपमालिका बिलोकहि हितकरि अवधधनी
> फटिक भीत सिखरन पर राजति कञ्चन दीप-अनी
> जनु अहिनाथ मिलन आयो मनि सोभित सहसफनी[६]

भगवान राम के वन से लौटने पर अनल-दिवस समाप्त हो गया और आज सम्पूर्ण वायुमण्डल नव उल्लास, नयी उमङ्ग, नये हलचल से पूरित हो उठा है। कवि ने इस अपरिमित आनन्द की अभिव्यक्ति के लिये विष्णुपदी (१६, १०, अन्त में ऽ) का चयन किया।

गोस्वामी जी ने वर्णो की अनुरूपता में भी सवत्र छन्दों का चुनाव किया है दण्डकों मे

कवि ने बड़े बड़ सामाजिक शब्द वाले पदो का प्रयोग किया है ठीक इसके विपरीत सोलह मात्राओ से चौबीस मात्राओ के बीच वाले छन्दो मे मृदु एव सुष्ठु वण प्रयुक्त हुए है। एक पद देख—

राजति राम जानकी जोरी
स्याम सरोज जलद सुन्दर बर, दुलहिनि तड़ित बरन तनु गोरी
व्याह समय सोहति बितान तर, उपमा कहुँ न लहित मति मोरी

आठ-आठ मात्राओं की दो-दो लड़ियों की आवृत्ति से पद की सामान्य पंक्तियाँ बनी हैं। ह्रस्व एवं सानुनासिक वर्णों की संख्या अधिक है। शृङ्गार रस के लिये प्रत्नतिपात (गुरु के बाद लघु) वर्जित है, इसे कवि विस्मृत नही कर सका।

इन गीत-पुस्तकों में आये पद दो प्रकार के हैं—

(१) टेक वाले पद
(२) टेक रहित पद

		टेकवाले	बिनाटेक
(१) कृष्णगीतावली के कुल पद	६१	५१	१०
(२) गीतावली के कुल पद	३२८	,, २७७	,, ५१
(३) विनयपत्रिका के कुल पद	२७९	,, १५२	,, १२७
	६६८	४८०	१८८

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन गीतिकाओं के अधिकांश पद टेकयुक्त हैं जो पदशैली या गेयशैली की रचनाएँ हैं, जिनमें मात्राओं या वर्णों का विधान सङ्गीत को ध्यान में रखकर किया जाता है, लेकिन जो पद टेकयुक्त नहीं भी हैं, वे भी गेय ही हैं और छन्दशास्त्र की तालपद्धति का अनुशासन स्वीकार करते हैं। टेक की पंक्ति में मात्राओं या वर्णों की संख्या एक समान नही वरन् इसमें भी पर्याप्त अन्तर है। न्यूनतम मात्राएँ १४ और अधिकतम मात्राएँ २९ हैं।

पुस्तक	न्यूनतम	अधिकतम
१. श्रीकृष्णगीतावली	१४ मात्राएँ	२५ मात्राएँ
२. गीतावली	१४ मात्राएँ	२९ मात्राएँ
३. विनयपत्रिका	१० मात्राएँ	२९ मात्राएँ

सर्वाधिक पद सोलह मात्राओं की टेक वाले हैं और ऐसे पद कुल टेकवाले पदों के तृतीयांश हैं। बाहुल्य क्रम से पन्द्रह मात्राओं वाली टेक आती है। उपर्युक्त विवरण को उपस्थित करने का अभिप्राय यह है कि इन पदों को किन-किन तालों में बाँधा जा सकता है। पञ्चमात्रिक ताल दादरा, अष्टमात्रिक ताल कहरवा, दशमात्रिकताल, झपताल, द्वादशमात्रिक ताल चौताला, षष्टदशमात्रिकताल त्रिताल या चतुर्दशमात्रिकताल धम्मार में गोस्वामी जी ने त्रिताल-बद्ध होने वाले टेकों का, जो सर्वाधिक प्रचलित हैं—छन्द-विधान किया है।

टेक-गीतों के अनिवार्य तत्त्व हैं वस्तुत इन्हीं टेकों में रहता है

कवि अपने कथ्य के सार संक्षेप को टेक में बाँधता है, उसे अपने अन्तस् में गुनगुनाता है और उसी गुनगुनाहट की परिधि का विस्तार करते-करते सम्पूर्ण पद की काया गढ़ देता है। सिन्धु को बिन्दु में बाँधने का प्रयास यदि टेक है, तो बिन्दु को सिन्धु में बिखराने का कौशल सम्पूर्ण पद-निर्माण। इसलिये गीत की यह आरम्भिक कड़ी हमारे भावोद्वेलन की कितनी अपूर्व क्षमता रखती है, यह निस्सन्दिग्ध है। इसके अभाव में किसी भी गीत—लौकिक या शास्त्रीय—की सङ्गीतात्मकता का निर्वाह सम्भव नहीं।[८] तुलसीदास ने इन गीत ग्रन्थों में टेक की पारिभाषिक पद्धति का ही उपयोग अधिकतर किया है। जैसे—

ऐसो को उदार जगमाही
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाही

लेकिन कहीं-कहीं टेक आरम्भ में नहीं रखकर उन्होंने मध्य में भी टेक रखने की पद्धति अपनायी है। जैसे—

कनक रतनमय पालनो रच्यो मनहुँ सुतहार
बिबिध खिलौना किङ्कनि लागे मञ्जुल मुक्ताहार
रघुकुल-मण्डन राम-लला
जननि उबटि अन्हवाइके मनिभूषण सजि लिये गोद
पौढ़ाए पटु पालने, सिसु निरखि मगन मन मोद
दसरथ नन्दन राम लला।[१]

टेक की प्रथम प्रणाली में कवि का अभीष्ट साङ्गीतिक प्रभाव का समधरातल पर प्रसारण एवं वितरण है, जैसे शरद ज्योत्स्ना शनैः-शनैः अगजग में व्याप्त होकर अमिट तृप्ति दे देती हो, किन्तु द्वितीय प्रणाली में कवि साङ्गीतिक वातावरण में उतार-चढ़ाव उत्पन्न करना चाह रहा हो,—जैसे वह शान्त सरोवर के वक्ष को यदा-कदा ऊर्मिल-लहरिल बना देना चाह रहा हो। गीतों के द्वारा वातावरण-निर्मित का मर्म कोई सङ्गीतज्ञ ही समझ सकता है। टेकयुक्त पदों में कई पद्धतियों का विश्लेषण कर हम देखने का प्रयास कर रहे हैं कि कवि ने छन्द-वैदुष्य का कैसा परिचय दिया है।

रघुपति भगति करत कठिनाई
।।।। ।।। ।।। ।।ऽऽ
कहत सुगम करनी अपार जाने सोइ जेहि बनिआई
।।।। ।। ।।ऽ ।ऽ। ऽऽ ।। ।। ।।ऽऽ
जे जेहि कला कुसल ता कहें सोइ सुलभ सदा सुखकारी
सफरी सनमुख जलप्रवाह, सुरसरी वहे गज भारी

इसमें टेकवाली पंक्ति १६ मात्राओं वाले पादाकुलक छन्द की है तथा अन्तरा की अन्य पक्तियाँ सार छन्द की हैं जिसमें १६ १२ पर यति पड़ती है। बहुत पदों में गोस्वामी जी ने

एक पाद पादाकुलक शृङ्गार या चौपाई का टेक रूप मे रखकर पीछे रूपमाला सार विधाता सरसी, हरिगीतिका आदि के अनेक पाद रखकर गीतिया बनायी है। इस तरह के पद और है। विनय-पत्रिका पद १०१ (पादाकुलक + सार), गीतावली बालकाण्ड ५२ जिसका गणविधान (६ + ४ + ४ +) यति १६, १२ के अनुसार है तथा पादान्त में (ऽऽ) प्रयुक्त हुए हैं।

महरि तिहारे पायँ परों अपनो ब्रज लीजै
। । । । ऽ ऽ ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ ऽ ८ + ८ + ८
सहि देख्यो तुम सो कह्यो, अब नाकहि आई
। । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ । । ऽ । । ऽ ऽ
कौन दिनहि दिन छीजै
ऽ । । । । । । ऽ ऽ ८ + ४ + ४ (अप्रयुक्त)
ग्वालिन तो गोरस सुखी ता बिनु क्यों जीजै
सुत समेत पाउ धारि आपहि भवन मोरे
देखिये जो न पतीजै।
अति अनीति नीकी नहीं अजहू सिख दीजै
तुलसिदास प्रभु सो कहे उर लाइ जसोमति
ऐसी बलि कबहूँ नहि कीजै।[१०]
ऽ ऽ । ।

यह गेय-पद अष्टमात्रिक धुमाली ताल गणों में निबद्ध है। आठ मात्राओं की इकाई की तालयुक्त आवृत्ति द्वारा छान्दस्-सङ्गीत की सृष्टि की गयी है। प्रत्येक तालगण की प्रथम मात्रा बलाघात पूर्ण है। प्रथम पाद में ३ गण हैं, द्वितीय में ५ गण हैं किन्तु द्वितीय गण में वर्ण मात्राएँ ७ ही हैं जबकि ताल मात्राओं की संख्या आठ अपेक्षित है। एक मात्रा की त्रुटि-पूर्ति 'सो' के तीन मात्राकाल तक प्लुत उच्चारण द्वारा की जाती है।

रोला के दो चरण तथा नित छन्द का एक चरण मिलाकर छन्द बना दिया गया है।

प्रायः सभी छन्दशास्त्री यह स्वीकार करते हैं कि गीतिकाव्य के लिये मात्रिक छन्दो का प्रयोग ही वाञ्छनीय है क्योंकि उसमें एक गुरु के स्थान पर दो लघु रखकर ध्वनि-विस्तार का माधुर्य प्राप्त होता है। भक्तिकाल के समस्त पद, साखी, भजन और प्रबन्ध मात्रिक छन्दो मे मिलते हैं। केवल कवितावली, विनयपत्रिका और सूरसागर के कुछ पद वर्णिक आधार पर निर्मित है।[११] विनयपत्रिका के कुछ पद उदाहरण स्वरूप उपस्थित किये जा रहे हैं—

दीनबन्धु ! दूरि किये दीन को न दूसरी सरन।८,८
आपको भले हैं सब आपने को कोऊ कहूँ।८,८
सबको भलो है राम ! रावरो चरन।८;६
पाहन पसु पतंग कोल भील निसिचर। ८,८
काँच ते कृपा निधान किए सुबरन।८, ६

यह गीत अष्टवर्णिक में निबद्ध है वर्णिक तालवृत्त प्रयुक्त करने के लिये निराला

की बड़ी प्रशंसा की गयी है (जुही की कली आदि में)। इससे बहुत पूर्व गोस्वामी जी ने अपने गीतों में इसका सफल प्रयोग किया है, उदाहरण देखें—

मेरो भलो कियो राम अपनी भलाई। ८,६
हौं तो साईं द्रोही पै सेवक हितु साँईं। ८,६
राम सों बडो है कौन मो सों कौन छोटो। ८,६
राम सों खड़ो है कौन मो सों कौन खोटो। ८,६
लोक कहे राम को गुलाम हौं कहावौं। ८,६
एतो बड़ो अपराध मो न मन बावौं। ८,६
पाथ माथ चढ़े तृन तुलसी जो नीचो। ८,६
बोरत न वारि ताहि जानि आप सींचो। ८,६

टेकहीन पदों में दो पद्धतियाँ दृष्टिगोचर होती है—(१) साधारण छन्द (२) दण्डक छन्द।

इन साधारण मात्रिक छन्दों में १ से ३२ मात्राओं तक के पाद रखे जाते हैं और ३२ मात्राओं से अधिक पाद वाले छन्द दण्डक के अन्तर्गत परिगणित किये जाते है। वर्णिक वृत्तों में प्रतिपाद १ से २१ तक वाले छन्द साधारण या जाति छन्द माने जाते हैं। २२ से २६ अक्षर वाले छन्द भी साधारण ही माने जाते हैं जिन्हें सवैया कहते हैं। २६ अक्षर से अधिक रहने पर दण्डक कहे जाते हैं।[१२] विनयपत्रिका और गीतावली में साधारण मात्रिक छन्द बहुत मिलते हैं। हरिगीतिका मात्रिक वृत्त है जिसके प्रत्येक पाद में २८ मात्राएँ होती हैं। यति प्रायः १६, १२ पर पड़ती है।

दियो सुकुल जनम सरीर सुन्दर, हेतु जो फल चारि को
जो पाइ पंडित परम पद, पावत मुरारि पुरारि को
यह भरतखण्ड समीप सुरसरि, थल भलो सङ्गति भली
तेरी कुमति कायर-कलप बल्ली, चहति विष फल फली[१३]

इसी तरह तुलसीदास ने दो नियमित मात्रिक छन्दों का प्रयोग कर अनुच्छेद बन्ध या स्तवक उपस्थित किया है—

सबरी सोइ उठी, फरकत बाम बिलोचन बाहु
सगुन सुहावने सूचत, मुनि मन अगम उछाहु
मुनि मन अगम उर आनन्द, लोचन सजल तनु पुलकावली
तृन पर्नसाल बनाइ, जल भरि कलस, फल चाहन चली
मञ्जुल मनोरथ करति, सुमिरति बिप्र बखानी भली
ज्यों कलप-बेलि सकेलि सुकृत सुफूल फली सुख फली[१४]

इस गीत में दोहा १३ ११ और हरिगीतिका (१६ १२ का अनुक्रम है चार-चरण

दोहा के और चार-चरण हरिगीतिका के मिलाकर आठ चरणों का एक प्रगाथ (Strophe) छन्द बनाया गया है। यह गीत अष्टमात्रिक ताल में सुगमतापूर्वक आबद्ध किया जा सकता है।

इन छन्दों में कहीं-कहीं मात्राओं में ईषत् अन्तर मालूम होगा। डॉ० राजपति दीक्षित ने लिखा है 'गीतावली में दोहा के द्वितीय और चतुर्थ चरणों में दो मात्राएँ बढ़ाकर (बा० १९—१-१६) तथा विनयपत्रिका (१०७, १०९) मे दो मात्राएँ घटाकर नए ढङ्ग के छन्द भी निर्मित किये गये हैं। किन्तु डॉक्टर साहब को यह जानना चाहिये कि दोहा के ये रूपान्तर बड़े प्राचीन हैं। दोहा के अन्य रूपान्तर 'उवदोह्य' (१२,११, १२,११) तथा सन्दोघ्य (१५, ११, १५, ११) कविदर्पणम् में उल्लिखित हैं (२, १६)[15]

जिसे डॉ० साहब नव निर्माण मानते हैं यानी १३, १३, मात्राओं तथा १३, ९ मात्राओं का दोहा, उनका प्रयोग भी तुलसी के बहुत पूर्व हो चुका था।

दोहा १३, १३

नन्द को नन्दन साँवरो, मेरो मन चोरे जाइ
रूप अनूप दिखाइ के, सखि वह औचक गयो आई[16]
टोंचन हारे टोंचिया, दे छाती ऊपरि पाँव
जे तू मूरति सकल है, तब घटन हारे को खाउ[17]

दोहा १३,९

इन नैंनन सों री, मैं मानी हारि
सौर सकुच नहिं मानहिं बहु बारनि भार[18]
बिन दरसन भई बावरी, गुरु धौ दीदार
धरमदास अरजी सुनो, कर धों भवपार[19]

दण्डक-पद्धति के छन्द विनयपत्रिका के प्रारम्भ में हैं जिसका सफल प्रयोग कवि ने गीतियों में किया है। ये दण्डक संस्कृत पद्धति के पद हैं—

जय जय जगजननि देव सुर नर मुनि असुर देवि
भक्ति मुक्ति दायिनि, भयहरण कालिका
मङ्गल मुद सिद्धि सदनि, पर्व शर्वरीश वदनि
ताप तिमिर तरुण तरणि किरण मालिका[20]

इसमें ४४ मात्राएँ हैं (१०, १२, १०, १०, यति)। इस तरह के दण्डक पद और भी बहुत हैं।[21]

तुक—किसी भी छन्द के दो चरणों के अन्त में जब अन्त्यानुप्रास आता है तो उसे तुक कहते हैं। चरण के अन्त में होने के कारण उसे तुकान्त भी कहते हैं। तुक में स्वर और व्यञ्जन दोनों की और आंशिक एकता रहती है [1] छन्द और भाव गुम्फन के लिये तुक भले

अनिवार्य नहीं हों, लेकिन माधुरी और स्वारस्य के अनिवार्य उपकरण के रूप में तुक निर्वाह समीचीन प्रतीत होता है।

तुकान्त के सम्बन्ध में शास्त्रीय विवेचन प्रधानतया भिखारीदास के 'काव्यनिर्णय', रामसहायकृत 'वृत्ततरङ्गिनी' तथा जगन्नाथप्रसाद 'भानु' के 'छन्द प्रभाकर' में उपलब्ध होता है। हम तुक सम्बन्धी उस विस्तार में नहीं जाकर गोस्वामी जी के इन पदों की कुछ तुक प्रणालियों पर दृष्टि केन्द्रित कर रहे हैं। सर्वप्रथम हम देखें कि सम्पूर्ण पद के भिन्न-भिन्न चरण में किस प्रकार तुक मिले हैं।

१.	अब सब साँची कान्ह तिहारी	क१
	जो हम तजीं पाइ गों मोहन गृह आए दै गारी।	क२
	सुसुकि सभीत सकुचि रूखे मुख बातें सकल सँवारी।	क३
	साधु जानि हँसि हृदय लगाए परम प्रीति महतारी।।[२३]	क४
२.	मेरे जान और कछु न गुनिए।	क१
	कुबरी खन कान्ह कही जो मधुप सों।	ख२
	सोई सिख सजनी! सुचित दै सुनिए।।	क३
	काहे को करति दोष, देहि धौं काने को दोष	ग४
	निज नयननि को बयो सब लुनिए।।[२४]	क
३.	ऊधो जू कह्यो तिहारोइ कीबो।	क
	नीके जिय की जानि अपनपौ समुझि सिखावन दीबो।	क
	स्याम बियोगी ब्रज के लोगनि जोग जो जानो।	ख
	तौ सकोच परिहरि पा लागौं परमारथहि बखानो।।।[२५]	ख३
४.	पाहि! पाहि! राम पाहि। रामचन्द्र रामचन्द्र	ख१
	सुजस स्तवन सुनि आयौ हौ सरन।	क२
	दीनबन्धु! दीनता दरिद्र बाहु दाह दोष दुःख	ग३
	दारुन दुसह दर दरप दर न	क४
	तब तब तनु धरि, भूमि भार दूरि करि	घ५
	थापे मुनि सुर साधु आस्रमबरन।।[२६]	क६
	राम लषन सुधि आई बाजै अवध बधाई।	क१
	ललित लगन पत्रिका	ख२
	उपरोहित के कर जनक जनेस पठाई।।	क३
	कन्या भूप विदेह की रूप अधिकाई।	क१
	तासु स्वयंवर सुनि सब आए।	ग२
	देस देस के नृप चतुरंग बनाई।।।।[२७]	क३

इस तरह के सारे पदों में (क, क, क, क) (क ख, क, ग, क) (क, क, ख, ख) (ख, क ग क घ क क ख क क ग क तुक विधान है पञ्चम पदपति द्वितीय पद्पति का

ही प्रवर्धित रूप है सम्पूर्ण गीत साहित्य मे सर्वान्त्य अनुप्रास वाले पद ही अधिक है उसके बाद उन पदो का सख्या है जिनम प्रथम और द्वितीय चरण, तृतीय और चतुथ चरण क्रमश. एक प्रकार के तुक वाले हैं। तुकों का विश्लेषण अन्य प्रकार से भी सम्भव है। इसके प्रमुखतया चार भेद किए जा सकते हैं[२८]—

१—अन्त में (दो गुरु);; गगान्त Spondaic
२—अन्त में (लघुगुरु।); लगान्त—Iambic
३—अन्त में (गुरुलघु);।—गलान्त Trochaic
४—अन्त में (दो लघु)॥—ललान्त Pyrrhic

चारों प्रकार के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

१—गगान्त—तोहि स्याम की सपथ आइ देखु गृह मेरे
जैसी हाल करी यह ढोटा छोटे निपट अनेरे।[२९]
२—लगान्त—गावत गोपला लाल नीके राग नट हैं।
चलि री आली तरनि के तट हैं॥[३०]
३—गलान्त—हरि को ललित बदन निहारु
निपटहि डाँटहि निठुर ज्यों लकुट करते डारु॥[३१]
४—ललान्त—मों कहँ झूठेहु दोष लगावहिं
मैया ! इन्हहिं बानि परगृह की, नाना जुगुति बनावहि॥[३२]

इसके अतिरिक्त इन गीतों में तुलसीदास ने आन्तरिक तुक (Internal rhyming) का निर्वाह भी बड़ी सफलता से किया है। किसी छन्द को अधिकाधिक साङ्गीतिक बनाने के लिये आन्तरिक तुक निर्वाह बड़ा आवश्यक है।[३३]

यति—छन्दशास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से यति पर विचार कर लेना आवश्यक है। जहाँ किसी चरण की एक पदावली से श्वाँस के व्यवधान के कारण पृथक् हो वहाँ यति होती है।[३४] पुन विच्छेद की संज्ञा यति है[३५] या श्रव्य विरामयति है।[३६] उच्चारण सौन्दर्य के लिये कवि ने यति का निर्वाह ठीक से किया है।

आचार्य भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र में बतलाया है कि यति कहाँ होनी चाहिये। उनका कहना है कि अर्थ की समाप्ति के पश्चात्, पद के अन्त में, अथवा श्वाँस के टूटने पर, अथवा पद-वर्ण या समास में शीघ्रता और अर्थ की जटिलता को काकु के द्वारा दूर करने की खातिर या चरण के अन्त में विराम होना चाहिये। यह विराम श्वाँस के कारण से भी विहित है और शेष स्थालों में अर्थ की स्पष्टता के विचार से भी विराम का सम्प्रयोग हो सकता है।[३७]

१—पदान्त यति—आँगन खेलत आनँद कंद, रघुकुल कुमुद सुखद चारु चन्द॥[३८]

२— प्रेम विवस मन, कम्प पुलक तनु, नीरज नयन नीर भरे पिय के।
समुचत कहत, सुमिरि उर उमगत, सील सनेह सुगुनगन तिय के॥[३९]
राम जपु, राम जपु, राम जपु बावरे पाँच मात्राओं के बाद

३—अर्थखण्ड समासोपरान्त यति—

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी—६, ५, ५, ७
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पापपुञ्ज हारी। ११,१२
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो? ११,११
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो॥ १२,१०

गति—गीतिप्रवाह को गति कहते हैं।[53] गीतों के गति-निर्वाह के लिये समकल के बाद समकल तथा विषमकल के बाद विषमकल की व्यवस्था रहनी चाहिये। किन्तु जहाँ कहीं साधारण अक्षर-मात्रा की गणना इसके प्रतिकूल पड़ती है, वहाँ पर तुलसीदास ने पदन्यास के द्वारा उसकी गणना में आवश्यकतानुसार दीर्घ को भी लघु कर लिया है। उदाहरण के लिये यह देखे—

राजत रघुवीर धीर, भञ्जन भव भीर पीर
हरन सकल सरजु तीर, निरखहु सखि सो है[54]

विषमकल के पश्चात् विषमकल तथा समकल के पश्चात समकल की योजना द्वारा कवि ने बड़ी चातुरी से गति-निर्वाह किया है। किन्तु कहीं-कही गति निर्वाह के लिये ह्रस्व को दीर्घ या दीर्घ को ह्रस्व करने की आवश्यकता पड़ी है।

प्रभु प्रताप रवि अहित अमङ्गल अघउलूक तम ताए
किये बिसोक हित कोक कोकनद, लोक सुजस सुभछाए।[55]

ये जो दीर्घ हैं, उसे ह्रस्व करना पड़ेगा।

निष्कर्ष १—छन्द के क्षेत्र में तुलसी की प्रवृत्ति लोकोन्मुखी है। उन्होंने गीतों में उन्हीं मात्रिक छन्दों का सहारा लिया है जो मूलतः लोक प्रचलित ताल-सङ्गीत से उत्पन्न हैं और जिनकी ताल-सङ्गीतात्मक प्रकृति तुलसी के युग तक बनी हुई थी—जैसे सार, सरसी, दोहा आदि छन्द। उन्होंने ऐसे मात्रिक छन्दों को गीतों में प्रयुक्त ही किया जो मूलतः वर्णवृत्तों की उपज हैं और ताल के बन्धन में नहीं बाँधे जा सकते—जैसे गाथा वर्ग के छन्द। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसी ने अपने गेय पदों में छान्दस् प्रेरणा वेदोत्तर शास्त्रीय परम्परा से नहीं ग्रहण की वरन् जनसाधारण के बीच प्रचलित ताल-सङ्गीत से ग्रहण की।

२—तुलसी ने शास्त्रोक्त मात्रिक छन्दों के चरण अपने गीतों में प्रयुक्त किये किन्तु न तो अनुच्छेद गत चरण संख्या और न यति अथवा तुक योजना की दृष्टि से वे शास्त्र-सीमा मे बँधे रहे। उन्होंने स्वच्छन्द रूप से छन्द-मिश्रण, यति योजना और अन्त्यानुप्रास-विधान द्वारा सर्वथा नवीन छान्दस् अनुच्छेदों (New Metrical Stanzas) की योजना की है, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं।

३—फिर भी तुलसी के गीतों में छान्दस्-प्रयोग सर्वथा विशृङ्खल अथवा नियमरहित नहीं है। तुलसी के छन्द प्रयोग के टेक तुक और यति को लेकर कुछ सामान्य नियम भी बताये जा सकते हैं यद्यपि इन नियमो के अपवाद भी कम नहीं

सन्दर्भ-सङ्केत

१. पल्लव की भूमिका—पन्त, पृष्ठ २१
२. तुलसीदास और उनका काव्य—पं० रामनरेश त्रिपाठी, पृष्ठ ३०९
३. तुलसीदास और उनका युग—डॉ० राजपति दीक्षित, पृष्ठ ३४२
४. मध्यकालीन हिन्दी काव्य में प्रयुक्त छन्दों का अध्ययन—डॉ० शिवनन्दन प्रसाद, पृ० १९
५. पल्लव की भूमिका—सुमित्रानन्दन पन्त, पृष्ठ २१।
६. गीतावली, ७, २०
देखिए, विनयपत्रिका ३८वाँ और ३९वाँ पद
गीतावली, १, १०३
७. पद संख्या १, २, ३, १६, १७, २३, २४, २८, ४२, ५५—१०
पद संख्या बालकाण्ड—७, १०, ११, २१, २२, २८, ३०, ३१, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ४१, ४२, ४३, ८०—१७
पद संख्या अयोध्याकाण्ड २७, २८, ३२, ३३, ३९, ४०, ४१, ४३, ४४, ४५, ४७, ४८, ४९, ८०—१४
पद संख्या अरण्यकाण्ड ९, १०, १७—३
पद संख्या सुन्दरकाण्ड ३, ४, ५, ९, १६, १७—६
पद संख्या लङ्काकाण्ड २३—१
पद संख्या उत्तरकाण्ड ७, ११, १२, १९, २०, २१, २२, ३०, ३१, ३२, ३४, ३८—१२ कुल (१४+३+६+१+१२=५१)
पद संख्या—१, २, ६, ७, ८, १०, ११, १२, १३, १४, १६, १७, १९, २२, २३, २५, २६, २७, २८, २९, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३९, ४०, ४१, ४३, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४९, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ५९, ६०, ६१, ६५, ६६, ६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७२, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, १०७, १०८, ११०, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३१, १३३, १३४, १३५, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७, १४८, १४९, १५०, १५१, १५२, १७८, १८०, १८९, १९०, १९२, १९३, १९४, १९५, १९६, १९७, २०३, २०६, २०७, २०८, २२१, २४०, २४६, २४७, २४८, २४९, २५०, २५१, २५८, २५९, २६०, २६१, २६२,—१२७ पद
हरि को ललित बदन निहार—पद संख्या १४
ससि तें सीतल मोको माई री तरनि—पद संख्या ३०
कौन कहाँ ते आये—१, ६३
माधु कोसलपुर सुनि नृप के सुत चारि भए १ ३

रघुपति बिपति दवन—पद सं० २१२
ज्यों ज्यों निकट भयो चहों कृपालु त्यों त्यों दूरि पर्‌यो है—पद सं० २६६
८. १६ मात्राओं की टेक (कृ० गी० २० गीतावली ७२ विनयपत्रिका ४१)
हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठ ३१२
विनय पत्रिका
९. गीतावली १, १९, गीतावली १, २७
विनयपत्रिका—१६७ वाँ पद
हिन्दी छन्द प्रकाश—रघुनन्दन शास्त्री, पृष्ठ ८९
१०. श्रीकृष्ण गीतावली—पद सं० ७
११. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना—डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल
विनयपत्रिका, पद सं० २५७
विनयपत्रिका, पद सं० ७, ७२
१२. हिन्दी छन्द प्रकाश—रघुनन्दन शास्त्री, पृष्ठ ४६
१३. विनय पत्रिका—नागरी प्रचारिणी सभा, पद सं० १३५
१४. गीतावली—अरण्यकाण्ड, पद १७
तुलसीदास और उनका युग,—डॉ० राजपति दीक्षित, पृष्ठ ४१८
१५. मध्यकालीन हिन्दी काव्य में प्रयुक्त मात्रिक छन्दों का विश्लेषणात्मक तथा ऐतिह
अध्ययन,—डॉ० शिवनन्दन प्रसाद, पृष्ठ ५७२
१६. सूरसागर, पद सं० २०६३
१७. कबीर ग्रन्थावली, पद सं० १९८
१८. सूरसागर ३००५, अन्य पद ३०२६, ३२९३
१९. सन्त सुधासार, वियोगी हरि, भाग २, धरनीधरमदास
२०. विनयपत्रिका १६ (१)
२१. विनयपत्रिका—११, १२, २५, २६, २७, २८, २९, ३८, ३९, ४०, ४३, ४
४९, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ५९, ६०, ६१
२२. हिन्दी-साहित्य-कोश, पृष्ठ ३२५
२३. कृष्ण गीतावली—६, इस प्रकार के अन्य पद कृ० गी० ७, ८, ९, १०, ११
१५, १८, गीतावली १, १, १, ४, ७, १, ९। विनयपत्रिका ४, ५, ९२, ९
१००, १४३, १५१, १६६, १६९, १७६, २७५।
२४. कृ० गी० ३७। इस प्रकार के अन्य पद—गी० बाल० ६२, ६५, ६७,
विनय-पत्रिका २५२, २५३, २५४, २५५, २५६, २५७, २५८, २६३, २
२५. कृ० गी० ३५। इस प्रकार के अन्य पद गी० बाल०, २, ८, २८। विनय
९, १५, ६३, ७२, ७८, ८०, ८१, ९२, ९३, ९७, १०२, १०५, १०८,
११० १११ ११३ ११४ ११५ ११६ ११८ ११९ १३८, १४४
१४७ १४९ १५० १६२ १६३ आदि

२६ विनयपत्रिका २४८—अन्य पद २४९ २५० २५१ २५८, २५९

२७. गीतावली, बालकाण्ड १०१।

२८. छन्दः प्रभाकर—जगन्नाथप्रसाद 'भानु', भूमिका, पृष्ठ ८।

२९. कृ० गी० ३, अन्य पद कृ० गी० ६, ७, ९, १०, गी० बा० १, ४, १४, १५, वि० ४, ५, ८, ९, १५, ८७, ८८।

३०. कृ० गी० २० अन्य पद कृ० गी० २३, २४, ३५, गी० बा० ६,७, १८,४५, वि० १८, २०, ३१, ४२, ६६, ७०, ८६।

३१. कृ० गी० १४ अन्य पद० कृ० गी० १५, २२, ५३, ५४; गी० बा० २६, ५१ वि० ४१, १८३, १८४।

३२. कृ० गी० ४, अन्य पद कृ० गी० २१, गी० बा० २४, अ० ३, ५, वि० २१, २४, ८५।

३३. देखिए गी० १, २, ९—वि०

३४. यति विच्छेदः ।९।१। पिंगल छन्द सूत्रम्।

३५. यति विच्छेद संहितः। अ १ : केदार भट्ट : वृत्तरत्नाकर।

३६. श्रव्यो विरामो यतिः।१।१५ : छन्दोऽनुशासनः हेमचन्द्र।

३७. समाप्तेऽर्थे पदेवापि तथा प्राणवशेन वा।१३८
पद वर्ण समासे च, द्रुत वह्वर्थ सङ्कुटे।
कार्यो विरामः पादान्ते तथा प्राणवशेन वा।
शेष मर्थवशेनैव विरामं सम्प्रयोजयेत्॥
—अध्याय १७, नाट्यशास्त्र, गायकवाड़ संस्करण।

३८. गीतावली, १, २८।

३९. वही, ४, १।

४०. हिन्दी छन्द प्रकाश—रघुनन्दन शास्त्री, पृष्ठ ४१।

४१. गीतावली ७, ४।

४२. वही, ६, २२।

प्राचीन भारतीय आभूषण

•

गोकुलचन्द्र जैन

सोमदेव सूरि कृत यशस्तिलक दशवीं शताब्दी का एक महत्वपूर्ण संस्कृत ग्रन्थ है। इसमे प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की बहुविध सामग्री विद्यमान है। यशस्तिलक मे सोमदेव ने शरीर के विभिन्न अङ्गों मे धारण किये जाने वाले आभूषणों का भी उल्लेख किया है। किसी अन्य साहित्यिक ग्रन्थ में एक साथ इतनी सामग्री उपलब्ध नहीं होती। सामग्री का विवेचन इस प्रकार है :—

शिरोभूषण में किरीट, मौलि, पट्ट, मुकुट और कोटीरकोटि। कर्णाभरणों मे अवतंस, कर्णपूर, कर्णिका, कर्णोत्पल तथा कुण्डल। गले के आभूषणों में एकावली कण्ठिका, मौक्तिक-दाम, तथा हारयष्टि, भुजा के आभूषणों में कङ्कण और वलय, अंगुली के आभूषण में उर्मिका, कमर के आभूषणों में काञ्ची, मेखला, रसना तथा सारसना और पैर के आभूषणों में मञ्जीर, हिञ्जीरक, नूपुर, हंसक तथा तुलाकोटि के उल्लेख हैं। इनका विशेष विवरण निम्न प्रकार है—

शिरोभूषण

शिरोभूषण में किरीट, मौलि, पट्ट, मुकुट और कोटीरकोटि का उल्लेख है।

किरीट—किरीट का दो बार उल्लेख हुआ है। मङ्गलपद्य में कहा गया है कि जिनेन्द्रदेव के चरणकमलों का प्रतिविम्ब नमस्कार करते हुए इन्द्र के किरीट में पड़ रहा था।[1] दूसरे प्रसङ्ग मे मुनिमनोहर नामक मेखला को अटवी रूप लक्ष्मी के किरीट की शोभा के समान कहा गया है।[2]

मौलि—मौलि का उल्लेख भी दो बार हुआ है। राजपुर के उद्यान को महादेव जी के मौलि के समान कहा गया है।[3] एक प्रसङ्ग में राजाओं के मौलियों का उल्लेख है। पाञ्चाल नरेश के दूत से यशोधर का एक योद्धा कहता है कि यदि कोई राजा हठ के कारण अपना मौलि यशोधर के चरणों में नहीं झुकाता तो युद्ध में उसका सिर काट लूँगा।[4]

पट्ट—पट्टबन्ध उत्सव के प्रसङ्ग में पट्ट का उल्लेख है।[5] पट्ट सिर पर बाँधने का एक विशेष प्रकार का आभूषण था। यह प्रायः सोने का होता था जो उष्णीष या शिरो-भूषा के ऊपर बांधा जाता था। केवल राजा, युवराज, राजमहिषी और सेनापति को पट्ट बाँधने का अधिकार था बृहत्संहिता ४८ २ ४ मे पाँच प्रकार के पट्टों की लम्बाई चौड़ाई और शिखा

का विवरण दिया गया है पाँचवे प्रकार का पट्ट प्रसाद-पटट कहलाता था जो सम्राट की कृपा से किसी को भी प्राप्त हो सकता था।[७]

मुकुट---एक प्रसङ्ग में महासामन्तों के मुकुटों का उल्लेख है।[८]

कर्णाभूषण

कर्ण के आभूषणों में अवतंस, कर्णपूर, कर्णिका, कर्णोत्पल, तथा कुण्डल का उल्लेख है।

अवतंस---अवतंस प्रायः पल्लवों अथवा पुष्पों का बनता था। यशस्तिलक में विभिन्न प्रसङ्गों पर पल्लव, चम्पक, कचनार, उत्पल, कुवलय तथा कैरव के बने अवतंसों के उल्लेख आये हैं। एक स्थान पर रत्नावतंस का भी उल्लेख है।

पल्लवावतंस--- प्रमदवन की क्रीडाओं के प्रसङ्ग में सोमदेव ने लिखा है कि कपोलो पर आये हुए स्वेद-बिन्दु रूप मञ्जरी-जाल से कामिनियों के अवतंस-पल्लव पुष्पित से हो गये थे।[८] यन्त्र-धारागृह के प्रसङ्ग में भी अवतंस किसलय का उल्लेख है।[९]

पुष्पावतंस--- राजपुर की कामिनियाँ कचनार के विकसित हुए पुष्पों में चम्पा के पुष्प लगा कर अवतंस बनाती थीं।[१०] उत्पल के अवतंसों को छूती हुई कुन्तल वल्लरी ऐसी प्रतीत होती थी जैसे उत्पल पर भौंरे बैठे हों।[११] कानों में पहने हुए अवतंसोत्पल विरह की अवस्था में मुकुलित हो जाते थे।[१२] मुनिकुमार युगल कोई अलङ्कार नहीं पहने थे, फिर भी कानों पर पड़ रही अपने नीले नेत्रों की कान्ति से ऐसे लगते थे मानो कुवलय के अवतंस पहने हों।[१३] एक स्थान पर उत्प्रेक्षालङ्कार में कुवलयावतंस का उल्लेख है।[१४] यन्त्रधारागृह में यन्त्रस्त्री को भी कुवलय के अवतंस पहनाये गये थे।[१५] उत्पल और कुवलय दोनों नीले कमल के नाम हैं;[१६] इसलिए उपर्युक्त काव्यालङ्कारों के साथ उनका सामञ्जस्य बैठाया गया है।

कैरव[१७] अर्थात् सफेद कमल के अवतंस का भी एक प्रसङ्ग में उल्लेख है।[१८] यहाँ सोमदेव ने अवतंस के लिये केवल वतंस शब्द का प्रयोग किया है [अव और अपि उपसर्गों का भागुरि के अनुसार अकार का लोप हो जाता है।] एक स्थान पर रत्नावतंस का उल्लेख है---धर्मरत्नावतंस., स० पू० ५६६।

अवतंस पहनने का रिवाज सम्भवतः कर्णाटक तथा बंगाल में अधिक था, क्योंकि सोमदेव ने एक प्रसङ्ग पर मारिदत्त राजा को कर्णाटक देश की कामिनियों के लिए अवतंस के समान[१९] तथा एक अन्य प्रसङ्ग में बंगाल की वनिताओं के कर्णावतंसों की तरह बताया है।[२०] एक स्थान पर (५९७, पू०) पद्मावतंस का उल्लेख है---पद्मावतंसरमणीरमणीयसारः।

कर्णपूर--- कर्णपूर का उल्लेख चार बार हुआ है। एक स्थान पर स्त्रियों के मधुरालाप को कर्णपूर के समान बताया है।[२१] दूसरे प्रसङ्ग में सूक्त गीतामृत को कर्णपूर की तरह स्वीकृत करते हुए लिखा है।[२२] यन्त्रधारा गृह के प्रसङ्ग में मरुए के फूल से बने कर्णपूर का उल्लेख है।[२३] यशोधर को दशार्ण देश की स्त्रियों के लिए कर्णपूर कहा है (सं० पू० पृ० ५६८)। संस्कृत टीकाकार ने कर्णपूर का पर्याय कर्णावतंस दिया है।[२४] कर्णपूर के लिये देशी भाषा में कनफूल शब्द चलता है (कर्णपूर > कर्णफूल > कनफूल)। कर्णपूर या कनफूल विकसित पुष्प या कुड्मल के आकार के बनते हैं

कर्णिका— यशस्तिलक में कर्णिका का केवल एक बार उल्लेख हुआ है। द्रामिल सैनिक अपने लम्बे-लम्बे कानों में सोने की कर्णिका पहने थे।[25] सोमदेव ने लिखा है कि सुवर्ण कर्णिकाओं से निकलने वाली किरणें कपोलों पर पड़ती थीं, जिससे लगता था कि कपोलों पर फूले हुए कनेर के उपवन की रचना की गयी है।[26] इस उपमा से लगता है कि कर्णिका कनेर के फूल के आकार की बनती होगी, अमरकोषकार ने कर्णिका और तालपत्र को पर्याय माना है।[27] क्षीरस्वामी ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि कर्णिका तालपत्र की तरह सोने की भी बनती थी।[28] इससे स्पष्ट है कि कर्णिका तालपत्र की तरह गोल आभूषण था, आजकल जिसे तरोना कहते हैं।

कर्णोत्पल— ऊपर उत्पल के अवतंसों का वर्णन किया गया है, कर्णोत्पल का भी एक बार उल्लेख है। सोमदेव ने यौधेय की कृषक वधुओं के नेत्रों की उपमा विकसित हुए कर्णोत्पल से दी है।[29] कर्णोत्पल सम्भवतः उत्पल अर्थात् नीले कमल का बनता था अथवा उसी आकार का सोने आदि का भी बनता हो। अजन्ता के चित्रों में भी कर्णोत्पल का चित्राङ्कन हुआ है।[30]

कुण्डल— यशस्तिलक मे कुण्डल का उल्लेख तीन बार हुआ है। शङ्खनक कपास के कुड्मल की आकृति के लाख के बने कुण्डल पहने था।[31] स्वयं सम्राट् यशोधर ने चन्द्रकान्ता के बने कुण्डल धारण किये थे।[32] मुनिकुमार युगल बिना आभूषणों के ही अपने कपोलों की कान्ति से ऐसे लगते थे मानों कानों में कुण्डल धारण किये हों।[33]

शङ्खनक के 'तूलिनीकुसुमकुड्मल' के उल्लेख से लगता है कि कुण्डल कई आकृतियों के बनते होंगे क्योंकि अमरकोषकार के अनुसार कुण्डल कान को लपेट कर पहना जाता था।[34] कहीं-कहीं अभी भी ऐसे कुण्डलों का रिवाज है। इनमें गोल बाली तथा सोने की इकहरी लड़ी लगी होती है। लड़ी को कानों के चारों ओर लपेट लिया जाता है तथा बाली को कान के निचले हिस्से मे छिद्र करके पहना जाता है। अजन्ता की कला में इस तरह के कुण्डल का चित्राङ्कन देखा जाता है।[35]

गले के आभूषण

गले के आभूषणों में एकावली, कण्ठिका, मौक्तिकदाम, हार तथा हारयष्टि के उल्लेख हैं।

एकावली— सम्राट् यशोधर के पिता जब सन्यस्त होने लगे तो उन्होंने अपने गले से एकावली निकाल कर यशोधर के गले में बाँध दी।[36] यह एकावली उज्ज्वल मोती को मध्यमणी के रूप में लगा कर बनाई गयी थी (तारतरलमुक्ताफलम् २८८)।[37] सोमदेव ने इसे समस्त पृथ्वीमण्डल को वश में करने के लिये आदेशमाला के समान कहा है (अखिलमहीतलमवश्यवक्ता-देशमालामिव २८८)।

इस विशेषण को समझने के लिये किञ्चित् पृष्ठभूमि की आवश्यकता है। वास्तव में यह विशेषण अपने साथ एक परम्परा लिये है। गुप्तयुग से ही विशिष्ट आभूषणों के बारे में तरह-तरह की किंवदन्तियाँ प्रचलित हो गयी थीं। बाण ने एकावली के विषय में एक मनोरञ्जक प्रसङ्ग दिया है।

ने हर्ष को एकावली के सम्बन्ध में एक रहस्यपूर्ण बात बताई नागपति

चन्द्रमा ने यौवन के उन्माद में बृहस्पति की स्त्री तारा का अपहरण किया और स्वर्ग से भाग कर उसके साथ इधर-उधर घूमता रहा। देवताओं के समझाने-बुझाने से उसने तारा को तो बृहस्पति को वापिस कर दिया, किन्तु उसके विरह में जलता रहा। एक बार उदयाचल से उठते हुए उसने समुद्र के विमल जल में पड़ी अपनी परछाईं देखी और काम भाव से तारा के मुख का स्मरण करके विलाप करने लगा। समुद्र में इसके जो आँसू गिरे उन्हें सीपियाँ पी गयीं और उनके भीतर सुन्दर मोती बन गये। उन मोतियों को पाताल में वासुकि नाग ने किसी तरह प्राप्त किया और उन मुक्ताफलों को गूँथकर एकावली बनाई, जिसका नाम मन्दाकिनी रखा। सब औषधियों के अधिपति सोम के प्रभाव से वह अत्यन्त विषघ्नी है और हिमरूपी अमृत से उत्पन्न होने के कारण सन्ताप-हारिणी है। इसलिये विष ज्वालाओं को शान्त करने के लिये वासुकि सदा उसे पहने रहता था। कुछ समय बाद ऐसा हुआ कि नागलोग भिक्षु नागार्जुन को पाताल में ले गये और वहाँ नागार्जुन ने वासुकि से उस माला को माँग कर प्राप्त कर लिया। रसातल से बाहर आकर नागार्जुन ने मन्दाकिनी नामक वह एकावली माला अपने मित्र त्रिसमुद्राधिपति सातवाहन नाम के राजा को प्रदान की और वही माला शिष्य-परम्परा द्वारा हमारे हाथ में आई[३८]"—(हर्ष० २५१)।

सोमदेव के समय तक सम्भवतया ऐसी मान्यताएँ चलती रही होंगी जिसे सोमदेव ने सङ्केत-मात्र से कह दिया।

एकावली मोतियों की इकहरी माला को कहते थे।[३९] गुप्तकालीन शिल्प की मूर्तियों और चित्रों में इन्द्रनील की मध्यगुरिया सहित मोतियों की एकावली बराबर पाई जाती है।[४०]

कण्ठिका—कण्ठिका का यशस्तिलक में दो बार उल्लेख हुआ है। शङ्खनक ने अनेक तरह की जड़ें मन्त्रित करके लपेटी हुई कण्ठिका पहन रखी थी।[४१] दाक्षिणात्य सैनिक अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र की बनी तीन लड़ियों की कण्ठिकाएँ पहने थे।[४२]

ग्रीष्मऋतु की भयङ्कर धूपरूपी अग्नि के सम्पर्क से नायिकाओं के मौक्तिकहार फूटे जा रहे थे—(तीव्रातपातंकपावकसम्पर्कस्फुटन्मौक्तिकविरहिणीहृदयहारे, सं० पू० ५२२)।

हार—हार का उल्लेख यशस्तिलक में सात बार हुआ है। राजपुर की स्त्रियाँ उदारहार पहनती थीं।[४३] पाण्ड्यदेश का राजा सम्राट् यशोधर को प्राभृत में देने के मुक्ताफल के मध्यमणि वाला हार ले कर उपस्थित हुआ।[४४] यहाँ सम्भवतया हार से प्रयोजन एकावली से है। वैतालिकों ने तारहारस्तनी स्त्रियों के साथ क्रीडा करने की यशोधर महाराज से प्रार्थना की।[४५] तारोत्तरल हारों की कान्ति से चन्द्रमा का प्रकाश सान्द्र (घना) हो गया।[४६] विरहणी नायिका की कँपकपी से हार चञ्चल हो उठे।[४७] किसी विरहिणी नायिका ने बन्धु-बान्धवों के कहने से आभूषण पहने भी तो कटि की करधनी गले में और गले का हार नितम्ब में पहन लिया।[४८] यशोधर ने सभामण्डप में जाने के पूर्व मुक्ताफल का हार पहना—गुणवतांवरहर, कण्ठे गृहीत्वा मुक्ताफलभूषणानि।

हारयष्टि—हारयष्टि का उल्लेख दो बार हुआ है। गुल्फों तक लटकती हुई हारयष्टियों से टूट-टूट कर गिरने वाले मोतियों का समूह ऐसा लगता था मानों होने वाली संग्राम विजय पर देवाङ्गनाओं ने पुष्प बिखेर दिये हों।[४९] यन्त्रधारागृह के प्रसङ्ग में मोगरक के कुड्मलों की बनी हारयष्टि का उल्लेख है।[५०]

मौक्तिकदाम में का उल्लेख केवल एक बार हुआ है

विरहणी नायिका के गले की मौक्तिकमाला चूर-चूर हो गयी।[51] यन्त्रधारागृह के प्रसङ्ग मे कुसुमदाम का भी उल्लेख है—(शिरीषकुसुमदामसन्दानित, ५३२ पू०)।

भुजा के आभूषण—

यशस्तिलक में भुजा के आभूषणों में अङ्गद और केयूर का उल्लेख है।

अङ्गद—अङ्गद का उल्लेख केवल एक बार हुआ है। शङ्खनक बेर के बराबर बडा त्रपुष मणि (सीसे के गुरिया) लगा कर बनाया गया अङ्गद पहने था।[52]

केयूर:—केयूर का उल्लेख यशस्तिलक में दो बार हुआ है। राजपुर की स्त्रियां लाल-कमल में श्वेत कमल लगा कर केयूर बना लेती थी।[53] विरह की अवस्था में स्त्रियाँ बाहु का केयूर पैरों में और पैरों के नूपुर बाहु में पहन लेती थीं।[54]

अङ्गद और केयूर में क्या अन्तर था, इसका पता यशस्तिलक से नहीं चलता। अमरकोष-कार ने दोनों को पर्याय माना है।[55] क्षीरस्वामी ने केयूर और अङ्गद की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि "के बाहुशीर्षे यौति केयूरम्"[56]—अर्थात् जो भुजा के ऊपरी छोर को सुशोभित करे उसे केयूर कहते हैं तथा जो 'अङ्गम्दयते अङ्गदम्" अर्थात् जो अङ्ग को निर्पीडित करे वह अङ्गद है। पुरुष और स्त्री दोनों अङ्गद पहनते थे।

कलाई के आभूषण

कङ्कण और वलय—कलाई के आभूषणों में कङ्कण और वलय के उल्लेख हैं। स्त्री और पुरुष दोनों कङ्कण पहनते थे। यौधेय के कृषकों की स्त्रियाँ सोने के कङ्कण पहनती थी।[57] यशोधर ने भी सभामण्डप में आने के पूर्व कङ्कण पहने (निधाय करे कङ्कणालङ्कारम्) एक अन्य प्रसङ्ग मे यशोधर को 'कनककङ्कणवर्ष' कहा है—(सं० पू० पृ० ५६६)।

वलय का उल्लेख तीन बार हुआ है। शङ्खनक, भैंसे के सींग के बने वलय पहने था।[58] एक स्थान पर यशस्तिलक का नायक यशोधर कहता है कि टूटे दिल को स्फटिक के फूटे हुए वलय की तरह कौन मूर्ख धारण किये रहेगा।[59] यन्त्रधारागृह के प्रसङ्ग में मृणाल के बने वलय का उल्लेख है।[60] चतुर्थ उच्छ्वास में दाँत के बने वलय का उल्लेख है—(दन्तवलयेन उत० ६१)।

अङ्गुलियों के आभूषण

ऊर्मिका—यशस्तिलक में अँगूठी के लिये ऊर्मिका तथा अङ्गुलीयक शब्द आये है। यशोधर, रत्न की बनी ऊर्मिका पहने था।[62] ऊर्मि का अर्थ भँवर है। भँवर के समान कई चक्कर लगा कर बनाई गयी अँगूठी को ऊर्मिका कहते होंगे। बुन्देलखण्ड में आजकल इसे छला कहा जाता है। ऊर्मिका का उल्लेख बाणभट्ट ने भी किया है। सावित्री दाहिने हाथ मे शङ्ख की बनी ऊर्मिका पहने थी।[63]

अङ्गुलीयक—अङ्गुलीयक का केवल एक बार उल्लेख आया है। चौथे आश्वास मे एक गडरिया अङ्गुलीयक के बदले में बकरा देने के लिये तैयार है[64]

कटि के आभूषण

कटि के आभषणो के लिये काञ्ची मेखला रसना सारसना तथा घर्घरमालिका नाम आये हैं।

काञ्ची—काञ्ची का उल्लेख तीन बार हुआ है। यौधेय की कृषक वधुएँ खेतों में काम करने जाते समय अपनी ढीली-ढाली काञ्ची को बार-बार हाथ से ऊपर चढ़ाती थीं, जिससे उनका उरूप्रदेश दिख जाता था।[६४] विपरीत रति में काञ्ची जोर-जोर से हिलने लगती थी।[६५] विरहणी नायिका कमर की काञ्ची गले में डाल लेती थीं।[६६] तीनों प्रसङ्गों पर श्रुतदेव ने काञ्ची का पर्याय कटि-मेखला दिया है। एक स्थान पर काञ्ची के लिये काञ्चिका भी कहा गया है-- (हसावलीकाञ्चिका, सं० पू० ५०३)।

मेखला—मेखला का उल्लेख पाँच बार हुआ है। मुखर मणिमेखलाओं के शब्द से पञ्चमालप्ति नामक राग द्विगुणित हो गया था।[६७] यहाँ श्रुतदेव ने मेखला का पर्याय रसना दिया है।[६८] उसी प्रसङ्ग में सिन्दुवार की माला लगा कर केले के कोमल पत्तों की बनाई गयी मेखला (कदली प्रवालमेखला) का उल्लेख है।[६९] शङ्खनक ने मथानी की पुरानी रस्सी को मेखला की तरह पहन रखा था। (पुराणतरमन्दीरमेखला, सं० पू० ३९८)। समुद्र की उपमा मेखला से दी है--(महीं च रत्नाकरवारिमेखलाम्, उत्त० ८७)।

रसना—रसना का उल्लेख केवल एक बार हुआ है। वह भी हारयष्टि के वर्णन मे प्रसङ्गवश आ गया है। सोमदेव ने आरसना अर्थात् रसना पर्यन्त लटकती हुई हारयष्टि का वर्णन किया है--(आरसनहारयष्टिभिः, ५५५ पू०)। यहाँ श्रुदेव ने आरसन का अर्थ आगलफलम्ब किया है।

अमरकोषकार ने इन तीनों को पर्याय माना है।[७०] सोमदेव के उपर्युक्त उल्लेखों से लगता है कि काञ्ची एक लड़ी की ढीली-ढाली करधनी होना चाहिये तथा मेखला छुद्र-घण्टिकाएँ लगी हुई। उपर्युक्त उल्लेखो में काञ्ची के लिये काञ्चिगुण पद आया है तथा मेखला के लिये मुखरमणि-मेखला कहा गया है। एक स्थान पर मेखला को मणिकिङ्कणी युक्त बताया भी गया है।[७१]

सारसना—चण्डमारी के लिये कहा गया है कि मृतक प्राणियों की आतें ही उसकी सारसना थी--(सारसना मृतकान्त्रच्छेदाः, १५० पू०)।

घर्घरमालिका—यशोधर जब बालक था, तो खेल-खेल में आया की कमर से घर्घरमालिका को निकाल कर पैरों में बाँध लेता था।[७२]

पाँव के आभूषण

पाँव के आभूषण के लिए यशस्तिलक में पाँच शब्द आये हैं--१—मञ्जीर २—हिञ्जीरक ३—नूपुर ४—तुलाकोटि ५—हंसक

मञ्जीर—सोमदेव ने मणिमञ्जीर का उल्लेख किया है।[७३] मञ्जीर को पहन कर चलने से जो मधुर शब्द होते थे उन्हें शिञ्जित कहते थे मञ्जीर रस्सी सहित मथानी को कहते हैं इसी

की समानता के कारण इसका नाम मञ्जीर पड़ा। मञ्जीर वजन में हलके तथा भीतर से पोले होते थे। उनमें भीतर बहुमूल्य मोती आदि भरे जाते थे। माड़वार में अभी भी इस तरह के नूपुर पहनने का रिवाज है—(शिवराम०, अमरावती०, पृ० ११४)

हिञ्जीरक—हिञ्जीरक का उल्लेख केवल एक बार हुआ है। विरहणी स्त्रियाँ हाथ का केयूर चरण में तथा चरण का हिञ्जीरक हाथ में पहन लेती थीं।[७४] हिञ्जीरक का पर्याय श्रुतदेव ने नूपुर दिया है। यशस्तिलक से इस पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता।

नूपुर—नूपुर का भी एक बार ही उल्लेख हुआ है।[७५] श्रुतदेव ने यहाँ नुपुर का पर्याय मञ्जीर दिया है।[७६] नूपुर पहन कर चलने से मधुर शब्द होता था। नूपुर जल्दी पहने या उतारे जा सकते थे। अमरावती की कला में एक दासी थाली में नूपुर लिये प्रतीक्षा करती खड़ी है कि जैसे ही अलक्तक मण्डन समाप्त हो, वह नूपुर पहनाये।

तुलाकोटि—तुलाकोटि का दो बार उल्लेख है। तुलाकोटि के शब्द को सोमदेव ने 'क्वणित' कहा है।[७७] वारविलासिनियों के वाचाल तुलाकोटियों के क्वणित क्रीड़ा-हंस आकुलित हो रहे थे।[७८] एक स्थान पर नीलमणि के बने तुलाकोटि का उल्लेख है—(नीलोपल तुलाकोटिषु, उत्त० ९)।

तुलाकोटि का उल्लेख बाण ने भी हर्षचरित (पृ० १६३) में किया है। तुलाकोटि आन्ध्र में प्रचलित नूपुरों से मेल खाते हैं। इनके दोनों किनारे तराजू की डण्डी के समान किञ्चित् घनाकार होते हैं—(शिवराम०, अमरावती०, पृ० ११४)।

हंसक—हंसक का उल्लेख भी एक बार ही हुआ है। शङ्खनक काँसे के बने हंसक (कंस-हंसक) पहने था।[७९] हंसक के शब्द को सोमदेव ने रसित कहा है।[८०]

हंसक से तात्पर्य उन बाँके नूपुरों से था जिनकी आकृति गोल न हो कर बाँकी मुड़ी हुई होती थी। आजकल इन्हें बाँक कहते हैं।[८१]

सन्दर्भ-सङ्केत

१. त्रिविष्टपाधीशकिरीटोदयकोटिषु, सं० पू०, पृ० २
२. किरीटोच्छ्रयः इवाटवीलक्ष्म्याः, सं० पू०, पृ० १३२
३. ईशानमौलिमिव, सं० पू०, पृ० ९५
४. हठविलुठितमौलि, सं० पू०, पृ० ५५६
५. पट्टबन्धविवाहोत्सवाय, पृ० २८८; पट्टबन्धोत्सवोपकरणसम्भारः, पृ० २८९
६. अग्रवाल—हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १५५
७. महासामन्तमुकुटमाणिक्य, सं० पू०, पृ० ३३६
८. कपोलतलोल्लसत्स्वेदजलमञ्जरीजालकुसुमितावतंसपल्लवाभिः, सं० पू०, पृ० ३८
९. वल्लभावतंसकिसलयाश्वासम्, वही, पृ० ५३१
१० , वही ११६

११ कुन्तलकल्लरी वही १२१

१२. मुकुलित कर्णावतंसोत्पलैः, वही, ६१२

१३. अनवतंसमपि कुवलयितकर्णम्, वही, १५९

१४. कुवलयैः कर्णावतंसोदयैः, वही, ६११

१५. कुवलयेनावतंसार्पितेन, वही, ५३१

१६. स्यादुत्पलं कुवलयमथनीलाम्बुजन्म च, अमरकोष, १-९-३७

१७. सिते कुमुदकैरवे, वही, १-९-३८

१८. कैरवांसैर्वतंसैः, सं० पू०, पृ० ६१०

१९. कर्णाटयुवतिसुरतावतंस, वही, १८०

२०. बंगीयवनिता श्रवणावतंस, वही, १८८

२१. स्मरसारालापकर्णपूरैः, सं० पू०, पृ० २४

२२. सूक्तगीतामृतरसं कर्णपूरतां नयन्, सं० पू० पृ० ३६६

२३. कर्णपूरमरुबकोद्भेदसुन्दरगण्डमण्डलाभिः, वही, ५३२

२४. कर्णपूरं कर्णाभरणं श्रवणावतंसः, सं० टी०, पृ० २४

२५. अतिप्रलम्बश्रवणदेशदोलायमानस्फारसुवर्णकर्णिका, वही, ४६३

२६. सुवर्णकर्णिकाकिरणकोटिकमनीयमुखमण्डलतयाकपोलस्थलीपरिकल्पितप्र कर्णिकारकाननमिव, वही, ४६३

२७. कर्णिका तालपत्रं स्यात्---अमरकोष २, ६, १०३

२८. कर्णालङ्कारस्तालपत्रवत्सौवर्णोऽपि, वही, सं० टी० ।

२९. विकचकर्णोत्पलस्पर्धितरलेक्षणाः, वही, १५

३०. औधकृत अजन्ता, फलक ३३। उद्धृत, डॉ० अग्रवाल---हर्षचरित०, फलक २०, चित्र ७८

३१. तूलिनीकुसुमकुड्मलाकृतिजातुषोत्कर्षितकर्णकुण्डलः, सं० पू०, पृ० ३९८

३२. चन्द्रकान्तकुण्डलाभ्यामलङ्कृतश्रवणः, वही, ३६७

३३. कपोलकान्तिकुण्डलितमुखमण्डलम्, वही, १५९

३४. कुण्डलं कर्णवेष्टनम्---अमरकोष, २, ६, १०३

३५. औधकृत अजन्ता फलक ३३; अग्रवाल---हर्षचरित : एक सांस्कृति फलक २०, चित्र ७८

३६. आदाय स्वकीयानकण्डदेशात्---एकावली बबन्ध, यश०, सं० पू०, पृ

३७. तरलोहारमध्यगः---अमरकोष, २, ६, १५५

३८. डॉ० अग्रवाल---हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १०७

३९. एकावल्येकयष्टिका---अमरकोष, २, ६, १०६

४०. डॉ० अग्रवाल---हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० फलक २४ चित्र ९२

४१ सं० पू०

४२. किम्मीरमणि विनिर्मितत्रिशरकण्ठिकम्, सं० पू०, पृ० ४६२
४३. उदारहार निर्झरोचित—सं० पू० २४, उदारा अतिमनोहरा, सं० टी०।
४४. तरलगुलिकहारप्राभृतव्यग्रहस्तः, वही, ४६९
४५. तारहारस्तनीनाम्, वही, ५३४
४६. हारैस्तारोतरलरुचिभिः, वही, ६१०
४७. उत्तारहारतरलं स्तनमण्डलं च, वही, ६१६
४८. कण्ठे काञ्चिगुणोऽर्पितः परिहितः हारो नितम्बस्थले, वही, ६१८
४९. आपतन्मुक्ताफलप्रकराभिरारसनहारयष्टिभिरागाभिजन्यजयसमयावसरसुरसुकरविकीर्णकुसुमवर्षमिव, सं० पू० ५५५
५०. विचकिलमुकुलपरिकल्पितहारयष्टिभिः, सं० पू०, पृ० ५३२
५१. कण्ठे मौक्तिकदामभिः प्रदलितम्, सं० पू० ६१३
५२. कुवलीफलस्थूलत्रापुषमणिविनिर्मिताङ्गद, सं० पू० ३९८
५३. सौगन्धिकानुबद्धकमलकेयूरपर्यायिणा, सं० पू० १०६
५४. केयूरं चरणे धृतं विरचितं हस्ते च हिञ्जीरकं, सं० पू० ६१७
५५. केयूरमङ्गदं तुल्ये—अमरकोष, २, ६, १०७
५६. वही, सं० टी०।
५७. कनकमयकङ्कणा—गोपिकाः, सं० पू० १५
५८. गवलवलयावखण्डनः, सं० पू०, पृ० ३९८। गवलवलयानां महिषशृङ्गकट सं० टी०।
५९. को नु खलु विघटितं चेतः स्फटिकवलयमिवमुधापि संधातुमर्हति, उत्त०, पृ०
६०. मृणालवलयालङ्कृतकलाचीदेशाभिः, सं० पू०, पृ० ५३२
६१. सरत्नोर्मिकाभरणः, सं० पू०, पृ० ३६७
६२. कम्बुनिर्मितोर्म्मिका, हर्षचरित, पृ० १०
६३. प्रसादीकरोत्यङ्गुलीयकम्, उत्त०१३१।
६४. काञ्चिकोल्लासवशदर्शिनोरुस्थलाः, सं० पू० १५
६५. पुरुषरतनियोगव्यग्रकाञ्चीगुणानाम्, वही, ५३७
६६. कण्ठे काञ्चिगुणोऽर्पितम्, ६१७
६७. मुखरमणिमेखलाजालवाचालितपञ्चमालिप्तिः, सं० पू० १००
६८. मेखलाजालानि रसनासमूहाः, सं० टी०, वही, १००
६९. सिन्धुवारसरसुन्दरकदलीप्रवालमेखलेन, वही, १०६
७०. स्त्रीकट्यां मेखला काञ्ची सप्तकी रशना तथा—अमरकोष, २, ६, १०८
७१. मेखलामणिकिङ्किणीजालवदनेषु, उत्त० ९
७२. मुक्त्वा घर्घरमालिकां कटितटाद्बध्वा च तां पादयोः— सं० पू० पृ० २३४
७३ रमणीमणिमञ्जीर शिञ्जित—सं० पू०. पृ० ३५ः झणझणायमानमणि शिञ्जित—वही १०१

७४ केयूर परम घृत विरचित हस्ते च हिञ्जीरकम स० पू० पृ० ६१७

७५. यत्रालिती नूपुरौ, स० पू०, पृ० १२६

७६. नूपुरौ मञ्जीरौ, सं० टी०।

७७. वाचालतुलाकोटिक्वणिताकुलितविनोदवारलम्—सं० पू० ३४५

७८. देखिए, उद्धरण ७७

७९. कंसहंसकर सितवाचालचरण— सं० पू०, पृ० ३९९

८०. देखिए, उद्धरण ७९

८१. अग्रवाल—हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ६७, फलक ९, चित्र ३८

पञ्चतन्त्र—अर्थ, रूपान्तर और महत्व

शङ्करदत्त ओझा

संसार के साहित्य में कुछ ही ऐसे ग्रन्थ हैं जो इतने व्यापक और महत्वपूर्ण हुए जितना कि संस्कृत का अमरग्रन्थ पञ्चतन्त्र हुआ। डॉ० विण्टरनिट्ज के शब्दों में "बाइबिल के बाद पञ्चतन्त्र ही ऐसा ग्रन्थ है जो संसार में इतना व्यापक प्रभाव डाल सका।" आज योरोप एवं दक्षिणी-पश्चिमी एशिया के साहित्य में पञ्चतन्त्र ने अपना अमिट स्थान बना लिया है। इसकी कथाएँ इन महाद्वीपों के साहित्य एवं जन-जीवन में समा गयी हैं। इसका जीता जागता प्रमाण यही है कि दक्षिणी-पश्चिमी एशिया में जावा से लेकर उत्तर-पश्चिम में आइसलैण्ड तक फैली हुई साठ भिन्न-भिन्न भाषाओं एवं बोलियों में पञ्चतन्त्र के अनुवाद आज पाये जाते हैं।

पञ्चतन्त्र का अर्थ—पञ्चतन्त्र के अनेक संस्करणों-रूपान्तरों में इसे शास्त्र' कहा गया है और इसके विभिन्न खण्डों को तन्त्र के नाम से पुकारा गया है। उदाहरणार्थ इसके खण्डों के अन्त मे ये वाक्य मिलते हैं—'मित्रभेदं नाम प्रथमं तन्त्रम् अथवा काकोलूकीयम् नाम तृतीयम् तन्त्रम्।' इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पञ्चतन्त्र शब्द का अर्थ 'पाँच आख्यानों-पुस्तकों की समवेत रचना'। कुछ विद्वानो ने तन्त्र का अर्थ 'खण्ड' लगाया है और कुछ ने 'चालबाजी'। सन् १९०४ ई० में डॉ० हर्टेल ने पञ्चतन्त्र का काश्मीरी संस्करण प्रकाशित किया था जिसका नाम 'तन्त्राख्यायिका' या 'तन्त्राख्यायिकम्' था। नेपाली रूपान्तर में इसका नाम तन्त्राख्यान है। डॉ० हर्टेल के मत में तन्त्राख्यान नामकरण पञ्चाख्यान 'पञ्चतन्त्र' या 'तन्त्राख्यायिका' आदि नामकरणों की अपेक्षा अधिक मौलिक है। 'तन्त्राख्यान' अथवा 'तन्त्राख्यायिका' का तात्पर्य उस मार्गदर्शक कथासूत्र या पंक्ति से है जो मापदण्ड का कार्य करे—अर्थात् वह कथा जिसका पर्यवसान शिक्षाप्रद हो। डॉ० हर्टेल के अनुसार इन नामों का आधार कथावस्तु (Subject Matter) पर आधारित था जब कि 'पञ्चतन्त्र' 'पञ्चाख्यानक' नाम उस ग्रन्थ के वाह्यरूप (Outer Form) का निर्देश करते हैं। प्रसिद्ध विद्वान् याकोबी ने डॉ० हर्टेल के इस मत का खण्डन किया। उन्होंने कहा कि तन्त्र का अर्थ-तन्त्राख्यायिका' में पुस्तक (ग्रन्थ का एक खण्ड) ही है। इसका अर्थ 'सूत्र' या 'पंक्ति' लगाना कदापि समीचीन नही है। अतः याकोबी ने डॉ० हर्टेल के मत को अङ्गीकार नहीं किया, क्योंकि वह टिकाऊ नहीं था। प्रोफेसर एफ० डब्ल्यू० टॉमस (जे० आर० ए० एस० १९०७ ७३२) की राय में तन्त्राख्यायिका का अर्थ है—आख्यायिका के रूप में प्रामाणिक

नीतिपरक पाठ (Text) तथा पञ्चतन्त्र का अर्थ है—पाँच पुस्तकों (खण्डों) में वर्णित प्रामाणिक (नीतिपरक) पाठ (Text)। प्रसिद्ध विद्वान् एफ० लाकोटे ने तन्त्राख्यायिका का अर्थ 'कथाओं' की पुस्तक किया है। 'तन्त्र' का अर्थ प्रोफेसर विण्टरनित्ज, टॉमस और इजर्टन ने 'पुस्तक' (खण्ड) के रूप में किया है जब कि डॉ० हर्टेल 'तन्त्र' से 'चाल-चालाकी' का तात्पर्य समझते हैं।

'तन्त्र' का 'पुस्तक' (खण्डविशेष) अर्थ वस्तुतः पञ्चतन्त्र मात्र के साथ उचित प्रतीत होता है, तन्त्राख्यायिका के साथ यह उचित नहीं लगता। इसलिये यह अर्थ विद्वानों को ग्राह्य न हो पाया। तन्त्र शब्द का 'चालबाजी' अर्थ करने से एक बड़ी कठिनाई हमारे सामने आती है और वह यह है कि ऐसा अर्थ करने मे हमें कोई आप्त-प्रमाण नहीं मिलता। व्याकरण हमें तन्त्र का 'चालबाजी' अर्थ नहीं देता। अतः यह अर्थ स्वीकार्य नहीं हुआ। दक्षिणी भारत की तमिल, तैलगू तथा कन्नड भाषाओं में इस शब्द का अर्थ अवश्य ही 'चाल' (Trick) है, किन्तु यह प्रकरण यहाँ अप्राकरणिक है। उसका कारण यह है कि संस्कृत के अनेक शब्दों के अर्थों में दक्षिणी भाषाओं में महान् परिवर्तन देखा जाता है। उदाहरणार्थ संस्कृत के 'निर्वाण' शब्द का अर्थ दक्षिण की भाषाओं में 'नग्न' है। संस्कृत के 'संसार' शब्द का अर्थ वहाँ 'परिवार' या 'पत्नी' है। 'उचित' शब्द का अर्थ कन्नड एवं तैलगू में 'कुछ नहीं' (gratis) है, तथा 'पूज्य' का अर्थ अंग्रेजी (Cipher) शब्द का अर्थ देता है।

मौलिक नाम—प्रोफेसर इजर्टन के अनुसार इस ग्रन्थ का मूलभूत नाम 'पञ्चतन्त्र' था, किन्तु डॉ० हर्टेल के अनुसार इसका मौलिक नाम 'तन्त्राख्यायिका' था। 'पञ्चतन्त्र', 'तन्त्राख्यायिका' तथा 'तन्त्राख्यायिक' आदि शीर्षकों के अतिरिक्त हमें 'पञ्चाख्यानक' शीर्षक पर भी विचार करना होगा क्योंकि पूर्णभद्र ने अपने ग्रन्थ को 'पञ्चतन्त्रापरनामकं पञ्चाख्यानकं नीतिशास्त्रम्' कह कर पुकारा है। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पञ्चतन्त्रशीर्षक अन्य नामों में से ही एक था। याकोबी का कथन है कि क्या इससे यह व्यक्त नहीं होता है कि मूलभूत नाम 'पञ्चतन्त्राख्यान' था और बाद में 'तन्त्राख्यायिका' इस नाम से इसलिये प्रसिद्ध हुई क्योंकि यह एक 'कथा' थी और इसके खण्डों को "तन्त्र" के नाम से पुकारा गया, उच्छ्वास के नाम से नहीं।

डॉ० हर्टेल ने इस आलोचना का उत्तर निम्न ढङ्ग से दिया है:—'तन्त्राख्यायिक', 'तन्त्राख्यान' और 'पञ्चतन्त्र' आदि शब्दों में 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग केवल आकस्मिक नहीं है, किन्तु यह शब्द इन शीर्षकों में इसलिये विद्यमान रहा कि यह मूलभूत नाम का एक अङ्ग अवश्य रहा होगा। इसलिए "तन्त्र" शब्द का महत्व उक्त तीनों शीर्षकों में एक-सा होना आवश्यक है। डॉ० हर्टेल ने ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जिससे 'तन्त्र' राजनीति का पर्यायवाची सिद्ध किया और यह कहा कि तन्त्र शब्द 'तन्त्राख्यायिक' में राजनीति या राजनीतिशास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उन्होंने यह भी कहा कि राजनीति शब्द अंग्रेजी के (Politic) की अपेक्षा अधिक व्यापक है और इसमें 'नीति' का पूरा अर्थ समाविष्ट है। डॉ० हर्टेल ने सारांश यह निकाला कि इस ग्रन्थ के नामों में प्रयुक्त 'तन्त्र' शब्द 'नीति' का अर्थ देता है जिसकी विस्तृत व्याख्या उन्होंने इस प्रकार की है—'नीति का अर्थ है जीवन में विवेकपूर्वक कार्य करना', 'चालाकी पटुता धृष्टता' अतएव उनके अनुसार का अर्थ है उपदेशों की वह पुस्तक

जिसमें चालबाजी से सम्बद्ध कहानयाँ हों,' एवं पञ्चतन्त्र का अर्थ है, "पाँच चालों (Tricks) वाला शास्त्र।"

डॉ० विण्टरनिट्ज के अनुसार 'तन्त्राख्यायिका' का अर्थ है, "वह कथा जो किसी सिद्धान्त या शिक्षा का उल्लेख करे या जो उससे सम्बद्ध हो।" (A story that contains or relates to a doctrine or a lesson) और नपुंसक-लिङ्ग में प्रयुक्त 'तन्त्राख्यायिकम्' शब्द का (जिसके बाद नीति शास्त्रम् शब्द जोड़ा जाता है) अर्थ है "शासन की कला को सिखाने वाला ग्रन्थ, जो यह बतलाता है कि जीवन में विवेकपूर्ण ढङ्ग से कैसे रहा जाता है तथा जो शिक्षाप्रद कथाओं से युक्त हो", अपने ग्रन्थ हिस्ट्री ऑव् इण्डियन लिट्रेचर में डॉ० विण्टरनिट्ज ने इसकी व्याख्या निम्न ढङ्ग से की है। "राज्यशासन की कला का वह ग्रन्थ जिस में पाँच भाग या पुस्तकें हो" (The manual of the art of Government that consists of Five sections or books).

डॉ० वेंकट सुब्बिया के मत में पञ्चतन्त्राख्यान का अर्थ है "कथाओं के रूप में पाँच तन्त्र" अर्थात् कहानियों के रूप में पाँच तन्त्रों के सिद्धान्तों का विश्लेषण। यहाँ 'तन्त्र' का केवल अर्थ है एक वैज्ञानिक कृति शास्त्र (Scientific work)। अतएव मौलिक पञ्चतन्त्र का अर्थ है "पाच वैज्ञानिक कृतियाँ (शास्त्र) जो कथा के माध्यम से कही गई हों।" जैसा कि कथामुख तथा इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय से विदित होता है कि यह ग्रन्थ पूर्णतः अर्थशास्त्र से सम्बद्ध है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उपर्युक्त शीर्षक से निर्दिष्ट पाँच वैज्ञानिक कृतियाँ (शास्त्र) अवश्यमेव पाँच भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा लिखे हुए अर्थशास्त्र पर आधारित ग्रन्थ है, क्योंकि इस विज्ञान पर (अर्थशास्त्र पर) लिखने वाले आचार्यों के नाम जैसा कि 'तन्त्राख्यायिक' में आया है, ये है—बृहस्पति, शुक्र, पराशर, व्यास, मनु, एवं चाणक्य आदि। परम्परागत प्रयोगों के आधार पर डॉ० हर्टेल का कथन है कि तन्त्र का वही अर्थ है जो अर्थशास्त्र का। उन्होंने निम्नाङ्कित उद्धरणों की ओर सङ्केत किया है :—

(अ) **मालविकाग्निमित्र**—अमात्य—शास्त्रदृष्टमाह देव:।

अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकृतिष्वरूढमूलत्वात्।
नवसंरोपणशिथिलास्तरुरिव सुकरः समुद्धर्तुम्॥

राजा—तेन ह्यवितथं **तन्त्रकारवचनम्**।

(ब) **मुद्राराक्षस**—जाणन्ति तन्तजुत्ति[3] आदि (अङ्क २)

(स) **दशकुमारचरित्र**—येऽपि मन्त्रकर्कशास्तन्त्रकर्तारः शुक्राङ्गिरसविशालाक्षबाहुदन्तिपुत्रपराशर प्रभृयस्तैः किमरिषड्वर्गोजितः।

किन्तु इस पर श्री वेंकट सुब्बिया की आपत्ति यह है कि ये उद्धरण तन्त्र और अर्थशास्त्र को पर्यायवाची सिद्ध करने में सफल नहीं होते। उनका कहना है कि तन्त्र का यह अर्थ समाज के वर्ग-विशेष ने निर्धारित किया था—वह वर्ग जो राजा तथा उसके मन्त्रियों के मध्य उठता-बैठता था। तन्त्र का अर्थ ठीक उसी तरह प्रसिद्ध हुआ जैसे 'सिद्धान्त' शब्द का अर्थ ज्योतिषियों में "ज्योतिष का ग्रन्थ है।" हम देखते हैं कि ज्योतिष की पुस्तक 'पञ्चसिद्धान्तिका' का अर्थ "निर्णायक प्रमाणों पर आधारित पाँच पाठ्य पुस्तक' नहीं है किन्तु का अर्थ है पाँ

ज्योतिषशास्त्र के वे ग्रन्थ जो सिद्धान्त के नाम से विख्यात है उसी तरह प० एसा ग्रन्थ था जिसमे कथाओ के रूप मे किन्ही पाच वज्ञानिक कृतिया शास्त्रा के सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं हुआ अपितु जिसमें अर्थशास्त्र या नीतिशास्त्र पर आधारित पाँच ग्रन्थो के सिद्धान्तो का प्रतिपादन हुआ। पञ्चतन्त्राख्यान एक ऐसा ग्रन्थ था जिसका सम्बन्ध अर्थशास्त्र से उसी प्रकार का था जैसे पञ्चसिद्धान्तिका का ज्योतिष-शास्त्र से। पञ्चतन्त्राख्यान में पाँच खण्ड (पुस्तकें तन्त्र) थे। यह ग्रन्थ अर्थशास्त्र पर आधारित पाँच खण्डों का सम्मिलित नामकरण है और हर खण्ड मे अर्थशास्त्र का एक विषय वर्णित था। इन खण्डों के अन्त में 'इति प्रथमं तन्त्रम्। इति द्वितीय तन्त्रम्।' लिखा हुआ है। लेखक ने प्रत्येक तन्त्र के प्रतिपाद्य विषय (Subject Matter) का उल्लेख नहीं किया। श्री वेंकट सुब्बिया ने उन विषयों का साम्य बतलाने का प्रयास किया जो पञ्चतन्त्र के तीन तन्त्रों (खण्डों के आधार थे)। उनके कथनानुसार अविश्वास[*] वह शीर्षक है जिसे पञ्च-तन्त्राख्यान के लेखक ने एक तन्त्र (तृतीय) के लिये दिया है। उनका यह भी कहना है कि सम्भवतः लेखक ने शेष तीन खण्डों के शीर्षक भेद, वचन, मित्रलाभ (या मित्रकार्य) तथा परीक्षा (अथवा इसका पर्यायवाची) रखे थे। साथ-साथ यह भी प्रत्यक्ष रूप से ज्ञात है कि अविश्वास वाले खण्ड में ही सिद्धान्त कहे गये थे जिनका प्रतिपादन बृहस्पति ने अर्थशास्त्र के ऊपर आधारित अपनी रचना में किया है। श्री सुब्बिया का कथन यहाँ दिया जा रहा है:—

"It is certain that अविश्वास is the title which the author of the पञ्चतन्त्राख्यानक gave to one of the books (Book III) and it is very probable that the titles given by him to the other four books were भेद, वचन, मित्रलाभ (मित्र-कार्य) and परीक्षा (or its synonym). It is also evident that in the book on अविश्वास the author has expounded the cardinal doctrine taught by बृहस्पति in his work on Arthasastra."

अर्थशास्त्र में भी भारद्वाज ने राजनीतिक दाँवपेचों का प्रतिनिधित्व किया है। महाभारत में (१; १५३ एवं २२; १४०) इस प्राचीन उपदेष्टा (भारद्वाज) ने हमारे सम्मुख बडी पटुता से वञ्चना एवं राजनीतिक दुष्टनीति का एक मिश्रण बनाकर उपस्थित किया है। श्री सुब्बिया के मतानुसार इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि पञ्चाख्यानक" के लेखक ने 'लब्ध-प्रणाश' (खण्ड) का नाम "वचन" रक्खा था और उसने इसमें उन छल-कपट, दुर्नीति एवं धोखेबाजी आदि के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जो कि भारद्वाज के उपदेशों के मुख्य विषय थे।

मित्रप्राप्ति की शिक्षा शुक्र' (उशनस्) ने दी थी। अतएव सुहृल्लाभ या मित्र प्राप्ति नामक खण्ड उनके ग्रन्थ पर आधारित था। श्री वेंकट सुब्बिया ने अन्त में निम्न-निष्कर्ष निकाले हैं:—

(१) पञ्चतन्त्र ग्रन्थ का मौलिक नाम पञ्चतन्त्राख्यान था।

(२) इस ग्रन्थ का ' " नाम इसलिये रक्खा गया था कि उसके पाँच खण्डों के प्रत्येक खण्ड मे अर्थशास्त्र पर आधारित बृहस्पति शुक्र भार्गव तथा दो अन्य

लेखकों (जिन के नाम अब तक अज्ञात हैं) के द्वारा प्रतिपादित सभी मुख्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन कथा के माध्यम से हुआ था।

(३) शीर्षक में आये हुए 'तन्त्र' शब्द का अर्थ है "अर्थशास्त्र पर आधारित ग्रन्थ"।

(४) 'पञ्चतन्त्र' का अर्थ है "कथा के माध्यम से कहे गये अर्थशास्त्र पर पाँच ग्रन्थ (खण्ड)"।

'पञ्चतन्त्र' नामकरण पर इतना विचार कर लेने के बाद हमें इसके रूपान्तरों में मिलने वाले इङ्गितों पर भी ध्यान देना चाहिये। पञ्चतन्त्र के दक्षिण भारतीय रूपान्तर में 'पञ्चतन्त्र' नाम ही सदा आता है। नेपाली रूपान्तर में भी केवल पञ्चतन्त्र का नाम प्रयुक्त हुआ। हितोपदेश के लेखक ने तो स्पष्ट शब्दों में पञ्चतन्त्र का अनुग्रह स्वीकार किया है। दोनों जैनी रूपान्तरों ने पञ्चाख्यानक या 'पञ्चाख्यान' को ही अपना शीर्षक बनाया है। काश्मीरी रूपान्तर भी 'पञ्चाख्यायिका' के नाम से प्रसिद्ध है। एक काश्मीरी उपरूपान्तर में भी पञ्चतन्त्र नाम आया है। इस प्रकार इसके सभी रूपान्तरों में चाहे आधा ही नाम क्यों न आया हो, पञ्चतन्त्र का नाम आया है। इन शीर्षकों में पञ्च या 'तन्त्र' दोनों में से एक तो सर्वत्र लगा है। इन सब इङ्गितों से निस्सन्देह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थ का मौलिक नाम 'पञ्चतन्त्र' ही था। प्रोफेसर कीथ भी इसी मत से सहमत हैं। उन्हें 'पञ्चतन्त्र' के अर्थ पर ही सन्देह रह जाता है। उनके शब्दों मे—"The name of the original was almost certainly Pañcatantra, but the sense of the term is uncertain; does Tantra merely mean book or does it indicate trick, specimen of sharp conduct, or didactic or authoritative treatise ?"

'तन्त्र' शब्द के ऊपर पर्याप्त विचार हो गया है। अतएव अब निम्न पंक्तियों में पञ्चतन्त्र के वाह्य-देशीय रूपान्तरों का परिचय दिया जायेगा।

पञ्चतन्त्र के रूपान्तर—ईसा की छठीं शताब्दी में फारस के प्रसिद्ध शासक खुसरान नौशेखाँ के राज्याश्रय में बर्जो नामक हकीम ने भारत की यात्रा की और यहाँ से वापस जाते समय लगभग ५५० ई० में भारतीय पण्डितों की सहायता से कुछ भारतीय कथाओं का अनुवाद अपनी भाषा पह्लवी में करके वह अपने देश ले गया था। उसकी रचना का प्रथम एवं प्रमुख भाग पञ्चतन्त्र का रूपान्तर था। पञ्चतन्त्र के इस पह्लवी रूपान्तर में बर्जो ने महाभारत तथा अन्य भारतीय कथाओं के अनेक स्थलों को भी जोड़ दिया। बर्जो ने इन कथाओं को एक क्रम में बाँधने का प्रयास नहीं किया। वे कथाएँ पञ्चतन्त्र के अन्त में बाहर से ले जाकर नत्थी-सी कर दी गयी हैं। इस प्रकार उस परिवर्द्धित ग्रन्थ का नाम बर्जो ने सम्भवत: "करटक और दमनक" रक्खा। वस्तुत: बर्जो के इन दो नामों के पह्लवी रूपान्तर में अपना शीर्षक रक्खा था।

दुर्भाग्यवश बर्जो का यह पह्लवी रूपान्तर अब लुप्त-सा हो गया है। किन्तु इसके ठीक बाद ही उसके दो अन्य अनुवाद किये गये। उनमें से एक ने पञ्चतन्त्र के व्यक्तित्व को पञ्चतन्त्र के भारतीय रूप के पहुँचने के शताब्दियों पूर्व ही यूरोप में फैला दिया, उसे सुप्रसिद्ध कर दिया।

छठीं शताब्दी में ही बर्जो के कुछ दशकों के बाद उक्त दो रूपान्तरों में से एक रूपान्तर का निर्माण 'बद' नामक व्यक्ति ने सीरीयायी भाषा में किया था। इस सीरियायी रूपान्तर का कोई अनुवाद आगे न हो सका और यह विस्मृति के गर्भ में लुप्त-सा हो गया था अकस्मात् १९

वीं शताब्दी के मध्यकाल मे जा कर इस का फिर पता चला तब से लेकर जर्मनी के विद्वानो ने दो बार इसका सम्पादन किया और जर्मनी भाषा मे इसका अनुवाद किया। इस रूपान्तर की यद्यपि एकमात्र अधूरी और अपूर्ण पाण्डुलिपि मिलती है, परन्तु इसका महान् ऐतिहासिक मूल्य है क्योंकि इससे पह्लवी रूपान्तर पर अत्यधिक प्रकाश पड़ता है। आपाततः इसे देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह अरबी की अपेक्षा पह्लवी रूपान्तर के बहुत अधिक समीप है।

पह्लवी का दूसरा रूपान्तर अब्दुल्ला इब्न अल-मोकाफ़ा ने आठवीं शताब्दी मे अरबी भाषा में किया। इसका शीर्षक "कलिलह् व दिम्नह्" है जो कि "करटक और दमनक," के पह्लवी नाम का अरबी नामान्तर है। इसमें सम्भवतः बर्ज़ो की सम्पूर्ण रचना शामिल है। रूपान्तरकार अब्दुल्ला ने अपने मन से अपनी पुस्तक के प्रारम्भ मे एक प्रस्तावना जोड़ दिया तथा अन्य बहुत सी कहानियाँ भी उसमें जोड़ दीं जिनमें से कई तो उनकी अपनी कल्पना की सूझ थी। इस प्रकार यह ग्रन्थ समस्त अरबी-साहित्य की सर्वाधिक प्रचलित एवं प्रख्यात रचनाओं में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसकी अगणित पाण्डुलिपियाँ हैं जिनका बारम्बार सम्पादन व मुद्रण हुआ है। दुर्भाग्यवश अब तक इसका कोई समीक्षापूर्ण सम्पादन[८] नहीं प्रकाशित हुआ है।

अठारहवीं शताब्दी के पहले योरोप और एशिया में पञ्चतन्त्र का ऐसा कोई अनुवाद नही था जो साक्षात् या परोक्ष किसी भी ढङ्ग से अरबी रूपान्तर "कलिलह् व दिम्नह्" पर आधारित न रहा हो। इस ग्रन्थ की ख्याति बहुत काल तक अरबी भाषा-भाषी जगत् में गूँजती रही। अरबी अनुवाद से निकले हुए कुछ महत्वपूर्ण रूपान्तरों का उल्लेख यहाँ संक्षेप में किया जायेगा:—

(१) एक अन्य सीरियायी रूपान्तर ईसा की दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ। इसका अंग्रेजी भाषा में अनुवाद 'Fables of Bidpai' के नाम से Keith Faleoner द्वारा केम्ब्रिज में १८८५ ई० में निकला।

(२) ग्यारहवीं शताब्दी में (Symeon Seth) द्वारा ग्रीक में एक अनुवाद हुआ। पञ्चतन्त्र के रूपान्तरों में योरोप का यह सबसे प्राचीन-रूपान्तर है। इसी ग्रीक अनुवाद की बदौलत पञ्चतन्त्र रूसी तथा अन्य पूर्व-योरोपीय स्लाव् देशों में पहुँचा जिन देशों ने उन दिनों में बिजेण्टाइन साम्राज्य की लगभग सम्पूर्ण संस्कृति अपनाई थी। ग्रीक का प्राचीन स्लाव् मे अनुवाद किसी अज्ञात लेखक द्वारा बारहवीं या तेरहवीं शताब्दी में बल्गेरिया में किया गया था। यह अनुवाद 'ग्रीक चर्च' के अनुयायी सभी स्लाव् देशों के उत्तरी-पश्चिमी भागों तक फैला और पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त की।

(३) ईसा की बारहवी शताब्दी में (Rabbi Joel) ने पञ्चतन्त्र के अरबी रूपान्तर का हेब्रू[९] में अनुवाद किया। (Joel) का पाठ अधूरा है क्योंकि पञ्चतन्त्र का पूरा का पूरा प्रथम तन्त्र ही लुप्त हो गया है। सौभाग्यवश (Joel) के मूलपाठ का एक सम्पूर्ण अनुवाद दक्षिणी इटली के (Capua) स्थान के निवासी एक जूविश (Jewish) द्वारा लैटिन में किया गया जिसने बाद मे ईसाई धर्म स्वीकार किया और अपना ईसाई नाम (John) रख लिया। आगे चलकर वह (Capua) के (John) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह ग्रन्थ १२६० और १२७० ई० के मध्यकाल मे लिखा गया। मध्ययुग के योरोपीय विद्वानों द्वारा इस की भूरि-भूरि प्रशंसा हुई। १४८० ई० के आस-पास यह दो बार छापा[१०] गया। इसी तिथि की इसकी एक पाण्डुलिपि भी मिलती है। इसके अनुवाद स्पेनिश जर्मन एव इटैलियन में भी हुए

(४) जिस अरबी पाठ से (Joel) ने हैब्रू में अनुवाद किया था उसी से काफी मिलते-जुलते अरबी पाठ से एक अज्ञात लेखक ने १२५१ ई० में स्पेनिश में अनुवाद किया। यह अनुवाद[११] अत्यन्त महत्वपूर्ण हुआ। Capua के John के लैटिन अनुवाद से एक और स्पेनिश अनुवाद हुआ।

(५) Capua के John के रूपान्तर से किये गये सब से प्राचीन ज्ञात अनुवाद जर्मन भाषा में किया गया है जिसकी अपार ख्याति हुई। जर्मन मे पञ्चतन्त्र का यह अनुवाद (Anthonius Von Pforr) ने किया जिसका नाम जर्मन में (Buch der Beispicle der alten weisens) है जिसका अंग्रेजी नाम है—(Book of examples of the Ancient Sages)—प्राचीन ऋषियों के उदाहरणों का ग्रन्थ। सबसे पहले यह १४८० ई० के लगभग प्रकाशित हुआ था। छपते ही यह ग्रन्थ इतना प्रसिद्ध हुआ कि प्रथम प्रकाशन के पचास वर्षों के भीतर ही इसके बीस संस्करण छापे गये थे। इसका अनुवाद डेनिश, आइसलैण्डो, डच और यिद्दिश (उत्तरी योरोप के ज् लोगों की बोली) भाषाओं में किया गया।

(६) Capua के John के पञ्चतन्त्र के लैटिन अनुवाद का रूपान्तर १५५२ ई० में (Doni) द्वारा इटैलियन भाषा में किया गया। पञ्चतन्त्र के इसी इटैलियन अनुवाद से अंग्रेजी भाषा में प्रथम अनुवाद सर टॉमस नार्थ ने किया और इसे (The Morall Philosophie of Doni) के नाम से १५७० ई० में प्रकाशित किया। इसका द्वितीय संस्करण[११] १६०१[१२] ई० में प्रकाशित हुआ। १८८८ ई० में जोज़ेफ जेकब ने लन्दन से इसका पुनर्मुद्रण किया।

(७) ईसा की बारहवीं शताब्दी में पञ्चतन्त्र के अरबी रूपान्तर 'कलिलह व दिम्नह' का नसरूल्ला ने फारसी में अनुवाद किया। इसी अनुवाद के बाद आगे चल कर हुसैन इब्न अली अल बैज ने १५वीं शताब्दी में "अनवरे सुहावली के नाम से फारसी में अनुवाद किया।" 'अनवरे सुहावली' का अनुवाद भारतीय भाषा तथा योरोपीय भाषाओं में हुआ। इसका अनुवाद १६६४ ई० मे (Livre des lumieres on la Conduite des rays"—'(Book of Lights or the Conduct of Kings)' के नाम से फ्रेंच में हुआ। (Fables of Pilpy)[१३] के नाम से भी कई बार इस पुस्तक का उल्लेख मिलता है। प्रसिद्ध फ्रान्सीसी गल्पकार (La Fontaine) ने अपनी कई कथाओं को (Pilpy)[१४] की कृति से ली है। सन् १७२४ ई० में (Galland) द्वारा एक और फ्रान्सीसी ग्रन्थ (Contes et fables indiennes de Bidapai et de Lokman) के नाम से प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ तुर्की भाषा के ग्रन्थ "हुमायूँनामा" का अनुवाद है। तुर्की ग्रन्थ "हुमायूँनामा" उपर्युक्त" "अनवरे सुहावली" का अनुवाद है।

पञ्चतन्त्र के इन्हीं फ्रान्सीसी मूलपाठों तथा अनुवादों से १६९९ ई० के बाद धीरे-धीरे आगे चल कर अंग्रेजी, जर्मन, डच, ग्रीक भाषाओं तथा पोलैण्ड, स्वेडन और हंग्री की भाषाओं में अनेक अनुवाद होते गये।

पञ्चतन्त्र के विभिन्न पाठ—दुर्भाग्य की बात है कि संस्कृत-साहित्य की सभी चोटी की रचनाएँ आज हमें क्षेपकों से भरी मिलती हैं। कभी-कभी ये क्षेपक इन कृतियों में इतने आ जाते है कि इनके बीच से मूल रचनाकार की पंक्तियों को ढूंढ निकालना अत्यन्त कठिन कार्य हो जाता है क्षेपक आने के अनेक कारणों मे एक मुख्य कारण यह भी है कि किसी भी महान कृति की

सफलता देखकर बाद की आने वाली पीढ़ियों में जब कोई उन कृतियों की प्रति बनाने लगता था तो कहीं-कहीं अपनी प्रतिभा एवं कल्पना का भी वह योगदान कर देता था। वे लिपिक अपने नाम का विज्ञापन तो करते नहीं थे, किन्तु उनके भी वाक्य अमर हो जायें इसलिये उच्चतम रचनाओं में ही अपने क्षेपक डाल देते थे। यही कारण है कि महाभारत, रामायण तथा कालिदास आदि महाकवियों की समस्त रचनाओं का मूलभूत स्वरूप ढूँढ़ निकालने में पर्याप्त कठिनाई पड़ती है। डॉ० हर्टेल ने तो इस विषय पर बड़ी तीखी बात कह दी है—(India is the classical country of interpolations) यहाँ हमें डॉ० हर्टेल के इस कथन के औचित्य-अनौचित्य पर नहीं जाना है। इतना तो नहीं, पर जैसा कि हमने ऊपर कह दिया है कि जितनी भी प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण कृतियाँ भारत में लिखी गयीं, क्षेपकों का प्रवेश उनमें उतनी ही अधिक संख्या में लिपिकों तथा प्रतिकर्त्ताओं ने अपनी इच्छानुसार कर दिया। ऐसी स्थिति में यदि पञ्चतन्त्र जैसे विश्वव्यापी प्रभाव एवं प्रसिद्धि पाने वाले ग्रन्थ में क्षेपक आ गये हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इन क्षेपकों के आने का फल यह हुआ कि इसमें रूपान्तरकारों की लेखनी ने इतने परिवर्तन कर दिये कि उसका मौलिक रूप ही आमल बदल गया। पञ्चतन्त्र की नयी प्रतियाँ बनती गयीं और बाद में वे प्राचीन प्रतियों में मिलती गयीं। धीरे-धीरे एक वह भी स्थिति आयी कि जब नयी-पुरानी दोनों प्रतियों का सङ्क्रम हो गया। अब इस नये ढले हुए नूतन रूप में बाद में चलकर किसी अन्य लेखक को पाकर उन्होंने एक नया जन्म पा लिया। इस धारा में बहते हुए पूर्णभद्र के समय तक पहुँचकर पञ्चतन्त्र के अनेक रूपान्तर हो गये थे। परिणामस्वरूप आज हमारे सम्मुख निम्न-लिखित पाठ मौलिक पञ्चतन्त्र का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं:—(१) तन्त्राख्यायिका; (२) बृहत्कथा—सोमदेव के कथासरित्सागर तथा क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामञ्जरी के रूप में, (३) दक्षिण भारत का पाठ; (४) नैपाली पाठ; (५) हितोपदेश; (६) दो जैनी पाठ—पहला (Simplecior) दूसरा पूर्णभद्र का पाठ; (७) पह्लवी रूपान्तर से निकले रूपान्तर। यहाँ पर संक्षेप में हम इन सातों का परिचय देंगे:—

(१) **तन्त्राख्यायिका (काश्मीरी रूपान्तर)**—इस पाठ की सभी पाण्डुलिपियाँ काश्मीर की हैं। वे सभी शारदा लिपि में लिखी गई हैं। इस पाठ की प्राप्ति हमें बीसवीं शताब्दी में हुई। इसके दो उपरूपान्तर है जिन में से एक में श्लोकों की संख्या अधिक है, साथ ही साथ उसमें गद्य-भाग भी लम्बे हैं। तन्त्राख्यायिका के पाठ से इस पाठ में पर्याप्त साम्य है। मूल ग्रन्थ की भाषा से इस पाठ में अन्य पाठों की अपेक्षा अधिक समता है। मूल ग्रन्थ (पञ्चतन्त्र) की भाषा ज्यों की त्यों उतारी गई है। इसमें बीच-बीच में क्षेपक भी आये हैं परन्तु इस पाठ का सूक्ष्म रूप से अध्ययन करने के बाद मूल पञ्चतन्त्र का स्वरूप समझ में आ जाता है। इस पाठ में तीन अधिक कथाएँ मिलती हैं जैसा कि पहले कहा जा चुका है डॉ० हर्टेल ने तन्त्राख्यायिका को ही पञ्चतन्त्र का मौलिक रूप माना है। उनके अनुसार पञ्चतन्त्र का केवल यही एक पाठ ऐसा है जिसकी भाषा अविकल (अदूषित) तथा मूल पञ्चतन्त्र की भाषा से अभिन्न है।[२५] इस पाठ की तिथि के बारे में अब तक कोई भी निश्चय नहीं हो सका है।

(२) **सोमदेव एवं क्षेमेन्द्र के** —ये दोनों गुणाढ्य की पैशाची भाषा में लिखी हुई बृहत्कथा पर आधारित हैं बृहत्कथा के संस्कृत रूपान्तर कथासरित्सागर तथा

बृहत्कथामञ्जरी है। क्षेमेन्द्र का पाठ (बृहत्कथामञ्जरी) अन्य सभी पाठों से काफी संक्षिप्त है। कथामुख तथा प्रथम तन्त्र इसमें नहीं मिलते, फिर भी इसमें पाँच ऐसी कथाएँ हैं जो मूल-पाठ मे तो नहीं मिलतीं पर तन्त्राख्यायिका के पाठ में मिलती हैं।

दूसरा रूपान्तर सोमदेव का कथासरित्सागर है जिसमें मूलग्रन्थ के पाँचों तन्त्र एक दूसरे से अलग रक्खे गये हैं। यह रूपान्तर भी काफी संक्षिप्त है। इसमें भी कथामुख के अतिरिक्त५८ कथाएँ नहीं मिलतीं। यद्यपि इस पाठ की भाषा मौलिक ग्रन्थ की भाषा नहीं कही जा सकती, किन्तु कहीं-कहीं साधारण अर्थ समान दिखाई देता है।

(३) **दक्षिण-भारत का पञ्चतन्त्र**—जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, यह दक्षिण भारत की विशेषता से युक्त है। इस पाठ की पाण्डुलिपियों के पाँच उपपाठ मिलते है जिनमे परस्पर बड़ी भिन्नता है। इसी दक्षिणी रूपान्तर में मूल पञ्चतन्त्र की प्रत्येक कथा सुरक्षित है। प्रोफेसर एफ० इजर्टन का कहना है कि जहाँ तक सामान्य अर्थ का सम्बन्ध है इस पाठ के गद्य का तीन-चौथाई भाग मौलिक पाठ से काफी दूर तक मिलता है और इसकी भाषा भी कुछ दूर तक मौलिक पाठ की भाषा से साम्य रखती है। इस पाठ में बहुत थोड़े क्षेपक जोड़े गये। इसमें एक कथा ऊपर से जोड़ दी गयी है। इस का समय महाकवि भारवि के बाद का है।

(४) **नैपाली पाठ**—इस रूपान्तर में पञ्चतन्त्र के एक दक्षिणी उपपाठ से प्रायः सभी श्लोक मिलते हैं। इस पाठ में एक ऐसा गद्यवाक्य मिलता है जो देखने में बिलकुल श्लोक जैसा प्रतीत होता है। यह गद्य वाक्य दक्षिण भारत के पाठ में भी मिलता है। अतएव स्पष्ट है कि नैपाली पाठ दक्षिणी पाठ पर ही मुख्यतः आधारित है, किन्तु इतना होने पर भी दोनों पाठ अभिन्न नहीं हैं। कई स्थलों पर इनमें पाठ भेद है। कई जगह दोनों में ऐसे पाठ हैं जो मौलिक प्रतीत होते है। यहाँ एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि एक पाण्डुलिपि में केवल श्लोक हैं और दूसरी मे गद्य भी सम्मिलित है।

(५) **हितोपदेश**—पञ्चतन्त्र का यह रूपान्तर बंगाल से विशेषतः सम्बद्ध है क्योंकि बंगाल मे इसने पञ्चतन्त्र के अन्य सभी पाठों को टिकने नहीं दिया। इसके लेखक नारायण थे। लेखक ने पञ्चतन्त्र को ही अपनी रचना का मुख्य स्रोत बतलाया है। (पञ्चतन्त्रादिग्रन्थेभ्यः)। नारायण ने पञ्चतन्त्र से ही प्रेरणा लेकर प्रथम तथा द्वितीय खण्ड का निर्माण किया। पञ्चतन्त्र के तृतीय तन्त्र को नारायण से सन्धि (तीन) (Peace) और विग्रह (चार) (war) में विभक्त कर दिया। हितोपदेश के चौथे खण्ड में लेखक ने एक नई मुख्य कथा[१६] (Frame story) अपनी कल्पना द्वारा आविष्कृत कर ली और इस मुख्यकथा (Frame story) के अन्तर्गत पञ्चतन्त्र के तृतीय तन्त्र की कई कथाओं को सम्मिलित कर दिया। पञ्चतन्त्र के पाँचवें तन्त्र को हितोपदेश के तृतीय एवं चतुर्थ खण्डों में विभक्त कर दिया। इसके अतिरिक्त पञ्चतन्त्र की अनेक कथाएँ हितोपदेश में नहीं ली गयीं; और अनेक नई कथाएँ उसमें जोड़ दी गईं। नारायण का समय ८०० ई० तथा १३७३ ई०[१७] के मध्य का है। हितोपदेश का कुछ-कुछ साम्य नैपाली पाठ से मिलता है। उदाहरणार्थ—इसके प्रथम तथा द्वितीय खण्डों के क्रम में परिवर्तन है। हितोपदेश तथा नैपाली पञ्चतन्त्र दोनो का दक्षिण भारत के पाठ से साम्य एवं वैषम्य एक-सा है। नारायण ने हितोपदेश में केवल पञ्चतन्त्र का ही सक्षप नही अपितु उनकी योजना पर्याप्त नवीन भी है ने नीतिमार

से वहुत से अंश उद्धत किये हैं और अनेक स्थलो की उदभावना स्वयं की है पञ्चतन्त्र की अनेक कथाओ को लेखक ने नही ली है चतुर्थ तन्त्र तो पूरा ही नारायण ने छोड दिया है इन समस्त विषमताओं के वाद भी हितोपदेश पञ्चतन्त्र के मूलभूत स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। पञ्चतन्त्र के प्रथम तथा द्वितीय तन्त्र की अनेक मुख्य कथाएँ (Frame stories) तथा समग्र पञ्चतन्त्र की आधी से अधिक अवान्तर कथाएँ हितोपदेश में पूर्ण रूप से सुरक्षित है। कई स्थानो पर मूल पञ्चतन्त्र की भाषा ज्यों की त्यों सुरक्षित है।

(६) **जैनी रूपान्तर**—मूल पञ्चतन्त्र के ये पाठ जैन विद्वानों की कृतियाँ हैं जिनका शीर्षक है पञ्चाख्यान या पञ्चाख्यानक। ये जैनी पाठ दो रूपों में मिलते हैं (क) (Simplicior) तथा (ख) पूर्णभद्र का पाठ।

(क) **पञ्चाख्यान** (Simplicior)—इस पाठ का नाम (Simplicior) इसलिये रक्खा गया है कि पाण्डुलिपि में तो पञ्चाख्यान या पञ्चाख्यानक नाम दिया गया है, किन्तु इसमे लेखक का नाम नही दिया गया है। पञ्चाख्यान के दूसरे पाठ के रचियता जैन विद्वान् पूर्णभद्र है। इसलिए पञ्चाख्यान के अज्ञात लेखक वाले पाठ को पूर्णभद्र के पाठ से पृथक् रखने के लिये आधुनिक विद्वानों ने (Simplicior) नाम गढ़ लिया है। यह पाठ मध्यभारत तथा पश्चिमी भारत में बड़ा प्रसिद्ध रहा। इस पाठ की पाण्डुलिपियों के दो वर्ग हैं। दोनों वर्गो में मूल पञ्चतन्त्र के पाठ के साथ बड़ी स्वच्छन्दता बर्ती गयी है। चतुर्थ तथा पञ्चम तन्त्र को यहाँ, काफी बढ़ा-चढा दिया गया है और तृतीय तथा चतुर्थ तन्त्र की कथाओं के क्रम में महान् परिवर्तन आ गया है। इन समस्त परिवर्तनों के अतिरिक्त एक बात अवश्य है कि इस पाठ में पञ्चतन्त्र का सामान्य भावार्थ स्पष्ट दिखलाई देता है। इसके साथ ही मूलग्रन्थ की भाषा को भी इस पाठ में पर्याप्त स्थान मिला है। इन सब दृष्टियों से देखने पर यह तो कहना ही पड़ता है कि इस पाठ का भी अपना महत्व है पञ्चतन्त्र के मूल-रूप के अनुसन्धान में।

(ख) **पूर्णभद्र का पाठ**—इस पाठ को जैन भिक्षु पूर्णभद्र ने सोम नामक किसी मन्त्री के कहने पर ११९९ ई० में तैयार किया था। इसकी पाण्डुलिपि में इसका नाम 'पञ्चाख्यानक' दिया गया है। पूर्णभद्र का कथन है कि मन्त्री सोम के कहने पर मैंने सम्पूर्ण शास्त्र (पञ्चतन्त्र) 'शास्त्रमखिलम्' को दुहराया है। 'शास्त्रमखिलम्' से पूर्णभद्र का मन्तव्य सम्भवतः पञ्चतन्त्र के 'विभिन्न पाठों' से है। इस प्रकार इतना तो स्पष्ट विदित हो जाता है कि पूर्णभद्र के अपने सचिव सोम की सहायता से ग्रन्थरचना के लिये पर्याप्त सन्दर्भ-सामग्री उपस्थित थी। यह सामग्री पञ्चतन्त्र के विभिन्न रूपान्तरों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं थी। पूर्णभद्र के पाठ को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने (Simplicior) तथा तन्त्राख्यायिका को अपना प्रेरणा-स्रोत बनाया और उन्होंने इन दोनों की प्रतियों को अपने सामने रख कर उनमें जहाँ जो कुछ भी उत्तम लगा अपनी रचना में अक्षरशः सम्मिलित कर लिया। उन्होंने अन्य पाठों व रूपान्तरों का भी उपयोग किया, क्योंकि मूल पञ्चतन्त्र के जो लक्षण दक्षिणी पाठ तथा पह्लवी आदि पाठों में मिलते हैं उनके ग्रन्थ में भी मिलते हैं। इस प्रकार पूर्णभद्र का ग्रन्थ बहुत-कुछ एक मिश्रण ही है। किन्तु इससे मूल पञ्चतन्त्र को ढूंढ निकालने में बडी सहायता मिलती है क्योंकि लेखक ने स्वयं यह सङ्केत किया है कि मैं अपने मुख्य स्रोत से दूर नहीं

स्मार्तं वचः क्वचन यत्सम्योपयोगि।
प्रोक्तं समस्तविदुषां तद्दूषणीयम्॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूर्णभद्र ने लिखते समय अपने सभी उपजीव्य स्रोतों का उपयोग किया। अतएव उनकी कृति अन्य पृथक्-पृथक् पाठ-रूपान्तरों की अपेक्षा मूल पञ्चतन्त्र का अधिक प्रतिनिधित्व करती है।

(७) **पह्लवी रूपान्तर एवं उसकी शाखा**—पहले हम पञ्चतन्त्र के पह्लवी रूपान्तर तथा उसके बाद उससे जन्मे हुए अन्य रूपान्तरों का विस्तृत वर्णन किया जा चुका है। हमने देखा कि हकीम बर्जो ने, जिन्होंने भारत की बहुत सी कथाओं का अनुवाद किया था, पञ्चतन्त्र का भी अनुवाद पह्लवी में किया। उनका यही अनुवाद उन सभी भारतीय कथाओं के अनुवाद मे परम महत्वपूर्ण रहा। आज हमारे सम्मुख बर्जो के अनुवाद की मूल-प्रति उपलब्ध नहीं है, किन्तु इसके अरबी तथा सीरियायी अनुवादो से इसके स्वरूप का अन्दाजा आसानी से लगाया जा सकता है। बर्जो के अनुवाद में कथामुख तथा तृतीय, चतुर्थ एवं पञ्चम तन्त्र से एक-एक कथा भी छोड दी गई है। इन तीन कथाओं की अनुपस्थिति एवं अन्य भाषाओं में स्वाभाविक रूप से आ जाने वाले अनुवादजन्य हल्के-फुल्के परिवर्तनों को छोड़ कर यदि हम बर्जो के ग्रन्थ को आद्यन्त सावधानी से पढ़ें तो यह स्पष्ट होगा कि बर्जो ने पञ्चतन्त्र की किसी अत्यन्त प्राचीन पाण्डुलिपि से अनुवाद किया होगा। पह्लवी के रूपान्तर से उत्पन्न होने वाले रूपान्तरों के अध्ययन से मूल पञ्चतन्त्र का सामान्य भाव पाने में हमें सहायता मिलती है, विशेष अधिक कुछ नहीं।

मूल ग्रन्थ—पञ्चतन्त्र के बहुसंख्यक तथा विविध रूपान्तर-पाठों की उपस्थिति में यह प्रश्न उठता है कि इन रूपान्तर-पाठों में से कौन उसका मूलभूत स्वरूप था—अत्यन्त स्वाभाविक और उचित है। जब हम इस प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ने के लिये बैठते हैं तो एक शङ्का और उठ खड़ी होती है, वह यह है कि क्या मूल पञ्चतन्त्र वस्तुतः एक ग्रन्थ का नाम था या कुछ कथाओं के सामूहिक नाम को यों ही पञ्चतन्त्र कहकर पुकारा जाता था, क्योंकि पञ्चतन्त्र वह साहित्य-रत्नाकर था जिससे साहित्यिक-गोताखोरों ने अपनी रुचि, एवं आवश्यकता के अनुसार कथा-रत्नों को निकाल-निकाल कर अपने पृथक्-पृथक् ग्रन्थ-कोष बना लिये थे। इन साहित्यिकों के कथा-ग्रन्थों में जो सर्वव्यापी साम्य हमें दिखलाई देता है उसका प्रमुख कारण यह है कि उन कथाकारों का उपजीव्य स्रोत एक था, जो पञ्चतन्त्र का मूलस्वरूप था। जो भी हो, किन्तु यह बात आज सभी को समानरूप से मान्य है। इस मान्यता का पहला कारण तो यह है कि पञ्चतन्त्र के सभी रूपान्तर-पाठों में पाँचों तन्त्रों में (हितोपदेश को छोड़कर) मुख्य-कथाओं (Frame stories) का ढाँचा एक ही ढङ्ग का है। केवल जैनी रूपान्तर में चतुर्थ तन्त्र मे एक अन्य कथा मिलती है, अन्यथा वह ढाँचा सर्वत्र समान है। दूसरी विशेष बात यह है कि पञ्चतन्त्र की ३२ अवान्तर कथाओं में से २३ कथाएँ ऐसी हैं जो प्रत्येक पाठ में न केवल मिलती हैं अपितु वे उसी क्रम से रक्खी भी गयी हैं। तीसरी बात जो सब से महत्वपूर्ण है वह यह है कि पञ्चतन्त्र के सभी पाठों में आदि से अन्त तक कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है जो एक ही ढङ्ग से ज्यों के त्यो सभी पाठों में यत्र-तत्र प्रयुक्त मिलते हैं। अतएव ये तथ्य हमें इस निष्कर्ष की ओर ले जाते हैं कि इन पाठो की कथाओं का वस्तु विन्यास योजना क्रम सामान्य भाव तथा इनकी

अभिन्नता एवं समता केवल एक संयोग की बात नहीं है हम इन पाठों में उक्त सभी समताओं को देख कर यह कह कर कि संयोग से ये बात पाठों में इकट्ठी हो गई है टाल नहीं सकते क्योंकि जब हम पञ्चतन्त्र के बहुसंख्यक एवं विविध रूपान्तरों के देश तथा काल पर विचार करते हैं तो यह संयोग से आ जाने वाली समता की बात उपहासास्पद और असम्भव सिद्ध हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में हमें यह मानना पड़ता है कि ये पाठ-रूपान्तर एक ही मूल ग्रन्थ की सन्तानें हैं। डॉ० हर्टेल मूल पञ्चतन्त्र तथा वर्त्तमान पाठों के बीच एक और कालगत व्यवधान मानते हैं, किन्तु यह मत टिकाऊ नहीं रहा और इर्जटन ने इस मत का बड़ा ही उचित खण्डन किया। जहाँ तक ग्रन्थ के नाम तथा अर्थ का प्रश्न है हम पहले ही विस्तारपूर्वक विवेचन कर आये हैं। यहाँ स्थानाभाववश पुनरुक्ति नहीं की जायेगी।

पञ्चतन्त्र के अर्थ रूपान्तर तथा महत्व का विवेचन तब तक अधूरा रहेगा जब तक इसके रचनाकाल, इसके भाग्यशाली लेखक तथा इसकी भाषा पर भी कुछ न कुछ अवश्य कह दिया जाय अत संक्षेप में इनका क्रमशः उल्लेख किया जायेगा।

रचना काल—पञ्चतन्त्र के रचना काल के बारे में डॉ० हर्टेल का मत ईसापूर्व २०० शताब्दी था, किन्तु बाद में उन्हें यह तिथि अति प्राचीन लगी और उन्होंने इस तिथि को २०० ई० में ठहराया। बाद वाली तिथि के पक्ष में उनका तर्क यह था कि पञ्चतन्त्र में "दीनार" शब्द का प्रयोग हुआ है। उनके मत में दीनार सिक्का प्राचीन भारत में ज्ञात नहीं था विशेषतः ईसा की शताब्दी के पूर्व तो दीनार सिक्का भारत में बिल्कुल अज्ञात था। किन्तु हम डॉ० हर्टेल के इस तर्क को मानने में असमर्थ हैं क्योंकि दीनार सिक्का रोम का सिक्का था, और आज हमारे समक्ष कितने ही प्रमाण इस बात के मिलते हैं कि प्राचीन भारत में आन्ध्र देश तथा रोम के मध्य गहरा व्यावसायिक सम्बन्ध था। दोनों देशों में खूब व्यापार चलता था। अतएव ईसा की शताब्दियों के पूर्व दीनार को भारत से अज्ञात बताने वाले तर्क में अब कोई बल नहीं रह गया है, किन्तु इसके अतिरिक्त पञ्चतन्त्र के बारे में तिथि के लिये कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता। हम केवल इतना ही निश्चित रूप से कह सकते हैं कि पञ्चतन्त्र छठीं शताब्दी ई० तक अवश्य ही लिखा जा चुका था। हमने ऊपर देख लिया है कि इसका पह्लवी रूपान्तर ५३१-५७० ई० में हो चुका था।

रचयिता—वस्तुतः देखा जाय तो पञ्चतन्त्र के लेखक के बारे में कोई प्रमाण हमें नहीं मिलता। परम्परा से विष्णुशर्मा को ही (जिन्होंने कथाओं को सुनाया है) ग्रन्थ का लेखक ठहराया गया है, किन्तु इस धारणा के पक्ष में कोई प्रमाण नहीं मिलता। विष्णुशर्मा के रचयिता होने के पक्ष में एक तथ्य को सामने रक्खा जाता है वह यह है कि पूर्णभद्र के पाठ के अन्त में कुछ प्रशस्ति के श्लोक दिये गये हैं जिनमें विष्णुशर्मा का नाम कर्त्ता के रूप में लिया गया है।

> कथान्वितं सत्कविसूक्तयुक्तं श्रीविष्णुशर्मानृपनीतिशास्त्रम्।
> चकार येनेह परोपकारः स्वर्गाय जायेत बुधा वदन्ति॥

इस श्लोक के अतिरिक्त हितोपदेश के लेखक ने भी अपनी कथाओं को विष्णुशर्मा की कथाएँ कह कर अनुग्रह प्रकट किया है। परन्तु इस श्लोक आदि के होने पर भी विष्णुशर्मा का नाम मात्र लेखक के रूप मे स्वीकार नहीं किया जा सका है ग्रन्थ की शैली वस्तु-योजना आदि

पर विचार करने से इतना ही कहा जा सकता है कि इसका लेखक अवश्य कोई कट्टर हिन्दू रहा होगा।

रचना-स्थान—डॉ० हर्टेल का कथन है कि ग्रन्थ की रचना सम्भवतः काश्मीर में हुई। इस मत का युक्तियुक्त खण्डन प्रोफेसर एफ० इजर्टन ने करके दिखा दिया है कि यह मत टिकाऊ नहीं है। रचना-स्थान की खोज मे हमें पञ्चतन्त्र में आये भौगोलिक तथ्यों पर ध्यान देना होगा। पञ्चतन्त्र की मुख्यकथा का दृश्य गौड़ देश (बंगाल) रहा है, परन्तु पञ्चतन्त्र के सभी रूपान्तरो (हितोपदेश को छोड़कर) का गौड़ देश से कोई भी सम्बन्ध नहीं दिखलाई पड़ता। अतएव बंगाल को पञ्चतन्त्र का रचना-स्थान बना देना उचित नहीं होगा।

द्वितीय तन्त्र में कुछ हिन्दू तीर्थ स्थानों का वर्णन मिलता है। ये तीर्थ स्थान हैं—पुष्कर, गङ्गाद्वार और प्रयाग आदि ये वर्णन इतने सामान्य हैं कि इनसे किसी स्थान-विशेष की ओर सङ्केत करके उसे रचना-स्थान बतलाना बुद्धिमानी की बात न होगी।

ध्यानपूर्वक यदि पञ्चतन्त्र को पढ़ा जाय तो यह मानना कि इसकी रचना दक्षिण भारत मे हुई। तृतीय तन्त्र (१३४) में ऋष्यमूक पर्वत का उल्लेख किया गया है। वर्णन की शैली से विदित होता है कि लेखक उस स्थान से काफी परिचित था। ऐसा लगता है कि लेखक उस स्थान से दूर नहीं रहता था और भी कई प्रमाण इस बात के पक्ष में दिये जा सकते हैं। प्रथम तथा द्वितीय तन्त्र के दृश्य हैदराबाद के आसपास का दक्षिणी प्रान्त है। साथ ही लेखक का समुद्र से परिचय बड़ा गम्भीर प्रतीत होता है। सबसे महत्वपूर्ण बात इस सम्बन्ध में यह है कि ग्रन्थ का मौलिक नाम "पञ्चतन्त्र" दक्षिण भारत में ही अब तक सुरक्षित रहा।

भाषा—इसमे तो कोई सन्देह नहीं कि मूल पञ्चतन्त्र की भाषा संस्कृत थी। यह बात स्वतः सिद्ध है। यदि ऐसी बात न होती तो हमें विभिन्न पाठों में एक से गद्य-पद्य न मिलते। विभिन्न पाठों की गद्यपद्यगत यह अभिन्नता अनुवाद में मिलनी तब तक असम्भव है जब कि एक ही व्यक्ति के द्वारा लिखे गये सभी अनुवाद न हों। यह बात पञ्चतन्त्र के रूपान्तरों में कदापि सम्भव नही। ग्रन्थ की शैली की अपनी एक धारा है जो सर्वत्र उसी गति से बहती है। शैली सरल शब्द-बन्धों वाली है, कुछ ही लम्बे समासों का प्रयोग दिखलाई देता है। 'कथा' जैसे विषय के उपयुक्त ही इस ग्रन्थ की शैली रही है। हास्य के लिये पर्याप्त सामग्री है।

ग्रन्थ का मौलिक विषय था राजनीतिक सिद्धान्तों का विवेचन। इस मुख्य विषय मे मनोरञ्जन का अंश लेखक ने किस पटुता से मिश्रित किया है यह तो इसकी विश्वव्यापिनी सफलता से स्पष्ट हो जाता है। अन्त में, एक बात और कह देनी आवश्यक है कि पञ्चतन्त्र का उद्देश्य केवल राजनीतिक चालों की शिक्षा देना ही नहीं रहा। करटक का लम्बा नैतिक व्याख्यान इस धारणा से विपरीत सिद्ध करता है। एक वाक्य में यह कह देना आवश्यक है कि पञ्चतन्त्र की रचना मे उपदेशों का अपना अछूता स्थान है। ये उपदेश स्वार्थत्याग, भक्ति, मित्रपरायणता आदि उदात्त भावों के रूप में दिये गये हैं। साथ ही इन के विपरीत स्वार्थपरता आदि दुर्गुणों की गर्हणा पशुओ के मुख से कहा कर लेखक ने एक अनोखी वस्तु संसार के सम्मुख प्रस्तुत की है। कुछ लोगों ने पञ्च-तन्त्र को अनैतिक ग्रन्थ कह कर इस की आलोचना की है। इसके उत्तर में हमें केवल इतना ही कहना है कि दुर्भाग्यवश वे सर्वज्ञ आलोचक की आत्मा को नहीं जान पाये

के मनोरञ्जक कथा कथन और राजनीति के सम्मिश्रण पर डा० एस० के० डे ने सुंदर ढङ्ग से कहा है

"Although Hertel is right in believing that the Pañcatantra was originally conceived as a work for teaching political wisdom, yet the fact should not make us forget that it is also essentially a story book, in which the storyteller and the political teacher are unified, most often successfully, in one personality. There are instances where the professed practical object intrudes itself, and tedious exposition of polity prevails over simple and vivid narration, but these instances are happily not too numerous, and the character of the work as a political text book is never glaring."[१०]

सन्दर्भ-सङ्केत

१. सकलार्थशास्त्रसारं जगति समालोच्य विष्णुशर्मेदम्।

तन्त्रैः पञ्चभिरेतच्चकार सुमनोहरं शास्त्रम्।—विशेष विस्तार के लिये इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, १३ (१९३७), पृष्ठ ६६८ से ६६९ तक देखिये।

२. विशेष विवरण के लिये जे० ओ० आर० ८, २५२ एवं ९, ६४ टिप्पणी देखिये।

३. तन्त्रजुत्ति=तन्त्रयुक्तिम्।

४. वेंकेट सुब्बिया के अनुसार 'अविश्वास' तृतीय तन्त्र (खण्ड) का प्रारम्भिक नाम है जो काकोलुकीयम् के नाम से प्रसिद्ध है (बृहस्पतेरविश्वास इतिशास्त्रार्थ निश्चयः)

५. सुकृत्यं विष्णुगुप्तस्य मित्राप्तिर्भार्गवस्य च।

बृहस्पतेरविश्वासो नीतिसन्धिस्त्रिधा मता॥—241 (Textus Simplicior of the Pañcatantra, Buhler, Kielhorn's edition).

पंचतन्त्र में आये हुए खण्डों के नाम—

मित्रभेदः सुहृल्लाभः सन्धिविग्रह एव च।

लब्धनाशो असम्प्रेक्ष्यकारित्वं पञ्चतन्त्रकम्॥

दुर्गसिंह में आये हुए खण्डों के नाम—

भेदः परीक्षा विश्वासश्चतुर्थं वन्दनं तथा।

मित्रकार्यं च पञ्चैते कथा तन्त्रार्थसंज्ञकाः॥

६. सर्वप्रथम इसका सम्पादन व अनुवाद जर्मनी भाषा में जी० बिकेल द्वारा लीपज़िग में १८७६ ई० में हुआ। दूसरा सम्पादन जो कई रूपों में पहले से अच्छा था १९११ में बर्लिन से निकला। इसका शीर्षक है "Kalila and Dimna, Syrisch and Dentsch" इसके सम्पादक थे—Von Friedrich Schulthess.

७. यह बहुत सम्भव है कि अरबी में और भी कई अनुवाद हुए थे। शिकागो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर स्प्रेङ्गलिङ्ग ने यह सङ्केत किया है इब्नि सल्फ' के शब्दकोष में 'कलिलह व दिम्नह' का पह्लवी से अरबी में करने वाले अन्य अब्दुल्ला इब्न हिलाल अल-

अहवाजी का उल्लेख है। इस अनुवादक का समय उन्होंने ७८१-७८२ ई० बतलाया है।' "The work became very popular in Arabic Literature and there are now in existence numerous manuscripts and printed editions." Edgerton; 42.

८. अरबी पाठ का समीक्षात्मक सम्पादन शिकागो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर स्प्रेङ्गलिङ्ग ने किया है। अरबी पाठ का प्रथम मुद्रित संस्करण Sylvestre de Sacy द्वारा १८१६ ई० में पेरिस से प्रकाशित हुआ। अरबी के विद्वानों के अनुसार सर्वोत्तम मुद्रित पाठ L. Cheiko, Beyrouth (१९०५) का है। यह केवल एक पुरानी पाण्डुलिपि पर आधारित है, किन्तु यह अपूर्ण है और इसमें कई त्रुटियाँ हैं।

९. (J. Derenbourg) द्वारा पेरिस से १८८१ ई० में फ्रेंच अनुवाद सहित सम्पादित। (Jacob Ben Eleazer) द्वारा तेरहवीं शताब्दी में एक हेब्रू अनुवाद हुआ। इसका मूल भाग उपर्युक्त (Derenbourg) के संस्करण में प्रकाशित हुआ था।

१०. इसका पुनर्मुद्रण बड़ी सुन्दर व्याख्यासहित (Derenbourg) द्वारा पेरिस से १८८७ ई० में निकला था।

११. (Clifford G. Allen, Macon) (फ्रांस); १९०६ ई० में, (Gajangos), मैड्रिड १८६० ई० में, (Antonio G. Solalinde;); मैड्रिड १९१७ ई० में; (Alemany) मैड्रिड १९१५ ई० में रूपान्तर हुए।

१२. इस प्रकार शेक्सपियर के जीवन-काल में ही अंग्रेजी-साहित्य की श्रीवृद्धि उस ग्रन्थ ने की जो संस्कृत पञ्चतन्त्र की छठी-पीढ़ी की सन्तान (रूपान्तर) के अतिरिक्त और कुछ न था। पञ्चतन्त्र का अंग्रेजी भाषा में किया गया यह रूपान्तर छठी पीढ़ी में जाकर हुआ—इटैलियन-लैटिन-हेब्रू-पहलवी-संस्कृत।

१३. (La Fortaiae) ने (Pilpy) नामक भारतीय ऋषि का अनुग्रह स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है। सम्भवतः (Pilpy) संस्कृत के "विद्यापति" का बिगड़ा हुआ रूप है; क्योंकि (Pilpy) (विद्यापति) को ही पञ्चतन्त्र का लेखक मूल से मान लिया गया था।

१४. वह विद्वान् जिसने कहानियाँ कहीं थी। (कृपया टिप्पणी २ भी देखिए)

१५. "It is the only version which contains unabbreviated and not intentionally altered language of the author."

१६. पञ्चतन्त्र की कथाओं की अन्य भारतीय कथा ग्रन्थों की भाँति ही यह विशेषता है कि इसमें दो प्रकार की कथाएँ मिलती हैं पहली तो वे हैं जो मुख्य कथाएँ कही जा सकती हैं। ये प्रधान कथाएँ होती हैं जिनका एक लम्बा ढाञ्चा (Frame stories) व फैलाव रहता है दूसरी कथाएँ वे हैं जो प्रसङ्गवश इन्हीं मुख्य कथाओं के कलेवर में कही जाती है, अतः वे अवान्तर कथाएँ कहलाईं।

१७. हितोपदेश की तिथि—(१) एक पाण्डुलिपि में उसकी तिथि १३७३ ई० दी गई है। (२) दूसरी पाण्डुलिपि में माघ तथा कामन्दक के भी श्लोक उद्धृत हैं। (३) तीसरी पाण्डुलिपि में "रविवार के स्थान पर भट्टारकवार" मिलता है। भट्टारकवार वह दिन हुआ करता था जिस दिन कोई भी कार्य नहीं किया जाता था। यह प्रथा ९०० ई० के बाद प्रारम्भ हुई थी।

१८. डा० एस० के० ड० हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर पृ० ९१

एक

●

'फिरङ्गी और लोक-मानस' शीर्षक लेख पर कुछ विचार

वेदप्रकाश गर्ग

'हिन्दुस्तानी' भाग २२ अङ्क १ (जनवरी-मार्च १९६१) में डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया का 'फिरङ्गी और लोक-मानस' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। उक्त लेख में भाटिया जी ने 'फिरङ्गी' शब्द की व्युत्पत्ति दर्शाते हुए, लोक-साहित्य में भी प्रचारित तथा प्रसारित फिरङ्गी शब्द के सम्बन्ध में, दो लोक-गीतों को प्रस्तुत कर अपने विचार प्रकट किये हैं।

फिरङ्गी शब्द की व्युत्पत्ति 'फ्रैङ्क' से मानी गई है और इसे पुर्तगाली शब्द स्वीकार किया गया है। प्रारम्भ में यह शब्द पुर्तगालियों के लिये प्रयुक्त होता था। बाद में सामान्यतः किसी भी यूरोपियन के लिये प्रयुक्त किया जाने लगा। भाटिया जी का यह निष्कर्ष कि "...'फिरङ्गी' शब्द किसी भी विदेशी जाति के लिये प्रयुक्त होने लगा।" उचित नहीं है। 'फिरङ्गी' यूरोपियन जातियों अर्थात् यूरोप की गोरी जाति वालों के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। मेरा विचार है कि इस शब्द का 'फ्रान्स' शब्द से भी कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है। फिरङ्गी शब्द 'फिरङ्ग' में 'ई' प्रत्यय लगा कर बनाया गया है। अस्तु।

डॉ० भाटिया ने नल विषयक एक लोक-गीत प्रस्तुत कर, फिरङ्गियों के प्रति विरोधात्मक लोक-भावना को प्रकट किया है। किन्तु दूसरा लोक-गीत देते हुए भाटिया जी ने लिखा है—"...पर एक अन्य गीत में आत्मीयता प्रकट करते हुए होली खेलने के लिये निमन्त्रण दिया गया है।...यह गीत भी आज ब्रज में विशेष प्रचलित है और अपनी स्वर लहरी में लोक की उदारता, लोक के प्रेम तथा सौहार्द का उद्घाटन करता है। गीत इस प्रकार है—

"कहियौ जी फिरङ्गिनि तें कोई होरी खेलन आवें नवाब
बागनि बागनि डोलें फिरङ्गिनि मला जी कोई रौसनि डोलें नवाब इत्यादि

वस्तुत इस गात म भी विराध भावना ही व्यक्त हुइ है पूरे गान मे भ फि ङ्गिया के प्रति दूरत्व की भावना ही प्रकट हुई है। ऐसी ही भावनाओं को व्यक्त करने वाला एक और लोक-गीत प्राप्त होता है। जातीयता तथा ऐतिहासिक दृष्टि से जिसका निर्माण उपयुक्त है और जो जनता में अत्यधिक प्रचलित है। उक्त लोक-गीत की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं——

होली खेलन आवै नवाब, कह दो मरहठन से।
कोठे-कोठे मरहठे आवैं, गलियों में आवै नवाब,
कह दो मरहठन से।
घोड़ों की काठी मरहठे आवैं, पैदल आवै नवाब,
कह दो मरहठन से।...इत्यादि।

अर्थात् "मरहठों से कह दो कि वे हमारे शरीर पर शासन करने पर भी हृदय पर शासन नही कर सकते। उनको नवाब से शिक्षा लेनी चाहिये, जो हमारे बीच होली खेलने आता है। मरहठे हमारे पास कोठों पर चढ़ कर आते हैं और सदा हमसे दूर रहते हैं, जब कि नवाब गलियों में आकर हमारे साथ होली खेलता है। मरहठे घोड़ों की काठियों पर बैठ कर आते हैं और हमसे सदा दूर रहते हैं, जब कि नवाब हमारी गलियों में पैदल आकर हमारे साथ होली खेलता है।"

उपयुक्त गीत अवध (पश्चिमी क्षेत्र) रुहेलखण्ड तथा मेरठ कमिश्नरियों में बहुतायत से प्रचलित है। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रज वाला गीत इस गीत के अनुकरण पर बाद में किसी के द्वारा निर्मित हुआ है। कारण स्पष्ट है। देश, काल, परिस्थिति की दृष्टि से विचार करने पर भी उक्त गीत का निर्माण ब्रज में होना सम्भव नहीं प्रतीत होता, क्योंकि ब्रज पर स्थायी नवाबी शासन कभी नहीं रहा। इसके विपरीत जातीयता एवम् ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर उपयुक्त इलाकों (ब्रज में नही) में उक्त गीत का बनना नितान्त सम्भव है।

मुग़ल-शासन के पतन-काल में मरहठों का उत्कर्ष चरम सीमा पर था। वे न केवल उत्तरभारत तक फैल चुके थे अपितु मुग़ल-सम्राट् को भी उन्होंने अपने संरक्षण में लिया था। वास्तविक सत्ता मरहठा सरदारों के हाथों में थी। उसी समय अवध का नवाब भी दिल्ली के राजसिंहासन पर अपना प्रभाव स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा था, किन्तु मरहठों और नवाब की कार्यशैली में आकाश-पाताल का अन्तर था। नवाब का जीवन विलासितापूर्ण अवश्य था, लेकिन वह जनता को अपने साथ लेकर चलता था। मरहठे अपने को जनता का शासक समझते हुए, उससे सदा दूर रहते थे। वे जनता से मिलना-जुलना कतई पसन्द नहीं करते थे।

नवाब यद्यपि कट्टर मुसलमान था, तथापि वह मुसलमानी त्योहारों को मनाने के साथ-साथ हिन्दू त्योहार भी मनाता था। दशहरे के अवसर पर नवाब की सवारी विशेष रूप से निकला करती थी। दिवाली पर रोशनी की जाती थी तथा नवाब अपने प्रत्येक हिन्दू दरबारी, सरदार तथा कर्मचारी के घर मिठाई भेजा करता था। होली का त्योहार नवाब विशेष समारोह के साथ मनाता था। वह सैकड़ों कण्डालों में रंग भरवा कर, उन्हें छकड़ो पर लदवा कर बाजारों तथा गलियों में निकलता था उसके हाथों में पिचकारी होती और वह मुक्त हास्य करता हुआ अपने प्रजाओ पर रङ्ग की वर्षा करता उसकी हिन्दू प्रजा भी उसके ऊपर सीमित मात्रा में रङ्ग डाल

सकती थी जनता पर नवाब के इस कार्य का बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ता था जनता को इस बात का आश्चर्य था कि नवाब तो मुसलमान होते हुए भी उनके साथ होली खेलता है, किन्तु मरहठे हिन्दू होते हुए भी और हिन्दुओं के रक्षक होने का दावा करते हुए भी, उनके साथ होली नहीं खेलने आते थे। जनता की इसी भावना का प्रस्फुटन इस लोक-गीत में हुआ है।

यह लोक-गीत न केवल तत्कालीन जनता की भावना को व्यक्त करता है, वरन् एक ऐतिहासिक तथ्य की ओर भी ध्यान आकृष्ट करता है। इसमें यह सङ्केत है कि मरहठा-राज्य का पतन क्यों हुआ और वह सारे भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर के भी इतिहास के पृष्ठों से शीघ्रतापूर्वक क्यों मिट गया?

छत्रपति शिवाजी को राज्य-स्थापना में जनता के सहयोग से सफलता प्राप्त हुई थी। वे अपने को जनता का शासक नहीं, बल्कि प्रतिनिधि और सेवक मानते थे। इसी से उन्होंने एक सामान्य सैनिक का पुत्र होते हुए भी एक विशाल राज्य की स्थापना की, किन्तु उनके उत्तराधिकारियों ने अपने को जनता का सेवक न समझ कर सदैव उसका शासक जाना। यद्यपि उन्होंने मरहठा साम्राज्य का विस्तार उत्तर भारत तक कर लिया तथापि वह साम्राज्य जनता की शुभ-भावना के अभाव में निर्बल था और इसीलिये वह एक धक्का लगते ही ढह गया।

अवध के नवाब के सामने अकबर का आदर्श था। वह जानता था कि हिन्दुओं का बहिष्कार कर के राज्य को स्थायी नहीं बनाया जा सकता और इसी लिए उसने अपनी हिन्दू जनता का भी पूर्ण सहयोग प्राप्त किया। यद्यपि अवध के नवाब का जन-सम्पर्क-कार्य उसके राज्य को ठोस आधार प्रदान करता था, तथापि अतिशय विलासिता तथा अंग्रेजों की कूटनीति ने उसका भी अन्त कर दिया, किन्तु फिर भी इस लोक-गीत में जिस ऐतिहासिक तथ्य की ओर इङ्गित किया गया है, वह भारतीय इतिहास की एक गम्भीर घटना है।

वस्तुतः लोक में फिरङ्गी का एक ही रूप (विरोधात्मक) विद्यमान है। यह बात दूसरी है कि आगे चल कर कुछेक ने किसी कारण वश फिरङ्गी के दूसरे रूप (आत्मीयता) की भी स्थापना कर दी हो। लोक-मानस में व्याप्त यह शब्द चाहे विदेशी प्रतीत न होता हो, किन्तु जिनके लिये यह प्रयुक्त किया गया है, वे सदा ही विदेशी समझे गये हैं।

दो

•

बैसवारी और उसका साहित्य

त्रिलोकीनाथ दीक्षित

भौगोलिक परिचय

अवध भारतवर्ष का एक इतिहास प्रसिद्ध प्रान्त है। बैसवारा या बैसवाड़ा इसी अवध के एक छोटे से भूभाग का नाम है। अवध के दक्षिण में श्री गङ्गा जी और सई नदी के मध्य में जो विस्तृत भूभाग पड़ता है, वह प्राचीन काल से तीन भौगोलिक भूखण्डों में विभाजित रहा है। इन तीनों भूखण्ड में प्रथम है ऊपर का भाग बाँगर, मध्य का बनौधा तथा इसके परे का भाग अखर के नाम से प्रसिद्ध है। बाँगर और बनौधा के मध्य में बैसवाड़ा स्थित है। बनौधा के ही एक भाग का नाम कालान्तर में बैसवाड़ा हो गया। इस भूखण्ड का बैसबाड़ा नाम बहुत प्राचीन नहीं है। फारसी भाषा के प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ 'तवारीख खाँ जहालोदी' में इसी भूभाग का नाम 'बक्सर राज्य' के रूप में हुआ है। उन्नाव जिले के डौंडियाखेरा के राव कनक सिंह के समय तक यह बक्सर राज्य के नाम से ही प्रसिद्ध था। इस प्रदेश का बैसवाड़ा नाम लखनऊ के नवाबों के समय से प्रसिद्ध हुआ। कारण कि मुसलमानों के आगमन के पूर्व इस भूभाग के अधिपति और शासक बैस—क्षत्री ही थे। बैसों के प्रसिद्ध राजा तिलोकचन्द्र के राज्यकाल में राज्य का विस्तार या प्रसार बाईस परगनों में था। कालान्तर में इस राज्य से उन्नाव जिले के पाँच परगने हडहा, असोहा, गोरिन्दा, परसन्दन, (लखनऊ जिले का) बिजनौर निकल गये। इनके अतिरिक्त कूम्भी, ऊँचगाँव, कहन्जेर और सरवन ये चार परगने तोड़ दिये गये। इनके स्थान पर भगवन्त नगर को एक नये परगने का रूप प्रदान किया गया। इस प्रकार वर्तमान काल में बैसवाड़ा के बाईस परगनों मे से केवल १४ परगने ही रह गये। इनमें डौंडियाखेरा, भगवन्तनगर, बिहार, घाटमपुर, मगड़ापर, पांटन, पनहन, पुरवा, मौरावाँ, सरौनी, खिरीं, डलमऊ, रायबरेली, बछरावा परगने है। इन परगनों में से पूरा बछरावाँ आधा रायबरेली के अतिरिक्त और सब परगने गङ्गा जी और सई नदी के मध्य में स्थित हैं, यही भूखण्ड मुख्य रूप से बैसवारा प्रदेश है।

सीमा

बैसवारे के उत्तर में उन्नाव जिले का असोहा और रायबरेली जिले की महाराज गञ्ज तहसील है इसके पूर्व में रायबरेली जिले की सलोन तहसील दक्षिण में श्री गङ्गा जी और

पश्चिम मे हुडहा और परसन्दन परगने विद्यमान है। इस भू भाग का क्षेत्रफल १४५९ वर्गमील है। सन् १९०१ की जनगणना के अनुसार यहाँ की जनसंख्या ८,२४,२४३ थी। इसमे से ४४,०६७ मुसलमान, १६१ ईसाई और सिक्ख थे। शेष सब हिन्दू थे। बैसवाड़ा का भू-भाग अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण चार खण्डों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम गङ्गा और लोन का मध्यवर्ती भाग, द्वितीय लोन और सई के मध्य का भाग, तृतीय लोन के गङ्गा में मिल जाने के बाद गङ्गा और सई के मध्य का खण्ड और चतुर्थ सई के उत्तरी किनारे का खण्ड। इन उपर्युक्त खण्डों के मध्य में, नदियों के समानान्तर में समान रूप से उन्नत भू-भाग स्थित है। गङ्गा, सई, लोन, सुरियावां, देल्दा, नौहरी, बसहा, बसोह, छोबनदी, कटवारा नैय्या, महाराजगञ्ज नैग्या इस प्रदेश की प्रमुख नदियाँ है। पशु पक्षियों और वनस्पति की दृष्टि से यह प्रदेश बड़ा सम्पन्न और समृद्ध है।

ऐतिहासिक परिचय

बैसवाड़ा आर्य संस्कृति के केन्द्र स्थान में स्थित है। गङ्गा के बाँयें तट पर स्थित होने के कारण यह प्रदेश धर्मनिष्ठ नरपतियों और ऋषियों के कार्यकलाप का केन्द्र रहा है। बैसवारे का बक्सर स्थान पुराणों में वर्णित श्रीकृष्ण द्वारा बकासुर दैत्य का बध स्थल था। कहा जाता है कि बकासुर इसी बक्सर का निवासी था। यह भी प्रसिद्ध है कि प्रसिद्ध बागेश्वर महादेव की मूर्ति की स्थापना बकासुर ने ही की थी और इस मूर्ति का नाम वकेश्वर रक्खा जो आगे चलकर वागेश्वर के रूप में परिवर्तित हो गया है। बैसवाड़े के सावन स्थान का भी ऐतिहासिक महत्व है। कहा जाता है कि राजा दशरथ के वाण से आहत होकर श्रवण कुमार ने इसी स्थल पर प्राणों का परित्याग किया था। मौरावाँ राजा मयूरध्वज की राजधानी था। मयूरध्वज की सत्यनिष्ठा और कर्तव्य परायणता से कौन परिचित नहीं है। इसी प्रकार गङ्गा तट पर बसे हुए गेगासों और दलमऊ क्रमशः गर्गमुनि तथा दालम्भ मुनि के निवास स्थान थे। बैसवाड़े में बौद्धकाल के अनेक स्पष्ट चिह्न मिलते हैं। जगतपुर में बौद्धों का एक स्तूप आज भी विद्यमान है। इस कस्बे के पास बौद्धकालीन सिक्के और मुहरें किसानों को अब भी हल चलाते हुए प्रायः मिल जाती हैं। सम्राट् स्कन्दगुप्त के सिक्के सेभरी ग्राम में बहुत संख्या में पाये गये। प्रतिहारों के राज्य काल में गजनवी महमूद ने कन्नौज पर जब चढ़ाई की तो उस समय उसके एक दल ने बैसवारे के हुडहा ग्राम पर आक्रमण किया और उसे अपना केन्द्र बनाया। महमूद के बाद सैयद सालार ने दलमऊ पर आक्रमण किया था। मुसलमान शासकों से बैसवारे के तत्कालीन बैस शासकों के अनेक बार सङ्घर्ष हुए, घनघोर युद्ध हुए बैस क्षत्रियो के वंश वृक्ष का विकास-क्रम नागवंश से माना जाता है।

बैसवाड़ा, बैस क्षत्रियों की केन्द्रीभूत सत्ता का केन्द्र विन्दु रहा, किन्तु इस प्रदेश पर सर्व-प्रथम जौनपुर के सुल्तान इब्राहिम शाह शर्की ने अपनी सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया। परन्तु बैस क्षत्रियों की शक्ति और एकता की प्रबल लहर ने उस पर ऐसा आघात किया कि अपनी महत्वाकांक्षा को पुनः जाग्रत होने का अवसर न प्रदान किया। जब मुगल बादशाह हुमायूँ को ईरान मे खदेड़ कर दिल्ली का बादशाह पठान शेरशाह हुआ तब उसने अपने राज्य की सर्वप्रथम भूमिकर नीति के ° बैसवारे कृषकों से वार्षिक आय अनुमान कर चतुर्थांश भाग लेना प्रारम्भ किया था

आईन ए अकबरी के अनुसार मुगलो के ७ मे बसवाड़ के कुछ पराने लखनऊ सरकार (अवध सूबे) में और कुछ परगने मानिकपुर सरकार (इलाहाबाद सूबों) में सम्मिलित कर दिये गये थे। लखनऊ सरकार में बैसवाड़े के परगने इस प्रकार दिये हुए हैं—ऊँचागाँव, शेढ़पुर, रणवीरपुर, डलमऊ, मौरावाँ, सरवन, कुम्मी, भगरापल, पनहन, पाटन, घाटमपुर, मोहान, असीवन, लगर, तारा सिवौरा, देवरख, कहँजर, सातनपुर, हैहार (ऐंहार) मानिकपुर सरकार मे सम्मिलित परगने निम्नलिखित थे घुलेन्दी और रायबरेली। घुलेन्दी अब वछरावाँ के नाम से प्रसिद्ध है। सन् १७३२ ई० में नवाब सआदत अली खाँ बुर्हान्मुल्क अवध के सूबेदार बनाये गये। इस समय दिल्ली में मुगल बादशाह बहादुरशाह का शासन था। नवाब शआदत अली खा अपनी नवीन योजना के अनुसार बैसवारे पर अन्य प्रदेशों के साथ ही नये-नये भूमिकरों को लागू किया। इसी समय उक्त नवाब ने अपने राज्य को अनेक चकलों में विभाजित किया और इस प्रकार बैसवारे को भी एक स्वतन्त्र चकला बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। बाद मे वे अवध के स्वतन्त्र शासक बन बैठे और इनके वंशधर १८५६ ई० तक अवध के सिंहासन पर राज्य करते रहे। इसके अनन्तर कम्पनी सरकार के गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी के तत्कालीन नवाब वाजिद अली शाह को सिंहासन से च्युत करके अवध के साथ ही साथ बैसवारे को भी अपने राज्य मे सम्मिलित कर लिया और १८५८ में नवीन कर-व्यवस्था के द्वारा मालगुजारी वसूल होने लगी। सन् १८६४-६५ में मैकएण्ड और जी० लौग ने रायबरेली में प्रथम बन्दोबस्त किया। कुछ समय तक बैसवाड़ा प्रान्त ब्रिटिश भारतीय साम्राज्यान्तर्गत आगरा और अवध की संयुक्त कमिश्नरी मे सम्मिलित रहा। इसका कुछ भाग उन्नाव जिला की पुरवा तहसील में और अधिक भाग रायबरेली जिले की डलमऊ और बरेली तहसील में सम्मिलित है। बैसवाड़े का प्रथम स्थायी बन्दोबस्त सन् १८६५ ई० में हुआ था। यहाँ पर जीविका का मुख्याधार कृषि है। यहा के निवासी सनातन धर्म के एवं वर्णाश्रम के अनुयायी हैं। यहाँ की बोली बैसवारी और अवधी है। मुसलमानों के राज्यकाल में यहाँ की भाषा उर्दू और फारसी थी।

साहित्यिक परिचय

बैसवारा अपनी भौगोलिक एवं शान्तिमय राजनीतिक परिस्थितियों के कारण चिरकाल से साहित्य और संस्कृति का केन्द्र रहा है। बैसवारे के प्रत्येक जनपद और कस्बे में संस्कृत, व्याकरण, साहित्य एवं दर्शन के मनन, चिन्तन एवं अध्यापन का प्रबन्ध किसी न किसी रूप में विद्यमान रहा है। राव कनकप्रकाश के आश्रय मे रहकर एक कायस्थ विद्वान् रामकृष्ण जी ने 'कनक-प्रकाश' नामक वैभव का एक ग्रन्थ संस्कृत में लिखा था। संस्कृत व्याकरण और दर्शन पर लिखित और उपलब्ध ग्रन्थों की सूची बड़ी वृहत् है। यहाँ के विद्वानों का दृष्टिकोण पारमार्थिक रहा है। बैसवारे की केन्द्रीभूत सत्ता छिन्न-भिन्न होने के पूर्व ही यहाँ के बैस क्षत्रिय नरेशों के आश्रय मे रहने वाले कवियों ने साहित्य, वैद्यक और ललित कला से सम्बन्ध रखने वाले सहस्त्रों ग्रन्थो की रचना की। कहना न होगा कि बैस क्षत्रियों के आश्रय में हिन्दी साहित्य की पर्याप्त अभिवृद्धि हुई। रावमर्दन सिंह के आश्रय में कविराज पं० सुखदेव मिश्र ने अनेक महत्वपूर्ण काव्य ग्रन्थो की रचना की रावमर्दन सिंह के पुत्र कुवर उद्योत सिंह के आश्रय मे देव कवि रहे और इसी बैसवारे

की भूमि मे प्रमलतिका ग्रन्थ की रचना की। रावमदन सिंह के द्वितीय पुत्र राजा अचल सिंह के राजदरबार मे तीर्थराज मिश्र तथा शम्भुनाथ मिश्र आदि चिरकाल तक रहे और काव्य-ग्रन्थो का प्रणयन करते रहे। वैसवार के जगन्नाथ शास्त्री महोदय, महामहोपाध्याय शिवकुमार शास्त्री के समय में काशी की लवुत्रयी में गिने जाते थे। मौरावाँ वेदों और संस्कृत-साहित्य के अध्ययन का केन्द्र होने के कारण छोटी काशी के नाम से विख्यात रहा है।

अवधी

हिन्दी की प्रादेशिक बोलियों में अवधी का प्रमुख स्थान चिरकाल से रहा है। इसके दो प्रमुख कारण है। प्रथम यह कि अवधी उस प्रदेश की बोली रही है जो आदिकाल से सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं साहित्यिक-चेतना का केन्द्र रहा है। इस प्रसङ्ग में द्वितीय कारण यह है कि हिन्दी के गौरव कवि महात्मा तुलसीदास एवम् मलिक मुहम्मद जायसी की प्रतिभाओ का विकास इसी प्रदेश की भाषा के माध्यम से हुआ है। इस बोली में दो ऐसे ग्रन्थ-रत्नों का सृजन हुआ जो हिन्दू एवं हिन्दी जनता के गले के हार बने हुए है। ये ग्रन्थ हैं 'रामचरित मानस' और 'पद्मावत'। यह पूर्वी हिन्दी की प्रमुख भाषा है। इस बोली का क्षेत्र यद्यपि प्रमुख रूप से अवध ही रहा है परन्तु इसका प्रसार आज देश के कोने-कोने में पाया जाता है। हरदोई के अतिरिक्त लगभग समस्त जनपदों और विशेष रूप से लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, बाराबङ्की, गोंडा, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, फैजाबाद, लखीमपुर खीरी आदि में अवधी बोली जाती है। बिहार प्रान्त के मुसलमान भी इस बोली का प्रयोग करते हैं। इन जिलों की कतिपय तहसीलो मे अवधी बोली और समझी जाती है। दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता, जैसे बड़े-बड़े शहरों में इस प्रदेश से जाकर बस जाने वाले लोग भी इसका इन स्थानों में प्रयोग और प्रचार करते हुए देखे जाते हैं।

सर जार्ज ग्रियर्सन ने 'पूरबी हिन्दी' बोलने वालों की संख्या का विवरण अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "लिग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया" में निम्नलिखित प्रकार से किया है :—

१. अवधी बोलने वालों की संख्या	१६,१४३,५४८
२. बघेलखण्डी	४,६१२,७५६
३. छत्तीसगढ़ी	३,७५५,९४३

देश की जनसंख्या वृद्धि के साथ ही साथ यह संख्या आज कई गुनी अधिक हो गई। ग्रियर्सन महोदय ने पूरबी हिन्दी के अन्तर्गत तीन बोलियों का अस्तित्व माना है। ये बोलियाँ है—१. अवधी, २. बघेली, ३. छत्तीसगढ़ी।

केलाग महोदय ने बघेली को रीवां प्रदेश में बोली जाने वाली रीवाँई का दूसरा रूप माना है और उसे अवधी के अत्यधिक निकट माना है।[1] डॉ० बाबूराम सक्सेना के मत से अवधी बोली की परिधि या सीमा निम्नलिखित है :—

१ उत्तर मे	नेपाल की भाषाएँ
२ पूर्व में	भोजपुरी

३. दक्षिण मे   मराठा
४. पश्चिम में   पछाहीं हिन्दी। कन्नौजी एवं बुन्देलखण्डी।[२]

अवधी के तीन रूप

डॉ० श्यामसुन्दरदास ने अवधी के अन्तर्गत तीन प्रमुख बोलियों—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी—को मान्यता प्रदान की है। उनका कथन है कि 'अवधी के अन्तर्गत तीन मुख्य बोलियाँ है, अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। अवधी और बघेली में कोई अन्तर नहीं है। बघेलखण्ड मे बोले जाने के ही कारण वहाँ अवधी का नाम बघेली पड़ गया। छत्तीसगढ़ी पर मराठी और उडिया का प्रभाव पड़ा और इस कारण वह अवधी से कुछ बातों में भिन्न हो गई है। हिन्दी साहित्य मे अवधी ने एक प्रधान स्थान ग्रहण कर लिया। यह तो हुआ अवधी के अन्तर्गत उपलब्ध तीन बोलियों के विषय में डॉ० श्यामसुन्दर जी का कथन। परन्तु इन तीन बोलियों के अतिरिक्त अवधी के भी तीन रूप हैं। इनमें से सर्वप्रथम है पूर्वी अवधी, द्वितीय है पश्चिमी अवधी और तृतीय है वैसवारी अवधी। अवधी के इन तीन रूपों का क्षेत्र और व्याकरण-भेद भी विचारणीय है। सर्वप्रथम पूरबी अवधी को लीजिये। पूरबी अवधी गोंडा, अयोध्या, फैजाबाद एवम् उसके समीपस्थ प्रदेश में बोली जाती है। भाषा-विज्ञान के आचार्यों ने इसे 'शुद्ध अवधी' पश्चिमी अवधी के व्यवहार का क्षेत्र लखनऊ से कन्नौज तक माना है। इसके अनन्तर अवधी का तीसरा रूप है 'वैसवाड़ी अवधी'। इसका व्यवहार क्षेत्र वैसवाड़ा माना जाता है।

पूर्वी हिन्दी (अवधी) के दो रूप प्रचलित हैं—प्रथम है पश्चिमी अवधी और द्वितीय है पूरबी अवधी। इन दोनों की मध्यवर्ती भाषा है वैसवारी। अब इनका सीमा-निर्धारण और प्रदेश विचारणीय है। पूरबी अवधी का क्षेत्र अयोध्या और गोंडा है। इसे शुद्ध अवधी भी कहा गया है। पच्छिमी अवधी का क्षेत्र लखनऊ से कन्नौज तक है। इसी क्षेत्र में रायबरेली, उन्नाव, और लखनऊ का कुछ भाग आ जाता है, जहाँ वैसवारी बोली जाती है। वैसवारी की सीमा वैसवाडा प्रदेश की सीमा तक ही निर्धारित है। वैसवारी इसी पश्चिमी अवधी का एक रूप है। यह अवधी से उत्पन्न होकर भी अपनी पृथक् अस्तित्व और विशेषताएँ रखती है। इटावा और कन्नौज मे बोली जाने वाली पश्चिमी हिन्दी, रूप एवम् आकार में बहुत कुछ ब्रजभाषा से साम्य रखती हे। इस अवधी में शब्दों के ओकारान्त रूप भी उपलब्ध हो जाते हैं, जो ब्रजभाषा से साम्य रखने का स्पष्ट प्रमाण है।

कुछ विद्वानों ने वैसवारी को प्राचीन वैसवारी के रूप में भी ग्रहण किया है। उदाहरणार्थ प्रसिद्ध वैयाकरण कैलाग महोदय ने लिखा है—

"अपने साहित्यिक महत्व एवं धार्मिक प्रभाव के कारण तुलसीदास के 'रामायण' की प्राचीन वैसवाड़ी पूर्वी बोलियों के अन्तर्गत विशेष रूप से विचारणीय है। कहना न होगा कि तुलसीदास ने छन्द विधान की आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य से अथवा अपनी कल्पना की प्रेरणा से, हिन्दी की विविध बोलियों से ही नहीं, वरन् प्राकृत और संस्कृत तक से व्याकरणिक रूपों को ग्रहण करने में अत्यधिक   से काम लिया है।[३]"

कैलाग महोदय से साम्य रखने वाला मत है एफ० ई० के का उनके शब्दो में

तुलसीदास ने पूर्वी हिंदी के अन्तर्गत प्राचीन बसवाडी अथवा अवधी बोली का प्रयोग किया है और उनके प्रभाव से उनके समय से लेकर आज तक राम-काव्य की रचना साधारणत इसी बोली में होती आई है।[४] डॉ० बाबूराम सक्सेना ने वैसवारी को प्राचीन अवधी का नाम दिया है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में डॉ० सक्सेना का कथन है कि साहित्यिक क्षेत्र में अवधी तुलसीदास के रामचरित मानस में प्रयुक्त होकर अमर हो गई है। प्राचीन अवधी में महत्वपूर्ण रचना हुई, यद्यपि इसका इतना विस्तार नहीं है जितना ब्रज का।[५]

केलाग एवं के महोदय ने वैसवारी का प्राचीन वैसवारी के नाम से उल्लेख किया है ओर डॉ० सक्सेना ने वैसवारी का प्राचीन अवधी के रूप में उल्लेख किया है। डॉ० ग्रियर्सन ने वैसवारी को अवधी का पर्याय माना है।[६] डॉ० सक्सेना ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'एवल्यूशन ऑव् अवधी' में अवधी को वैसवारी का पर्याय माना है—

"इस बोली (अवधी)[७] का बोध कराने के लिये एक दूसरा नाम भी व्यवहृत हुआ है, और वह है वैसवारी।"

वस्तुत: अवधी और वैसवारी क्षेत्रों से सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्ति यह भली-भाँति जानते है कि वैसवारी न तो प्राचीन अवधी है न अवधी का पर्याय ही है। वैसवारी, अवधी के अन्तर्गत जीवित और बोली जाने वाली एक बोली है जिसकी अपनी पृथक् सत्ता, पृथक् उच्चारण ओर किञ्चित पृथक् व्याकरण भी है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वैसवारी अवधी से सर्वथा भिन्न या पृथक् बोली है। इस सम्बन्ध में लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यापक डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव का कथन पठनीय है—"वैसवारी अवधी का पर्याय नहीं है वरन् उसी के विस्तृत क्षेत्र के अन्तर्गत एक सीमित प्रदेश में प्रचलित बोली है।" श्री केलाग महोदय का जिन्होंने 'रामचरितमानस' की भाषा को 'प्राचीन वैसवाड़ी' का नाम दिया है, विचार यद्यपि इस विषय में अधिक स्पष्ट नहीं है, परन्तु उनके कथनों से इतना अवश्य स्पष्ट है कि वे वैसवारी को अवधी से सर्वथा भिन्न स्वतन्त्र बोली मानते हैं।

अवधी एवं वैसवारी के सम्बन्ध में चार विभिन्न विचार हमारे विचारार्थ प्रस्तुत है—

१. केलाग महोदय के मतानुसार वैसवाड़ी अवधी से सर्वथा भिन्न है। परन्तु वैसवाड़ी का अवध एवं रीवा की वर्तमान बोलियों से निकट सम्बन्ध है। इसका मूल रूप रामचरितमानस मे दर्शनीय है।

२. ग्रियर्सन महोदय के मत से वैसवाड़ी एक विस्तृत क्षेत्र की भाषा है। इसके अन्तर्गत बुन्देलखण्डी, रिवांई तथा अवधी बोलियाँ है। इसीलिए कभी-कभी 'बैसवाड़ी' अवधी के पर्याय के रूप मे ग्रहण की गई है।

३. डॉ० बाबूराम सक्सेना के मत से वैसवाड़ी अवधी के अन्तर्गत एक बोली है जो सीमित प्रदेश उन्नाव, लखनऊ, रायबरेली, फतेहपुर में बोली जाती है।

४. डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव का सक्सेना जी से मत-साम्य है। वे उनके मत को "अधिक स्पष्ट यथार्थ एवं युक्तिसङ्गत मानते हैं।[८]"

हमारे मत से ग्रियर्सन का मत भ्रमपूर्ण है नवीन अनुसन्धानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि बुन्देलखण्डी पश्चिमी हिन्दी के है

अवधी और बैसवारी में भेद

अवधी और वैसवारी का पारस्परिक सम्बन्ध पीछे स्पष्ट किया जा चुका है। अवधी के अन्तर्गत एक उपबोली होने पर भी व्याकरण और उच्चारण की दृष्टि से बैसवारी की अपनी विशेषताएँ हैं। अब यहाँ पर हम व्याकरण की दृष्टि से उपलब्ध अवधी एवं वैसवारी के भेद पर विचार करेंगे। व्याकरण और उच्चारण की दृष्टि से दोनों में प्रचुर भेद है। यहाँ पर पहले हम व्याकरणगत भेद पर विचार करेंगे—

१. वर्तमान काल की सहायक क्रिया

(क) वैसवारी मे (मैं) आहेउं (हम) आहिन
(तू) आहिस (तुम) आहेउ
(ऊ) आहि, आय (वे) आहीं

अवधी का (इन तीनों रूप की तुलना में) झुकाव बा, बाटै की ओर अधिक है।

(ख) वैसवारी में है के लिये 'हन' का प्रयोग होता है परन्तु अवधी में इसके लिए 'अहैं' प्रयुक्त होता है।

२. बांदा में बोली जाने वाली वैसवारी के विशेष प्रयोगों में संज्ञा कारक चिह्न है खर, खै जबकि अवधी में इसके अल्पप्राण रूप 'कर', 'कै' मिलते हैं। यथा—

वैसवारी	**अवधी**
ओखर दासा	रामकर दासा

३. वैसवारी क्षेत्र में कर्ता कारक चिह्न 'नें' प्रवेश कर गया है, जबकि अवधी में इसका प्रयोग नही हो रहा है।

४. भूतकालिक सकर्मक क्रिया अपने वचन और लिङ्ग के प्रयोग में कर्म के अनुसार परिवर्तित होती चलती है। यह परिनिष्ठित हिन्दी की विशेपता है, जो कि पुरानी अवधी तथा पूर्वी अवधी में देखने को नहीं मिलती है। यथा,

दीन्हा नैन पंथ पहिचानौ।
कीन्हा रात मिलै सुख जानै। (यहाँ कर्ता सिजनहार है)

हिन्दी के अनुसार 'दीन्हा' और 'कीन्हा' के स्थान पर उससे 'दीन्हे' एवं 'कीन्हे' रूप होने चाहिये। वैसवाड़ी अवधी के प्रभावस्वरूप उक्त प्रवृत्ति विकसित हो गई है। 'मानस' मे भी इस विकसित प्रवृत्ति के दर्शन किये जा सकते हैं और आधुनिक वैसवाड़ी में। 'मानस' में 'ते देखे दोउ भ्राता'—यहाँ 'भ्राता' कर्म वहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। उन्हीं के प्रभावस्वरूप क्रिया वहुवचनान्त हो गई है।

५. भविष्यत् कालिक रचना में अवधी की प्रवृत्ति 'ब' प्रत्यय के योग की है। साथ ही उसके भिन्न ——— ८ ——— रूप भी है यथा 'वा' 'बै' 'व्या' आदि · परन्तु वैसवारी अवधी का झुकाव ह' रूपान्तरो की ओर ही अधिक है केवल उत्तम पुरुष के रूप के साथ ही ब' मिलता है यथा

हम जाब हम जइब
तू जइहैं, तुम जइहौ।
ऊ जाई, उइ जइहै।

'मानस' की भाषा का अध्ययन करने से प्रकट होता है कि उसमें वैसवारी के समस्त भविष्यत् कालबोधक रूप प्रचुरता के साथ प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरणार्थ :—

(१) हम सब भाँति करब सेवकाई (अयो० कां०)
(२) लेब भली विघ लोचन लाहू (बा० कां०)
(३) यहि विधि भलेहि देव हित होई (बा० कां०)
(४) सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं। मारग जनित सकल श्रम हरिहौं॥ (अयो० कां०)
(५) गए सरन प्रभु राखि हैं, तव अपराध बिसारि (सु० कां०)
(६) कपि सेन सङ्ग संघारि निसिचर रामु सीतहि आनिहैं (कि० कां०)
(७) राम काज सब करिहहु, तुम्ह बल बुद्धि निधान (सु० कां०)

६. क्रियार्थक संज्ञा में विकृत रूप एकवचन में अवधी रूप निरनुनासिक रहते हैं, जबकि वैसवारी की प्रवृत्ति अनुनासिकता की ओर है। यथा—

घूमँ तें—अवधी
घूमैं तै—वैसवारी
रहै तें—अवधी
रहैं तें—वैसवारी
उठै तें—अवधी
उठैं तै—वैसवारी

७. कारक चिह्नों के रूप—

कारक	खड़ीबोली	अवधी	वैसवारी
१. कर्त्ता			
२. कर्म	को, लिए, खातिर	क, हि, हिं, कहं, के, कां	का, कैं, कौ
३. करण	ने, द्वारा, से	सत, से, सौं	ते, तें, तैं
४. सम्प्रदान	को, लिए, खातिर, तईं	क, कहं, के	का, कें, कै, कौ, के, बरे, की
५. अपादान	से	सन, सेन, ते, तहं, ते	सौ, सौ, तैं, तें ते
६. सम्बन्ध	का, की, के	कर, करे, केरा, केरी, के, कै, केरि, केर	कैं, क्यार, क्यरि, क्वार, के, कन
७. अधिकरण	में, पर, तक	म, मा, मह, माहि मांझु, मुह, मुहु, मंझारि, पै परि, ऊपरि, पर, लागि, लग	मैंह्या, मांहीं, मंहं, लाग, लग्ग

८. सम्बन्ध वाचक सर्वनाम विषयक भेद :—

१. खड़ी बोली	—	मेरा, तेरा, उसका, सबका
२. अवधी	—	मोर-तोर, उहिका, सबकेर
३. वैसवारी	—	म्वार, त्वार, वाहिका, सबक्यार

बोली	सर्वनामों के रूप	वाक्य
१. खड़ीबोली	कौ, जो, वह	वहाँ कौन जायगा
२. पूरबी अवधी	के, जे, से	हुवा के जाई
३. पच्छिमी	को, जो, सो	हुवां को जैहै
४. वैसवारी	कों, जों, सों	हुवां कों जइहैं

१०. क्रियागत भेद—

खड़ी बोली	पश्चिमी अवधी	पूरबी अवधी	बैसवारी अवधी
१. आना	आवन	आउब	अइबे
२. जाना	जान	जाव	जइबे
३. करना	करन	करब	करिबे
४. रहना	रहन	रहब	रहिबे

११. वैसवारी अवधी में (जहाँ तक सर्वनाम रूपों का सम्बन्ध है) वचन भेद के अनुसार उत्तम पुरुष के अन्तर्गत दो रूप मिलते है। ये रूप हैं (१) मैं तथा (२) हम। परन्तु पूर्वी अवधी में केवल 'हम' का प्रयोग होता है। रामचरितमानस में दोनों रूप मिलते हैं—

(१) हम तो आजु जनम फलु पावा।
(२) मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा।

वैसवारी में मध्यम पुरुष में 'तुइ' और 'तुम' और पूरबी अवधी में 'तू' और 'तूं' का प्रयोग होता है। अन्य पुरुष के लिये वैसवारी में 'वहु' तथा 'उइ' और पूर्वी अवधी में 'ऊ' और 'वो' का प्रयोग किया जाता है। सम्बन्धवाचक रूपों में 'जो' का प्रयोग सर्वत्र मिलता है, परन्तु प्रश्न-वाचक रूपों में भिन्नता है। वैसवारी में इस अर्थ में 'को' तथा 'का' का व्यवहार होता है। पूर्वी अवधी में इसके लिये 'के' तथा 'काऊ' का प्रयोग होता है।

वैसवारी में सर्वनामों में सम्बन्ध कारक रूप होते है—'हेमार', 'उनकै', 'वहिकै,' 'इनकै', 'जेहिकै' आदि परन्तु पूर्वी अवधी में यही रूप 'मोर', 'तोर' 'जाका', आदि है।

१२. क्रिया रूप—

पूर्वी अवधी में जो अर्थ 'हम देत हई' से व्यक्त होता है, उसे प्रकट करने के लिये वैसवारी में 'हम देदत हैं' का प्रयोग होता है

१३ के रूपों मे पूर्वी अवधी एव वैसवारी दोनों मे ही मूल धातु के

साथ प्राय इसि इन यो तथा आ प्रययो का योग मिलता है जैसे वहु कहिसि 'उइ कहिन', 'तुम कह्यौं', मानस में भी इनका प्रयोग इसी रूप मे मिलता है—'मारेसि मेघनाद की छाती', 'कहेसि सकल निसिचरिन्ह बोलाई', 'अनुपम बालक देखेन्हि जाई', 'देखेउँ नयन राम कर दूता', 'हेतु न दूसर मैं कछु जाना।'

१४. अपूर्ण भूतकाल बोधक वाक्यों का सङ्गठन अवधी में इस प्रकार होता है—

'तू आवत रह्या', 'हम आवत रहै', 'वे आवत रहें', 'उइ आवत रहा' बैसवारी

में इनका प्रयोग निम्नलिखित प्रकार से होता है—

'तुम आवत रहौ', 'हम आइत रहै', 'मैं आवत रह्यौं', 'उइ आवत रहैं'।

पूर्ण भूतकाल के रूप पूर्वी अवधी में इस प्रकार होंगे—

हम आए रहे, वे आए रहे, सब आ रहे।

परन्तु बैसवारी में इनके रूप होंगे—

हम आए रहन, उइ आए रहें, वहु आई रहै, सब आए रहैं।

१५. बैसवारी में सामान्य सङ्केतार्थकाल के रूप इस प्रकार होंगे—

मैं होते उँ, हम होइत, तुम होत्यो, उइ होतीं।

परन्तु पूर्वी अवधी में इसके रूप निम्नलिखित होते हैं—

हम होते, वे होते, तू होत्या।

मानस में बैसवारी के प्रयोग बहुत मिलते हैं। उदाहरणार्थ, 'पितहिं खाइ खातेउँ पुनि तोहीं', 'तौ पन करि होतेऊँ न हँसाई', 'करतेहु राजत तुम्हहि न दोसू', 'जो तुम्ह अवतेहु मुनि की नाँई'।

अवधी और बैसवारी का भेद प्रदर्शित करने के लिये इतने उदाहरण पर्याप्त हैं। इनके अतिरिक्त दोनों बोलियों में व्याकरण गलत था। उच्चारण-विषयक अन्य भेद-विभेद है जिनका उल्लेख विस्तार भय के कारण नहीं किया जा रहा है।

बैसवारी की उच्चारण-विषयक अपनी विशेषताएँ है। बैसवारी में 'व', 'य' और 'र' का प्रयोग प्रचुरता के साथ होता है। उदाहरणार्थ, यहाँ पर कतिपय शब्द उद्धृत किए जाते हैं—

'व' का प्रयोग—

तोर	त्वार
मोर	म्वार
भोर	भ्वार
शोर	स्वार
चोर	च्वार

'य' का प्रयोग—

सियार	स्यार
का	क्वार
उजाला	उजियार

'र' का प्रयोग—

जलना	जरना
फलना	फरना
टलना	टरना
उलझना	उरझना
थाली	थारी

बैसवारी-साहित्य

वैसवारे की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रदेश मुख्यतया बैस ठाकुरों द्वारा बसाया गया था तथा इस प्रदेश का वीरता और साहसपूर्ण परम्पराओं से बड़ा निकट सम्बन्ध रहा है। अवधी का सर्वप्रथम काव्य-ग्रन्थ (जो इस समय तक उपलब्ध है) सं० १२३० में वीरकाव्य के सुप्रसिद्ध एवं यशस्वी कवि जगनिक द्वारा लिखा गया। इस ग्रन्थ का नाम है 'आल्ह-खण्ड'। इसकी कथा का सम्बद्ध महोबे के वीरों के चरित्र से है। आल्हखण्ड उत्तरभारत और विशेषरूप से वैसवारे की एक बड़ी ही लोकप्रिय रचना है। 'आल्ह खण्ड' की भाषा अवधी है जिसमें वैसवारी की प्रधानता है। इस ग्रन्थ की भाषा मे वैसवारी की कहावतों, क्रिया पदों और उच्चारण की विशेषताओं की प्रचुरता है। अधिक समय तक मौखिक रहने के कारण इसकी भाषा में अन्य भाषाओं और बोलियों के शब्दों ने घर कर लिया है। 'आल्ह खण्ड' की भाषा इस बात का प्रमाण है कि सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा भी ओजपूर्ण विषयों की रचना का माध्यम बन सकती है। 'आल्ह खण्ड' की भाषा में ओज और प्रवाह सर्वत्र विद्यमान है। वैसवारी में वीररस के सम्वन्धित भावों को व्यक्त करने की सुन्दर शक्ति है। जगनिक का 'आल्ह खण्ड' 'रामचरितमानस' के अनन्तर अवध प्रदेश का सबसे लोकप्रिय ग्रन्थ है।

भक्तिकाल में साहित्य चार धारा में प्रवाहित हुआ—जिनमें प्रथम सन्त-काव्य, द्वितीय प्रेम-काव्य, तृतीय राम-काव्य तथा चतुर्थ कृष्ण-काव्य है। इनमें से कृष्ण-काव्य की रचना तो पूर्णतया व्रजभाषा में हुई। प्रेमकाव्य और राम साहित्य का अधिकांश अवधी में लिखा गया जिसमें वैसवारी की घनीभूत छाया अङ्कित है। कारण कि इस साहित्य के अधिक कवि अवध प्रदेश के ही निवासी थे या किसी न किसी रूप में इनका सम्बन्ध इस प्रदेश से अवश्य था। सन्त साहित्य की भाषा यों तो 'सधुक्कड़ी' कही जाती है, परन्तु इस साहित्य के भी कुछ कवि हैं जिन्होंने अवधी के माध्यम से भावों की अभिव्यक्ति की थी।

सन्त कवियों में अवधी के से काव्य रचना करने वाले कवियों की एक सूची आज से प्राय चार वर्ष पूर्व प्रकाशित अपने ग्रन्थ अवधी और उसका साहित्य' मे प्रस्तुत का गयी थी

इस सूची में मैंने सन्त मलूकदास, सन्त मथुरादास, सन्त धरनीदास, सन्त चरनदास तथा सन्त कवि रामरूप जी का उल्लेख किया था। प्रस्तुत सूची में सन्त पलटू साहब और भीखा साहब का भी उल्लेख कर देना आवश्यक होगा। पलटू साहब अयोध्या के निवासी थे। कवियों की भाषा में वैसवार के शब्दों और कहावतों का प्रयोग खूब हुआ है। मलूकदास तथा पलटू साहब की कविता मे वैसवारी शब्द प्रचुरता के साथ प्रयुक्त हुए हैं। 'प्रेम-काव्य' के लेखकों में अवधी के माध्यम से कविता लिखने वाले मुसलमान कवियो मे मैंने अपने ग्रन्थ 'अवधी और उसका साहित्य' मे, कुतबन, मंझन, जायसी, कासिम शाह, निसार कवि, ख्वाजा अहमद, शेख रहीम, नसीर, उसमान, नूरमुहम्मद, आलम तथा हिन्दू कवियों मे ईश्वरदास, पुहकर, नरपति व्यास, गोवर्धनदास के पुत्र सूरदास, दुःखहरनदास, कोटा नरेश मुकुन्द सिंह, जन कुन्ज, कवि सेवाराम तथा जीवनलाल नागर का विशेष समादर के साथ उल्लेख किया है। इनमें से निसार कवि, कासिमशाह तथा ख्वाजा अहमद वैसवारे के निकटवर्ती प्रदेश के निवासी थे। जायसी भी रायबरेली के गौरव कवि थे। इन चारो की कविता में वैसवारी के शब्दों और क्रियाओं के सुन्दर प्रयोग मिलते हैं। जितना सुन्दर इनका काव्य विषय है, उतनी ही सम्मोहक इनकी भाषा भी है। ऊपर कहा जा चुका है कि वीर रस से सम्बन्धित भावों की अभिव्यक्ति के लिये वैसवारी बहुत उपयुक्त बोली है। परन्तु इन कवियो की रचनाएं देखकर कहना पड़ता है कि नहीं वैसवारी या अवधी में प्रेम एवं सजातीय भावनाओ को मधुर एवं हृदयग्राही ढङ्ग से व्यक्त करने की भी अपार शक्ति है। वैसवारी की दृष्टि से जायसी की भाषागत विशेषताओं का सविस्तार वर्णन 'अवधी और उसका साहित्य' के ३६ से ४० पृष्ठो मे किया है। अतः पुनरुक्ति अपेक्षित नही है। उसमान, आलम, नूरमुहम्मद आदि के काव्य में भी वैसवारी का सुष्ठु रूप उपलब्ध होता है। आश्चर्य है कि हिन्दू प्रेमाख्यानकारों की तुलना मे मुसलमान प्रेमाख्यानकारों की भाषा वैसवारी के अधिक निकट है। 'राम काव्य' के अन्तर्गत हिन्दी के श्रेष्ठ ग्रन्थ की रचना वैसवारी में ही हुई। ग्रियर्सन, के, केलाग तथा डॉ० बाबूराम सक्सेना ने एक स्वर से इस तथ्य को स्वीकार किया है। 'मानस' में वैसवारी का प्राञ्जल और सुन्दर रूप देखने को मिलता है। मानस की भाषा मूलतः वैसवारी है परन्तु साथ ही अवधी के अन्य विविध रूपों का प्रयोग भी खूब हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य बोलियों और उपबोलियों के शब्दों का प्रयोग हमारे कवि ने, स्थान-स्थान पर किया है। इस ग्रन्थ की भाषा के सम्बन्ध में मेरा आलोचनात्मक मत प्रायः सात-आठ पृष्ठों 'में अवधी भाषा और उसका साहित्य' में मिल जायगा। सक्षेप मे यही कहना है कि तुलसीदास जैसा विश्वविश्रुत, अमर कवि और अनन्यभक्त पाकर वैसवारी धन्य हो गई। जब तक मानस जीवित है तब तक वैसवारी की ध्वजा सदैव फहराती रहेगी। राम-काव्य के उन लेखकों की सूची बहुत वृहत् है जिन्होंने अवधी एवं वैसवारी मे कविता की रचना की। रीतिकाल में अवधी या वैसवारी काव्य धारा की कोई विशेष प्रगति नहीं दीख पडती है। रीतिकाल के भाषादर्श का वर्णन कविवर दास ने निम्नलिखित छन्द में कर दिया है—

ब्रज भाषा भाषा रुचिर, कहै सुमति सब कोइ।
मिलै संस्कृत पारस्यो, पै अति प्रकट जु होइ॥
ब्रज मागधी मिलै अमर नाग यवन भाखानि।
सहज पारसीहू मिलै षट विधि कहत बखानि।

दास जी मिली-जुली भाषा के समर्थक थे। वे कहते हैं—

> **तुलसी गंग दुवौ भये, सुकविन के सरदार।**
> **इनके काव्यन में मिली, भाषा विविध प्रकार॥**

इस दोहे को पढ़ जाने के अनन्तर रीतिकालीन काव्य-भाषा के आदर्श के सम्बन्ध में कुछ अधिक कहने के लिये नहीं रह जाता है।

आधुनिक काल

भारतेन्दु युग में प्रतापनारायण मिश्र वैसवारी के श्रेष्ठ कवि थे। उनकी 'आठ मास बीते जजमान', 'बुढापा', 'आल्हा', 'गैय्या माता' आदि रचनाएं आप भूले नहीं होंगे। इनमें वैसवारी का बहुत ही अच्छा, स्वाभाविक और सरल रूप दृष्टिगत होता है। मिश्र जी की वैसवारी मे तीव्र व्यंग्य और हास्य की छटा बड़ी मनोहर है। इस युग में शुकदेव मिश्र (डौंडियाखेरा), शिवसिंह सेंगर (काथा), सूवंश शुक्ल (विहगपुर), जगन्नाथ अवस्थी (सुमेरुपुर), भवन कवि (वेती), वादेराय (डलमऊ), भवानीप्रसाद पाठक, 'भावन' (मौरावाँ) आदि अनेक कवि हुए। इनका विस्तृत विवरण 'अवधी और उसका साहित्य' में पृष्ठ ७० एवं ७७ पर दिया हुआ है। कवियो की रचनाएं अधिकतर अब भी अप्रकाशित हैं।

द्विवेदी-युग

इस समय की हिन्दी की चेतना के केन्द्रविन्दु आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। द्विवेदी जी स्वय वैसवारी में काव्य-रचना करते थे। वैसवारी में लिखित उनकी रचना 'आल्हा' बड़ी ही हृदयग्राही है। यह वैसवारी की विशुद्ध रचना है। इनके अतिरिक्त ज्वालाप्रसाद, शिवरत्न मिश्र, महारानी, गंगाप्रसाद, हरतालिका प्रसाद, अजदत्त, अम्बिकाप्रसाद, वैजनाथ, राममनोहर, ललितकरण, माधवप्रसाद, जयगोविन्द, गुरुप्रसाद, इन्द्रदत्त, गयाचरण, रघुवंश तथा प्रयाग दत्त आदि ने भी वैसवारी में काव्य की रचना की।

वर्तमानकाल

वर्तमानकाल में अवधी और वैसवारी में काव्य लिखने वालों में विशेष रूप से उल्लेखनीय है पढीस जी, वंशीधर शुक्ल, रमई काका तथा देहाती जी। इनमें से पढीस जी तथा वंशीधर शुक्ल ने सीतापुरी अवधी में काव्य रचना की। इन कवियों का ध्यान मुक्तक की ओर अधिक गया। इनकी रचनाओं में अवधी प्रदेश के अन्तर्गत प्रयुक्त और प्रचलित मुहावरों का प्रयोग बड़ी सफलता के साथ हुआ। इनकी रचनाओं में विद्रोह और असन्तोष की भावना व्यक्त हुई है।[१] यद्यपि इनकी रचनाएँ सीतापुरी अवधी में लिखी गई हैं पर उनमें वैसवारी के शब्दों की भी स्पष्ट छाप है।

वर्तमान काल में शुद्ध वैसावारी में काव्यरचना करनेवालों में पं० चन्द्रभूषण त्रिवेदी रमई काका' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है रमई काका सन् १९४२ से लखनऊ के रेडियो स्टेशन में घर का कर रहे हैं इनकी कविता में शत-प्रतिशत वैसवारी के शब्दों

का प्रयोग होता है वे काव्य के क्षत्र मे किसानो की नई विद्रोही भावनाओ के चित्रकार है हास्य व्यंग्य की रचना के साथ-साथ मुहावरों का प्रयोग करने मे रमई काका सिद्धहस्त है। बौछार, मिनसार, रतौंधी, नेता जी, फुहार इनकी प्रकाशित रचनाएँ हैं। उनकी एक नवीनतम रचना 'वोटन के माँग'---से कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत की जाती है---

कहौ हम कउनी कइती जाईं?
सबकी डफली अलग अलग, और रागु रहा अलगाई।
कहौ हम कउनी कइती जाईं?
लरिकउना है संघी होइगा, बप्पा हिन्दु सभाई।
कम्युनिस्ट है भइया हमरे, कंगरेसिनि भउजाई।
कहौ हम कउनी कइती जाईं?
बप्पा राम जोहार करत है, नमस्कार लरिकउना।
भउजाई जयहिन्द कहैं, तव घूंसा तानैं भाई॥
कहौ हम कउनी कइती जाईं?

रमई काका की वर्णन शक्ति अद्भुत है। उनकी वर्णन शक्ति काव्य में सजीवता उत्पन्न कर देती है। वे नवयुग के किसानों की विद्रोही आत्मा को पहचानने में बहुत सफल और समर्थ हैं। निस्सन्देह रमई काका वर्तमान बैसवारी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं।

रमई काका के अनन्तर देहाती जी उल्लेखनीय हैं। आप बड़े मौलिक और प्रतिभावान् कवि हैं। इनके व्यंग्य बड़े प्रभावशाली और कलात्मक होते हैं। उदाहरणार्थ---

ई चारिउ नित ही पछितांस।
इनके रहै न पैसा पास॥
अनपढ़ मनई बड़ पढ़ जोय।
सूरज उगै पर उठै जो सोय॥
कामु परै तो देवै रोय।
कहै दिहाती करु विश्वास॥
इनके रहै न पैसा पास।
ई चारिउ नितही पछितात॥

देहाती जी के अतिरिक्त ब्रजनन्दन जी (निवासी लालगंज, रायबरेली), नूतन जी (मौरावां), लिखीस जी, सोने लाल द्विवेदी (मौरावां), सुमित्राकुमारी सिन्हा (उन्नाव), सुरेन्द्रकुमार दीक्षित (लखनऊ), रमाकान्त श्रीवास्तव (उन्नाव) आदि बैसवारी के प्रतिष्ठित कवि हैं। इनके अतिरिक्त 'चमरौधा' काव्य-संग्रह के लेखक कृपाशंकर मिश्र 'निर्द्वन्द्व' लोक-रीति के रचयिता देवीरत्न अवस्थी 'करील', ठोकर के प्रणेता वागीश शास्त्री, दूब-अच्छत के कवि श्याम तिवारी तथा रामकुमार सिंह जैसे अन्य नवयुवक बड़े उत्साह के साथ बैसवारी की भावानुभूति का माध्यम बना कर काव्य रचना कर रहे हैं इनकी रचनाओ में व्यग्य का स्वर प्रमुख

है। ये कवि विद्रोह में विश्वास करते हैं। सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याओं को इन्होंने बड़ी कुशलता के साथ व्यंग्य का लक्ष्य बनाया है। अपनी रचनाओं द्वारा ये बैसवारा प्रदेश में जन-जागरण समुत्पन्न करने का प्रयास कर रहे हैं।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. एवल्यूशन ऑव अवधी, डॉ० बाबूराम सक्सेना, पृ० २।

२. एवल्यूशन ऑव अवधी, डॉ० बाबूराम सक्सेना, पृष्ठ ३।

३. Among the Eastern dialects, the old Baiswari of the Ramavan of Tulsidas deserves special attention, on account of the literary importance and religious influence of this poem.—A Grammar of Hindi Language, Second Ed., p. 78-79.

४. The dialect, which Tulsidas uses is the old Baiswari or Awadhi dialect of Eastern Hindi and through his influence Ramati poetry since his day has generally been in this dialect.—A History of Hindi Literature, F. E. Keay, p. 54.

५. In the literary field, Awadhi stands immortalised in Ram Charit manas of Tulsidas....Quite an important literature, though not as extensive as that of Braj, however exists in Early Awadhi.—Evolution of Awadhi, Dr. B. R. Saxena, p. 9 & 12. (Introduction)

६. Linguistic Survey of India, Vol. vi.

७. Another name employed to devote this language is Baiswari, but it is generally and more appropriately used for a restricted area of Awadhi that of Baiswari.—Evolution of Awadhi Introduction.

८. रामचरितमानस की भाषा, पृ० ४०।

९. विशेष विवरण के लिये देखिये, 'अवधी और उसके साहित्य, पृ० ८०, ८९ तक।

तीन

धान, चावल, भात तथा इनसे बने सन्धानों से सम्बन्धित कश्मीरी शब्दावली

हरिहरप्रसाद गुप्त

[कश्मीरी भाषा में हिन्दी की अपेक्षा स्वरों की संख्या अधिक है। कश्मीरी स्वरों के ध्वनि-चिह्न नहीं है, अतः हिन्दी के स्वर चिह्नों से ही सन्तोष करना पड़ता है।]

दान् दान्य, दां, दाज्—धान को दान् या दान्य कहते हैं। पर किसी और शब्द के पूर्व आने पर इसका उच्चारण दां, दाव् हो जाता है।

दां दल—धान कूटना।

यक दोल—शालि की पहली बार की कुटाई।

दोयिम दल—दूसरी बार की धान की कुटाई।

तोमल दल—तीसरी बार की धान या चावल की कुटाई।

तोमल दलक कोम—तीसरी बार कूटने पर निकली हुई चावल के ऊपरी भाग की छँटी मैल।

मञ्ज दल—एक बार कूटने के बाद और उसकी सफ़ाई करने के उपरान्त जब उसे फिर से ओखली में डालते हैं तो इस कुटाई को मञ्ज दल भी कहते हैं। मञ्ज=मध्य, मञ्जिम=बीच वाला। मञ्जस=बीच में।

शुप—सूप (सं० सूर्य)।

दां शुप—शालि या धान साफ करने के लिये प्रयोग में आने वाला सूप।

दां छट्टन—धान को पछोर कर साफ़ करने की क्रिया को दां छट्टन कहते हैं।

तोह्—भूसी।

तोह् करिथ त्रावुन (मु०) बहुत ही बुरा-भला कहना।

पोह् आव तोह् बरिव (भरिव) कांगरे—पोह (पौष) आया है, कांगड़ी में तोह् (भूसी) भर लो। काँगड़ी, एक प्रकार की आग की छोटी अँगीठी है। शीत से बचने के लिय इसे कपड़े के अन्दर भी रख लिया जा सकता है। काँगड़ी का आग रखने का पात्र कुम्हार बना कर देता है। ऊपरी मुँह् को छोड़ कर इसे तीन ओर से एक प्रकार के बेंत से बुना जाता है इसे हाथ मे लटका कर लिया जा सकता है

कंज—ओखली जिसमें मूसल से धान कूटा जाता है।

दां मनून—धान कूटना।

मुहुल—मूसल। छोटे-मोटे आदमी की समता मुहुल से दी जाती है। 'युहोय छुक मुहुल ह्यो'। यह विश्वास है कि नरक में पापी को आग के मुहुल से आलिङ्गन कराया जाता है। इसे नार मुहुल कहते हैं।

तोमुल—चावल, सं० तण्डुल। धान से तुष निकल जाने पर उसे तोमुल कहा जाता है। मराठी में 'तन्दूल' का प्रयोग होता है।

कोम—चावल छाँटने पर लाल गर्द जैसा जो पदार्थ निकलता है।

कनऽ—चावल के बारीक कण जो धान की कुटाई के फलस्वरूप निकलते हैं। इसे कन तोमुल भी कहते हैं।

स्युर या पोयि—चावल के छोटे भाग को स्युर या पोयि कहते हैं।

सिरि बत या पोयिबत—स्युर का भात। जब स्युर को पीस कर आटा बना लेते है तो उसे सिरि ओट कहते हैं। इसे पोयिओट भी कहते हैं।

तोमुल छलुन—चावल को पकाने के पहले उसे पानी से धोया जाता है; इसी क्रिया को तोमुल छलुन कहते हैं।

वय—जो चावल पकाने के लिय अलग कर लिया जाता है, उसे वय कहते हैं।

वय छलुन—वय को पानी से धोने को वय छलुन कहते है। तोमुल छलुन या वय छलुन, दोनो ही प्रयोग में आते हैं।

वोञ्—पानी को वोञ् (सं० तोय) कहते हैं।

छलिनवोञ्—चावल के धोवन अर्थात् उस पानी को जो चावल के धोने से प्राप्त होता है, छलिनवोञ् कहा जाता है।

ग्ररवइञ—चावल के उबलने की क्रिया को ग्ररवइञ कहते हैं।

खलन करंऽञ—कड़छी से चावल को चलाने को खलन करंऽञ कहते हैं।

पोस—चावल के उबलने के फलस्वरूप ऊपर जो झाग या फेन आता है, उसे पोस कहते हैं।

वांठ—जब चावल का ऊपरी भाग नरम पड़ गया हो पर भीतर से वह कठोर हो तो इस कठोरता को वांठ कहा जाता है।

बत—पके चावल या भात को बत बोला जाता है।

बत द्राव—भलीभाँति पक कर खिले हुए चावलों को वत द्राव कहते हैं।

अञिम्—चावल के माड़ या पीन के लिये यह शब्द है।

नार—आग को अग्नि कहते हैं पर यह शब्द केवल कर्मकाण्ड मे ही प्रचलित है। साधारण प्रयोग में अरवी का नार (आग) ही चलता है।

नार सोंचरावुन—अञिम् (माड़) निकालने के लिये आँच को धीमी करनी पड़ती है इसे नार सोंचरावुन कहते हैं।

दान—चूल्हे को दान कहते हैं।

दान या माड निकालने के लिय भात की हाँडी का० चोट को चूल

पर से उतारकर चूल्हे या दान के पास खाली जगह मे रखते है इस क्रिया को दान बऽ कहते है।

बत प्यारुन—बत या भात से अजिम्-माड़ अलग करने को बत प्यारुन कहा जाता है।

छाव अनुन—अजिम् निकाल कर बत (भात) को पुनः शान्त अग्नि पर रखा जाता है ताकि प्रत्येक चावल फूल जाय। इस प्रक्रिया को छाव अनुन कहा जाता है।

दोंगलि बत—अधपका या पकने के करीब हो जाने पर उस भात को दोंगलि बत कहते हैं।

स्यसिबत—जब भात कहीं नरम, कहीं सख्त और कहीं पका हुआ हो तो इस प्रकार के भात को स्यसिबत कहते हैं।

फुहऽर—आँच तेज़ होने से हांड़ी के भीतरी भाग में भात की एक परत रोटी की भाँति जल कर चिपक जाती है, इस जली परत को ही फुहऽर कहते हैं।

बचुन खसुन—फुहऽर की जराहिन गंध के फैलने को बचुन खसुन कहा जाता है।

डुब ठान थवुन—हाँड़ी या पतीली को जब शान्त अग्नि पर रखा जाता है तब पतीली के ढक्कन को उलट कर रखते है ताकि चावल भलीभाँति फूले—ढक्कन को इस प्रकार रखने को डुबठान थवुन कहते हैं।

पशपुन—ढक्कन में लगे बाफ के पानी को—जो नीचे टपकता है—पशपुन कहा जाता है।

कोर—चावल के माड़ का सूखा हुआ पपड़ीनुमा रूप जो बर्तन के किनारे पर लगा रहता है, कोर कहलाता है।

गास हुर, या पऽरिहर—भात तैयार होने पर बर्तन को उतार कर रखते हैं और बर्तन के बाहर लगी कालिख या राख आदि को किसी घास से पोंछते हैं। इस घास को गास हुर या पऽरिहर कहा जाता है।

मलह्योन—बर्तन या पतीली को उपयुक्त ढङ्ग से साफ़ करने को मलह्योन कहते हैं।

तमवसुन—पतीली या बर्तन को कुछ देर ठण्डा होने के लिये अलग रख दिया जाता है, इसे तमवसुन कहते हैं।

बुग्र—यह भात का एक अन्य रूप कहा जा सकता है। इसमें पानी अधिक पड़ता है और इसका माड़ नहीं निकाला जाता। इसे कड़छी से मथ कर घोंट दिया जाता है जिससे भात और पानी एक हो जाय। यह खीर सदृश एक पेय सन्धान है (सं० यवागू)।

खिर—भात तैयार होने के कुछ पहले इसमें दूध (का० दोद) तथा मिसरी (का० मदरेर) डालते हैं। का० मदुर<सं० मधुर।

माथिर—यह एक अन्य सन्धान है। भात पकने के पूर्व इसमें दूध की जगह मठा या गोरस (का० गुरुस) डालते हैं। इसमें जीरा (का० जीरह) पड़ता है। इसे सब्ज़ी के साथ खाते हैं।

नोवबत—नया चावल होने पर इसका नवान्न जब गाँव वाले करते हैं तो इस चावल के साथ खड़ा अखरोट भी डालते हैं। अखरोट भी इसी समय तैयार होते हैं। अखरोट का ऊपर का कड़ा छिलका अलग करके उसकी गिरी भात के साथ खाते हैं

बज बत—सबेरे बासी भात को तेल डाल कर सब्ज़ी की भाँति नमक-मिर्चा डाल कर

छौंक कर खाते हैं—इसी भात को बजत्रत कहा जाता है। बजुन—तेल से छौंकना। यथा, स्योन बजुन—सब्ज़ी को छौंकना।

चोट—चपाती या रोटी को कहते हैं।

तोमल चोट या तहारि चोट—चावल के आटे की रोटी। शिवरात्रि को इसे बना कर उसके छोटे-छोटे टुकड़े करके और उसके साथ अखरोट की गिरी मिला कर तेल में भूंजते है, फिर नमक आदि मिला कर खाते हैं।

यऽज्, याजि—वहरात (वर्षा ऋतु) के आरम्भ होने के पहले दिन, चावल के आटे को गूँथ कर उसके छोटे-छोटे पोले पिण्ड बनाते हैं। फिर उसे हाँड़ी में तेल डाल कर छौंक लेते है। कलौंजी की भाँति इसे उलट-पुलट कर भलीभाँति भून कर पकाते है। इस बने व्यञ्जन को यऽज्, याजि कहते हैं।

इसी समय बाग़-बगीचे में स्वयं उगने वाली एक सब्जी होती है जिसे लीस कहते है। तेल और मसाले के साथ भून कर इसकी सब्ज़ी बनाते हैं। इसके साथ ही याजि खाने की प्रथा है। यऽज् का बहुवचन याजि है।

ऋछि बोर—ऋछि उस कलछी को कहते हैं जिससे चूल्हे (का० दान) की आग निकालते है।

बोर छोटी रोटी को कहते हैं। ऋछि बोर को इस प्रकार बनाया जाता है—तोमुल ओट (चावल का आटा) में पानी डाल कर उसे गाढ़े दही की भाँति बना लेते हैं। फिर इसमे जीरा (का० ज्युर) तथा पिसा नमक (च्योर युत नून=कूटा हुआ नमक) मिलाया जाता है। थोड़ा तेल तवे पर डाल कर उसी पर छोल को डाल कर फैला देते हैं। जब वह एक ओर हो जाता है तब उसे पलट देते हैं। ऊपर से फिर थोड़ा तेल डालते हैं। यह एक प्रकार से चावल का चिल्ला या उल्टा है। तवे पर डाल कर इसे ढँक भी देते हैं जिससे भलीभाँति उठे या खिले। चाय के साथ इसका प्रयोग किया जाता है।

तहऽर—यह एक प्रकार का बलि भात है जो इष्टदेव को बलि रूप में अर्पित कर के तब खाया जाता है और पशुओं को दिया जाता है। यह तहऽर जब किसी देवस्थान पर चढ़ाया जाता है तो इसे तहारि चोट कहते हैं। चोट का अर्थ रोटी है। पर यहाँ चोट भोजन के अर्थ में प्रयुक्त है। यह तहऽर भौमवार या शनिवार को बनाया जाता है।

इसको भात की ही भाँति बनाते हैं, पर इसमें उबालते समय पिसी हल्दी (चोटमऽच लेदऽर) डालते हैं। हल्दी को लेदऽर कहते हैं। तैयार होने पर इसे थाली में फैला कर उस पर पकाया या खर किया हुआ तेल (कोरमुत तील) डालते हैं। तेल को तील बोला जाता है। तदुपरान्त पिसा नमक मिलाया जाता है।

कुछ लोग इस तहऽर के साथ मांस—विशेषतः कलेजा भी पकाते हैं तब इसे तहऽर चखन कहते हैं। इष्टदेव के निमित्त ही यह बनाते हैं। यहाँ के हिन्दू साधारणतः मांसाहारी ही है।

मुसलमान भी इस तहऽर को बनाते हैं पर वे लदऽर हल्दी नहीं डालते हैं। वे बच्चों में बाँटने के लिये इसे एक थाल में रखते हैं। थाल को त्रऽम कहते हैं। जिस थाल में तहऽर रखते हैं उसे तहारि त्रऽम कहा जाता है। ये त्रऽम त्यौहारों और उत्सवों में प्रयोग आते हैं। यहाँ त्यौहार को बड़ा दिन कहा जाता है

ख्यचऽर—कश्मीर में माघ की को खिचड़ी बनाने की प्रथा है इसीलिये इस अमावस्या को खेचि मावस कहा जाता है।

चावल को मूँग की दाल में बनाते हैं। इसीलिये इसे मोंग ख्यचऽर कहते हैं। इसमें नमक, हल्दी, लाल मिर्च (पिसी हुई) सौंफ आदि डालते हैं।

कुछ लोग इसमें अेंजि (माँस) भी डालते हैं और फिर इसे अेंजि ख्यचऽर कहते है। मुसलमान माँस को माज़ कहते हैं।

थोड़ी सी खिचड़ी एक पत्तल पर रख कर बाहर एक नियत स्थान पर रख दी जाती है—इसके पीछे यह विश्वास है कि इसे यक्ष आकर खाता है। इसीलिये इस अमावस्या को **यछिमावस** भी कहते हैं।

पशुओं के लिये माष (उड़द) की खिचड़ी बनाते हैं और इसे माह् ख्यचऽर कहते है। माष को माह् बोला जाता है।

ब्योल तुमुल—बीज के लिये ब्योल आता है। बोने के लिये बीज वाले धान (ब्योल) को घड़ों में भिगोते हैं। इस प्रकार यह बीज आठ दिन तक भिगोया रहता है। हाँ, इसका पानी दूसरे दिन बदला जाता है। आठवें दिन धान चिटक कर उसमें अंकुर का स्थान स्पष्ट हो जाता है। तब इसे बोते है।

यही बीज आग पर भून कर चबाने के काम में भी आता है और तब इसे 'ब्योल तुमुल' कहते हैं। बोए जाने वाले धान-बीज को 'दान् ब्योल' कहते हैं।

कंऽज—यह एक प्रकार का सन्धान है। संस्कृत में इसे काञ्जिक कहा गया है। यह भात के माड़ (सं० मण्ड) या पीच से, जिसे कश्मीरी में **अग्रिम्** कहते हैं, बनता है। मिट्टी के एक बड़े मटके मे अग्रिम् को एकत्र करते हैं। इस मटके को कंऽज नोट कहते हैं। इस कऽज्ञ में दो-तीन दिन में खटास आ जाती है। इसमें **अजिवन्द** (एक जंगली घास जिसमें अजवाइन सी गंध होती है) पड़ती है। माड़ या पीच के अलावा इसमें चावल का धोवन जिसे **छलिन बोन्य** कहते है, डालते है। यह एक प्रकार का खट्टा पेय बन जाता है।

इसे ठण्डे भात (का० **तुरुन बत**) में डाल कर खाते हैं। नमक-मिरचा की चटनी (का० चेटिञ्) के साथ भी इसे खाते या पीते हैं।

कंऽज को तेल से छौंक कर और मसाला डाल कर भी बनाते हैं और भात के साथ कढी की भाँति प्रयोग में ले आते हैं। मछली के पकाने में भी कंऽज्ञ का प्रयोग करते हैं। मूली को भी कंऽज के साथ बना कर खाते हैं। इसकी खटाई या खट्टी गन्ध के कारण ही जिस घर में गाय लगती हो वहाँ कंऽज्ञ नहीं भरा जाता। इस कंऽज्ञ में थोड़ा सा जौ (**का० वुश्क**) भी डालते है।

कंऽज को **सऽदर** कंऽज्ञ भी कहते हैं। कश्मीरी में सऽदर समुद्र के अर्थ में आया है पर यह निश्चय नहीं कहा जा सकता कि यहाँ पर प्रयुक्त सऽदर शब्द समुद्र के ही अर्थ में है—यह अवश्य है कंऽज्ञ भी समुद्र की भाँति समाप्त नहीं होता—जितना ही खर्च होता है उतना ही नया पीच डालने से बनता भी जाता है।

चार

•

भक्त-कवि प्रियादास और उनकी रचनाएँ

नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

भक्ति-साहित्य के विद्यार्थी के सामने नाभादास कृत 'भक्तमाल' के सुप्रसिद्ध टीकाकार प्रियादास का नाम बार-बार आता है, इसीलिये स्वभावतः इनके व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय पाने को वह उत्सुक हो जाता है। परन्तु खेद का विषय है कि अभी तक इनका जीवन-परिचय तिमिराच्छन्न पड़ा हुआ है। इस ओर शोध-छात्रों तथा जिज्ञासुओं का यथेष्ट ध्यान जाना अपेक्षित है।

'शिवसिंह सरोज' में प्रियादास रचित एक कवित्त उनके आत्म-परिचय के रूप में उद्धृत है।[1] इससे पता चलता है कि वे वृन्दावनवासी रहे होंगे और 'रङ्गीले घनश्याम' में उनकी प्रगाढ़ भक्ति रही होगी। यहाँ तक कि वे विरक्त तक हो गये थे।

'मिश्रबन्धु विनोद' में प्रियादास जी के विषय में कहा गया है कि संवत् १७६९ में इन्होंने 'भक्तमाल' की टीका बनायी। यद्यपि नाभादास जी ने "आज्ञा पहले दे रक्खी थी और टीका पीछे तैयार हुई। 'भक्तमाल' के मूल मे ३१६ छन्द हैं और टीका में ६२४ छन्द, जिनमे प्रायः सभी घनाक्षरी हैं। टीका में प्रियादास जी ने अर्थ न लिखकर जिन भक्तों का वर्णन मूल में सूक्ष्मतया हुआ है, उन्हीं का विस्तारपूर्वक कथन किया है और उनके विषय में बहुत-सी नवीन बातें लिखी हैं। अन्त मूल से टीका अधिक उपयोगी है।"[2] इतना और भी उल्लेखनीय है कि आगे चलकर यह भी कहा गया कि "प्रियादास जी ने प्रायः सभी स्थानों पर विस्तारपूर्वक वर्णन किये हैं और जो जितना बड़ा भक्त है उसका उतना अधिक वर्णन।" साथ ही साथ यह भी लिखा है कि "खोज में प्रियादास जी कृत 'भागवत भाषा' भी लिखी है जो बुन्देलखण्डी भाषा में बनी है।" इसका एक उदाहरण भी वहाँ उद्धृत कर दिया गया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस सम्बन्ध में कोई अतिरिक्त सूचना नहीं दी है। केवल 'भक्तमाल' की सामान्य समीक्षा करते हुए लिखा है कि "इन चरित्रों में पूर्ण जीवन-वृत्त नहीं है केवल भक्ति की महिमा-सूचक बातें दी गई हैं इसका उद्देश्य भक्तों के प्रति जनता में पूज्यबुद्धि का प्रचार जान पड़ता है यह उद्देश्य बहुत अंशों मे सिद्ध भी हुआ

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी प्रियादास जी के बारे में कोई नयी सूचना तो नहीं दी किन्तु भक्तमाल की टीका की विशेषता बतलाते हुए इतना अवश्य लिखा है कि नाभादास जी के शिष्य प्रियादास जी ने 'भक्तमाल' पर एक टीका कवित्त-सवैयों में लिखी जिसमें जीवन-वृत्त की अपेक्षा चमत्कारों का ही विस्तार अधिक किया गया। एक विशेष बात इस नवीन विकास में लक्ष्य करने योग्य है। यह नाथ सिद्धों और वैष्णव भक्तों की प्रवृत्तियों का अन्तर स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है।"[४] आचार्य द्विवेदी ने इतनी सूचना और दी है कि 'सटीक भक्तमाल' का एक अनुवाद बङ्गला में श्रीकृष्णदास या लालदास नामक भक्त ने किया। इसके अन्त में उन्होंने एक लम्बा परिशिष्ट जोड़ दिया, जिसमें गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का समावेश है। इस पुस्तक ने परवर्ती बंगला-साहित्य को कुछ दूर तक प्रभावित किया है।"

इधर प्रियादास की रचनाओं के सम्बन्ध में नवीन तथ्यों का उद्‌घाटन हुआ है जो इस विषय के जिज्ञासुओं के लिये उपयोगी तथा ज्ञानवर्द्धक हो सकता है। इसी प्रकार उनके जीवन के सम्बन्ध में इतना और भी पता चलता है कि रीवा नरेश विश्वनाथ सिंह (सन् १८५३-५४ई०) का संरक्षण उन्हें प्राप्त रहा है। 'गीत गोविन्द' के अनुकरण पर लिखित 'सङ्गीत रघुनन्दन' के रचयिता के बारे में व्याप्त भ्रम कि इसकी रचना स्वयं 'बाबू साहेब' विश्वनाथसिंह ने की है, दूर होने की स्थिति में आता दिखायी देता है। पुस्तक की पुष्पिका के आधार पर यह मिथ्या धारणा प्रचलित रही है कि इसके रचयिता स्वयं विश्वनाथ सिंह हैं, किन्तु प्रारम्भ के पांचवें छन्द में उक्त भ्रम का निवारण होते देर नहीं लगती और प्रकट हो जाता है कि इसके वास्तविक रचयिता विश्वनाथ सिंह नहीं, प्रियादास हैं।[५] फिर भी इसे अभी निर्विवाद नहीं समझा जाना चाहिये।

प्रियादास की एक अन्य रचना 'सुसिद्धान्तोत्तम' नाम से प्रकाशित हो चुकी है। इस पुस्तक के ५१५ वें पृष्ठ पर एक छन्द है[६] जिसके अनुसार इनकी अन्य रचनाएँ तत्वनिश्चय, वेदान्तसार और भक्तिप्रभा आदि भी हैं। परन्तु ग्रन्थ-सम्पादक ने भी पाद-टिप्पणी दी है, उससे पता चलता है कि वह वेदान्तसार और श्रुतितात्पर्यामृत की हस्तलिखित प्रतियों से परिचित है। यह असम्भव नहीं कि 'श्रुतितात्पर्यामृत' और 'श्रुतिसूत्रतात्पर्यामृत' परस्पर अभिन्न हों। इनके अतिरिक्त प्रियादास की अन्य रचनाएँ भी हस्तलिखित रूप में रीवाँ राज्य पुस्तकालय (रीवाँ स्टेट लाइब्रेरी) में सुरक्षित हैं। इनमें से कुछ दीक्षासार निर्णय, सुमार्ग, भक्तिप्रभा, वेदान्ततत्व, सुसिद्धान्तोत्तम, वैष्णव-सिद्धान्त और श्रुतिसूत्रतात्पर्यामृत हैं। इन रचनाओं से इनकी विद्वत्ता और निस्पृहता का परिचय मिलता है। प्रियादास ने अपने को शालीनतावश विनयपूर्वक 'शब्दज्ञान-विहीन' बतलाया है। श्री चन्द्रलाल की, गुरु रूप में इन्होंने वन्दना की है और 'दीक्षासार निर्णय' के अनुसार हरिवंश को 'महाचार्य' सूचित किया है। परन्तु उक्त महानुभावों के व्यक्तित्व अथवा कृतित्व का कुछ भी पता हमें नहीं है।

उपर्युक्त रचनाओं में से कुछ के रचना-काल का पता हमें मिलता है। शेष का रचना-काल जानने का कोई साधन हमें अभी तक उपलब्ध नहीं है। जिन रचनाओं के रचना-काल का हमे पता है उनमें से भक्तिप्रभा और वेदान्तसार संवत १८६४ की रचनाएँ हैं

का रचना काल सवत १८७० है और दीक्षासार का लिपिकाल १८७९ है इनकी उपलब्ध

ो मे सुभागी, वेदान्ततत्त्व, दीक्षासार और वैष्णव-सिद्धान्त लघु आकार की पुस्तकें
क्तिप्रभा तथा श्रुतिसूत्रतात्पर्यामृत वृहद् आकार की।

प्रियादास अपनी रचनाओं द्वारा वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी जान पड़ते हैं। इनक
ँ कई दृष्टियों से बहुत बड़े महत्व की हैं किन्तु इनका अब तक प्रकाशित न हो
पूर्ण है। अतएव इनके सुसम्पादित संस्करण प्रकाश में आने चाहिये ताकि इनसे पूरा-पू
ठाया जाना सम्भव हो सके और तभी इनकी विद्वत्ता और प्रतिभा का पूरा परिच
-पाठकों के लिये सुलभ हो सकेगा।

-सङ्केत

१. मेरे तो जनमभूमि झूमि हित नैन लगे पगे गिरिधारीलाल पिता ही के धाम में।
रानाकी सगाई भई करी ब्याह सामानई गई मति बूड़ि वा रंगीले घनश्याम में।।
भाँवरे परत मन साँवरे स्वरूप माँझ ता भरे सी आवै चलिबे को पति-ग्राम में।
पूछैं पितु मातु पट आभरण लीजिये जू लोचन भरत नीर कहा काम दाम में।।
—शिवसिंह सरोज, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, सन् १८८३ ई०, पृष्ठ १९

२. मिश्रबन्धु विनोद, हिन्दी ग्रन्थ प्रसारक मण्डली, खण्डवा वा प्रयाग, सं० १९७
पृष्ठ ३९०-९३।

३. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् २००९, पृ० १४

४. हिन्दी साहित्य, अत्तरचन्द कपूर एण्ड सन्स, दिल्ली, पृ० २४३।

५. जयति सच्चिदानन्दघनवरदवरसर्व्वगुणशालिशृङ्गाररसपालमूर्तिः।
सर्व्वजनवत्सलः प्रविगलितमत्सरः प्रेमपाथोधिपुरुषार्थपूर्तिः।।
सर्व्वगतसर्व्वमतसर्व्वबन्दितचरण सर्व्वशरणागतोद्धति विहारी।
गुरुरूपरघुवरः श्रीप्रियादास इह विश्वनाथान्तरप्रीतकारी।।

६. एतस्मादुत्तमाच्छास्त्राज्जातं ग्रंथ चतुष्टयम्।
तत्त्वनिश्चयवेदान्तसारभक्तिप्रभादिकम्।।

नये प्रकाशन

समीक्षकों की दृष्टि में

सूखे और हरे पत्ते

रवीन्द्रनाथ त्यागी द्वारा लिखित

प्रकाशक : भारती भण्डार इलाहाबाद; पृष्ठ संख्या : डिमाई सत्तासी

मूल्य : ३-५० रु०

रवीन्द्र नाथ त्यागी का यह प्रथम काव्यसंग्रह है जिसमें लगभग ३८ कविताएं सङ्कलित है। पूरी पुस्तक तीन खण्डों में विभाजित है—प्रथम सूखे और हरे पत्ते, द्वितीय : सूरज और लहरें, तृतीय : कटु सत्य। ये विभाजन विषयानुकूल या अनुभूति के आधार पर न होकर कुछ यूँ ही कर दिया गया है क्योंकि प्रत्येक खण्ड की अपनी सीमा का अतिक्रमण किसी खण्ड की कविताओं के साथ जोड़ा जा सकता है। उनके विभाजन की रेखाएँ इतनी धूमिल हैं कि सम्पूर्ण सग्रह एक ज्वाईण्ट फ़ेमिली सा लगता है। विभाजन है भी और नहीं भी है।

संग्रह के विषय में आदरणीय पन्तजी का मत है—"... .सूखे और हरे पत्ते, अपने भीतर नयी किरणों का नीड़ छिपाये हुए हैं—सरल, मधुर, प्रेरणाएँ—ऐसा लगता है अपने आप ही काव्य की भाषा में ढल गई हैं। रचनाओं में कवि का व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता है। उसकी सौन्दर्य दृष्टि साधारण दैनन्दिन की होते हुए भी मार्मिक है, सूक्ष्म है........।"

एक दूसरे कवि एवम् नाटककार श्री अश्क का मत है—"पश्चिम से उधार माँगी हुई अनुभूतियों और शिल्प शैली का मोह छोड़ दुर्बोध प्रतीकों और सयत्न गढ़ी हुई उपमाओ के प्रदर्शन से बच कर अपनी ही अनुभूतियों को अपने ही ढङ्ग से, इतनी सहजता से कविताओ मे व्यक्त कर देने के लिये मैं त्यागी जी को बधाई देता हूँ.......।"

एक तीसरे उर्दू के महान् कवि अल्लामा फ़िराक़ का मत है—"ये कविताएँ इस सम्भावना की ओर सङ्केत कर रही हैं कि अब हमारी कविता की भाषा और उसकी शैली, शब्द सङ्कलन व शब्दग्रन्थन, ऐसे होंगे जिनमें खड़ीबोली की उर्दू-शैली व हिन्दी-शैली का एक प्रिय सङ्गम व समन्वय हो.....।"

नयी कविता के आचार्य डॉ० जगदीश गुप्त राजशेखर की दुहाई देकर कहते हैं—वे स्वभाव से जिन्दादिल विनम्र किन्तु साफ़गोई पसन्द भीतरी सच्चाई को पकड़ने की कोशिश करने वाले आदमी हैं और अगर राजशेखर का कहना सही है कि '[illegible] कवि· तदनुरूपं काव्यम' तो मैं कहूँगा कि उनकी कविताओ मे भी यह बातें आसानी से देखी जा सकती है

कुशल सम्पादक डा० धर्मवीर भारती का मत है—"......उसमें उलझनें नहीं है पर घुमाव है जो उसकी सरलता और मधुरतम विनय को अजब सी तुर्शी दे देते हैं किन्तु अधिक प्रिय भी बना देते हैं। उनकी कुछ कविताओं ने मेरे मन पर वैसी ही छाप छोड़ी है जैसी उनकी व्यक्तित्व ने।"

उपर्युक्त पाँच महारथियों के बीच यह काव्य-संग्रह घिर कर रह गया है। सबने कविता पर नहीं कवि पर टिप्पणियाँ लिख दी हैं। कवि की भाषा, उसके सौन्दर्य बोध, उसकी अनुभूति, उसकी अभिव्यक्ति एवं सृजनशीलता पर इतना प्रकाश डाला है कि कविताएँ बेचारी उनके व्यक्तित्व से ही भीख माँग कर जी सकती हैं। फ़तवे बड़े-बड़े हैं किन्तु उन फ़तवों की प्रामाणिकता कहीं नहीं दिखती। पन्त जी के लिये अपने आप कविता का भाषा में ढल जाना बड़ा गुण है, अश्क जी के लिये पश्चिम से कतरा कर बच जाना सब से बड़ा गुण है। फ़िराक़ साहब को सङ्गम और समन्वय ही कविता से बड़ी चीज़ हैं। डॉ० जगदीश गुप्त को तो राजशेखर का सही उतरना आवश्यक है, कविता चाहे जैसी हो। डाक्टर धर्मवीर भारती ने उलझन और घुमाव में अन्तर निकाल कर कविता से भी अधिक व्यक्तित्व को ऊपर उठाया है। एक बार फिर कहूँगा, इतनी सिफारिशों के बाद जब मैंने त्यागी जी की कविताएँ पढ़ीं तो कविताएँ सादी लगीं, व्यक्तित्व के बारे में कुछ पता नहीं चला। शायद मेरे पास वह जासूसी शैली की आलोचना पद्धति नहीं है!

खैर अब काव्यसंग्रह पर आइये। पूरा संग्रह पढ़ जाने पर लगा कि शायद इतनी सादगी कविता के लिये अपेक्षित नहीं है। कविता आभिजात्य और विन्यास की वस्तु है। वह रोज़मर्रा के लिये युक्ति नहीं देती वरन् बिम्बों की नवीनता के माध्यम में बचे अर्थों और अनुभूतियों को साक्षात्कार कराती है। त्यागी जी की कविताओं में बिम्ब की योजना है किन्तु केवल शिल्प के स्तर पर उनको सार्थक ढङ्ग से व्यक्त करने की कमी खटकती है। जैसे:—

> लहरों की नाव से चाँदनी का पाल उड़ा जाता है!
> और किनारे पर खड़े पेड़
> सधे जुआरियों की तरह
> अपने पत्ते—सूखे और हरे
> एक के बाद एक—
> धरती पर डालते जाते हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों में एक सफल बिम्ब-योजना केवल वस्तुस्थिति बनकर रह गई है इसमें सार्थकता नहीं आ पाई। मात्र बिम्ब को उद्धरित कर देने से कविता सादी भली लगे किन्तु उसका सह-सम्बन्ध किसी अनुभूति की गहराई से नहीं हो पाता। त्यागी जी के इस काव्यसंग्रह में ऐसे अनेक स्थल हैं किन्तु वह जीवन की गहरी व्यञ्जना नहीं कर पाते जैसे:—

> मोमबत्ती की तरह बुझने को
> जिन्दगी जलती है
> घास की तरह बिछने को
> उगते हैं

आप क्यो लिखते हे
कैसे लिखते हैं?

इसमें यह विम्ब-योजना केवल इसलिये खो गई है क्योंकि विम्ब दुहरी चेतना से सम्बद्ध नही है। इस कारण यह एक वक्तव्य का उच्छिष्ठ बन कर रह गई है 'बुझने' और 'बिछने' की अनुभूति व्यक्त नहीं हो पाई है और इसीलिये जब वे लिखते हैं तब वे केवल तुक का साम्य देकर तुष्ट हो जाते हैं, यह हमें कोई दृष्टि नहीं देता।

त्यागी की कविताओं में तीसरी कमी है संक्षिप्ति का अभाव। 'उठते कदम' शीर्षक के अन्तर्गत एक सबल रचना केवल इसलिये खो गई है कि उसमें आवश्यकता से अधिक कह डाला गया है। कविता प्रथम नौ पंक्तियों के बाद केवल एक-दो पंक्ति की और अपेक्षा रखती थी। शायद तभी अनुभूतियाँ अधिक तीव्रता के साथ व्यञ्जित हो पातीं। यह दोष उनकी अन्य रचनाओ मे भी समान रूप से व्याप्त है। 'बूढ़ा चाँद और नई कोपले' कविता भी इसी लिये शिथिल हो गई हैं। प्रथम हृदयग्राही बिम्ब अन्त तक अपने आन्तरिक गठन की ही हत्या कर डालता है। यदि कविता दो चार पंक्तियों के बिस्तार के साथ इस बिम्ब को लेकर चली होती तो शिल्प और सृजन दोनों की सार्थकता स्पष्ट हो जाती, जैसे,

मत देखो
क्षितिज पर
दीमक के खाए
पराजित राजा की तरह
उस रोते चाँद को
कि जिसके सिपाही
अँधियाले की खन्दक पर लड़ लड़ कर
खेत हो गए।

अतिकथ्य सदैव दोषमय होता है। मिति-कथ्य में व्यञ्जना तीव्र होती है और अनुभूति की तीव्रता मार्मिक रूप से प्रेषित होती है। कथ्य की अति से बिम्बों की सूक्ष्म योजना और उनकी सार्वभौमिकता एकाग्र न होकर टूट जाती है।

सङ्कलन का दूसरा खण्ड 'सूरज और लहरें' है। इस खण्ड का नाम 'सूरज और लहरें' क्यों हैं, इसका कोई समाधान सङ्कलित कविताओं के माध्यम से नहीं मिलता। हो सकता है कवि के मन में इसके लिये कोई विशेष कारण हो पर मुझे यह विभाजन समझ में नहीं आया।

उस खण्ड की प्रायः सभी कविताएँ अपेक्षाकृत लम्बी हैं और काव्य रूढ़ि अर्थात् 'शाम' 'शीत ऋतु, मौसम', 'चाँद, दिन रात', 'सूरज और लहरें' आदि विषयों पर लिखी गई कविताएँ हैं। इनमें हमें नयापन नहीं मिलता। प्रायः सभी कविताएँ कवि की विशिष्ट अनुभूति न होकर सामान्य अनुभूतियों की समर्थन मात्र हैं केवल पहली कविता 'कल की शाम' एक नये को लेकर चली है लेकिन उस नयी अनुभूति की पकड़ कवि से छूट गई है ऐसा लगता

है, कवि ने शाम की अनुभूति की झलक तो पा ली है किन्तु अभिव्यक्ति के स्तर पर उस अनुभूति को 'अद्वितीयता' या अपनी निजी व्यञ्जना नहीं दे पाया है। 'चाँदी की रात' शीर्षक कविता में भाषा की सरलता तो भली लगती है लेकिन उस सरलता को कलात्मकता नहीं मिल पाई है। शमशेर ने सरलता के साथ अनुभूति भी दिया है जैसेः—

"बात बोलेगी,
हम नहीं
भेद खोलेगी
बात ही"

अस्तु, सरल होते हुए इस अभिव्यक्ति में एक प्रकार की आभिजात्य विशिष्टता (Sophisticated Complexity) है जो इसको अधिक कलात्मक बना देती है किन्तु त्यागी जी की सरलता में यह आभिजात्य विशिष्टता न होने के कारण, बात नहीं बन पाती।

तीसरा खण्ड 'कटु सत्य' के नाम से सङ्कलित किया गया है। इस खण्ड की कुछ कविताएँ बड़ी सुन्दर बन पड़ी हैं। 'किये हुये पाप की तरह' शीर्षक वाली कविता में व्यञ्जना मर्मस्पर्शी बन गई है। वह भी भाव इसलिये कि इस कविता में अपेक्षाकृत मिति-कथ्य शैली का निर्वाह आंशिक रूप में ही सही, लेकिन हो गया है, जैसेः—

कोट की तरह उतार कर—
अपनी ज़िन्दगी किसी को दे सकता हूँ
. . . .
. . . .
किये हुये पाप की तरह
मैं तुम्हें भुला नहीं सकता।

इसी प्रकार की दूसरी कविता 'अपशकुन' भी अपनी सरलता और मिति-कथ्य शैली के नाते ही अच्छी बन पड़ी है—

आज सुबह ही सुबह
(क्या लजीली सुबह थी आज)
चाय के प्यालों पर तुम्हारा ज़िक्र आ गया
फिर कोई बात याद आ गई
फिर कोई और बात याद आ गई
सारा का सारा दिन
ख़राब हो गया।

जहाँ कहीं त्यागी ने अपनी इस शैली का प्रयोग केवल एक चतुर सजग शिल्पी के रूप में किया है, वहाँ रचना सार्थक बन पड़ी है किन्तु जहाँ केवल भाषा के लिये किया है वहाँ इसकी संवेदना खो गई है यही शैली 'बिग गन' शीर्षक कविता में असफल हो गई किन्तु फिर भी उनकी इस शैली की ऐक्सीडण्ट सरल गिरह, कटु सत्य में देखी जा सकती है

आलोचकों में कविता के माध्यम से कवि के व्यक्तित्व को आंकने की बात इतनी प्रचलित हो गई है कि इसमें तथ्य होते हुए भी इसका दुरुपयोग सा किया जाने लगा है। अच्छा व्यक्तित्व वाला कवि अच्छा कवि भी हो, यह आवश्यक नहीं है। ठीक उसी तरह हो सकता है कि नितान्त बुरा व्यक्तित्व वाले कवि में इतनी तीव्र अनुभूतिशीलता हो कि वह नितान्त मार्मिक कविताएँ लिख डाले। इसलिये त्यागी जी के व्यक्तित्व के अनुकूल उनकी कविताएँ हैं, अथवा प्रत्येक कविता उनके व्यक्तित्व की सनद ही है, यह मैं नहीं मानता। इन दोनों को जोड़ कर 'घुमाव-दार' आलोचना करने वाले आलोचक या प्रशंसक खतरनाक होते हैं—वे प्रायः कृतित्व की आलोचना न करके उससे कतराना चाहते हैं। इस प्रकार के वाक्य—"जैसे इधर-उधर की चिड़ियाँ उड़कर चहकने लगती हों और उनके स्वर गीत बन गये हों—" (पन्त)—का कुछ मतलब ही नही है। 'इधर-उधर' में जो 'अराजकता' (फ़िराक़) है, भले ही हिन्दी उर्दू के समन्वय का सन्देश दे दे, वह कला की परख नहीं है।

बात जो भी हो, दो दृष्टियों से यह सङ्कलन साधारण स्तर से थोड़ा उठ जाता है। पहली बात है, कवि की बिम्ब-नियोजनी शक्ति की और दूसरी है, दृष्टि की, यद्यपि अभी इन दोनों को कलात्मक बनाने के लिये रचना के आन्तरिक गठन को और अधिक विकासवान् होना है, फिर भी प्रयास सराहनीय है।

पलङ्ग

उपेन्द्रनाथ अश्क द्वारा लिखित

प्रकाशक : नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद; पृष्ठ संख्या : डबल क्राउन १८८.

मूल्य : ३. १२।

मैं अपनी बात स्वयं अश्क जी के इस कथन से शुरू करता हूँ—"महज़ कोई चटपटा ख्याल आ जाने से उसे लिख डालना मैं अपने लेखक का अपमान समझता हूँ, फिर वह कितना ही मनोरञ्जक क्यों न हो . . . कला के सौष्ठव में पूरा विश्वास रखने के बावजूद, मैं उद्देश्यविहीन अथवा प्वाइण्टलेस कम ही कोई चीज लिखता हूँ।" अश्क जी के उपर्युक्त वक्तव्य से मैं निम्न-लिखित निष्कर्ष निकालता हूँ :—

(१) चटपटा ख्याल वाला भी साहित्य हो सकता है ?
(२) मनोरञ्जक साहित्य भी लिखा जा सकता है ?
(३) अश्क जी कला सौष्ठव को मानते हैं ?
(४) वह उद्देश्यविहीन नहीं लिखते ?
५ वह प्वाइण्टलेस नहीं होते ?

कहानियों के विषय में कहने के पहले मैं अश्क जी के इस वक्तव्य से कुछ निष्कर्ष निकालता हूँ और वह इस प्रकार है:—

(१) जो अश्क जी मानते हैं वह—**सामाजिक यथार्थ** का उद्घाटन होता है।

(२) जो अश्क जी चाहते हैं वह—मनुष्य के **मनोविज्ञान** का चित्रण है।

(३) जो अश्क जी का उद्देश्य है वह—पाठकों को **पथभ्रष्ट** होने से बचाना या यूँ कहा जाय कि अपना **मार्ग** बनाना है।

अब मैं कुछ नये प्रश्न रखना चाहता हूँ:—

—साहित्य सामाजिक यथार्थ है या अनुभूत सत्य है?

—साहित्य मनुष्य का मनोविज्ञान है या लेखक की आत्मोपलब्धि?

—साहित्य का काम मार्ग-दर्शन है या किसी अनुभूति-विशेष की अभिव्यक्ति? इस सम्बन्ध में मेरा अपना मत है—

(१) उस **सामाजिक यथार्थ** का कला और साहित्य में कोई मूल्य नहीं है जो लेखक को आत्मानुभूत सत्य के रूप में उपलब्ध नहीं होता। पञ्चवर्षीय प्लान के ब्ल्यूप्रिण्ट से समाज का बहुत कल्याण होगा, साथ ही वह सामाजिक यथार्थ से सीधा सङ्घर्ष भी है लेकिन पञ्चवर्षीय योजना का ब्ल्यूप्रिण्ट साहित्य की कलाकृति नहीं है।

(२) मनुष्य के **मनोविज्ञान** को एक पागलखाने का डाक्टर भली-भाँति जानता है। वह दिमाग का रोग भी ठीक कर देता है लेकिन उसका नुस्खा साहित्य नहीं है।

साहित्य हिदायत नामा खाविन्द नहीं है और न स्वामी दयानन्द सरस्वती का गायत्री-मन्त्र ही है। साहित्य एक अनुभूत सत्य की अभिव्यक्ति द्वारा स्थिति-विशेष का अनुभव पाठक को करा देता है। साहित्यकार ट्रैफ़िक पुलिस नही है और न क्रिमिनल कोड है। वह मात्र एक सवेदनशील जागरूक चेतना वाला प्राणी है जो प्रत्येक स्थिति का खुल कर अनुभव करता है और जैसा अनुभव करता है वैसा ही व्यक्त भी कर देता है।

वह आत्मपरक सत्य को वस्तुपरक होकर देता है।

वह सौन्दर्य के हर उन्मेष को जैसा जीता है, **भोगता** है, वैसा ही दूसरों को भी अनुभव कराना चाहता है, यद्यपि यह चाहना उसका उद्देश्य नहीं, अनुभूत सत्य का धर्म है।

सन्दर्भ जिसमें जीवन के अर्जित आदर्शों और कुछ यथार्थ एक दूसरे के आमने सामने होते हैं, उसको लेखक कितनी तटस्थ दृष्टि से देखता है इसी पर कला की सफलता निर्भर करती है।

संस्कार और सन्दर्भ के इस सङ्घर्ष को लेखक या कलाकार अपनी रचना-प्रक्रिया में व्यक्त करता है, कभी-कभी यह रचना प्रक्रिया स्वयम् एक कला कृति हो जाती है।

कोई भी कला कृति कितनी **प्रयोगशील** है या नयी है, यह इस पर निर्भर करता है कि कितने नये सन्दर्भो से जुड़ कर आदमी को नया अनुभव मिलता है। यदि नया अनुभव नहीं है तो प्रयोग विफल है अस्तु —

अश्क जी ने अपने लेखन शैली के गुणों में जितनी भी बातें बताई हैं उनमें से एक की भी पूर्ति मैं इन कहानियो में नही पाता अर्थात्

१) अश्क जी के न चाहने पर भी यह चटपटी और मनोरञ्जक कहानियाँ हैं मैं समझता हू इससे अश्क जी को अपमानित नही समझना चाहिय।

(२) इन कहानियों में सामाजिक यथार्थ नहीं, कुण्ठाओं का यथार्थ है, व्यक्तियों का यथार्थ है, व्यापक जीवन का नहीं बन्द कमरों की बात है। बन्द कमरे की बात मुझे बुरी नही लगती यदि वह गहरी संवेदनशील अनुभूति वाली हो तो —

(३) इन कहानियों में अश्क जी ने केवल मनोवैज्ञानिक चित्रण किये हैं। इसीलिये यह पागलखाने के डाक्टर के नुस्खे नहीं जीवन्त, भोगे हुए सत्य की प्रमाण-स्वरूप है। इनका दोषपूर्ण होना ही गुण-विशेष है।

(४) इन कहानियों को पढ़ कर कोई भी रोड बिल्डर नहीं बनेगा। वह केवल आईने मे अपनी शक्ल देखेगा और कहेगा मैं भी तो आदमी हूँ. . .क्या मेरे जैसे ही आदमियों में यह सब मन स्थितियाँ होती हैं ? वह अपने आप को भी अजनबी लगने लगेगा।

(५) उद्देश्यविहीन और प्वाइण्टलेस होते हुए भी ये कलात्मक हैं, मानवीय हैं, लगता है आदमी में जो मिट्टी है, जो गन्ध है, जो वर्जना की कुण्ठा है, वह भी उतना ही सत्य है जितना गायत्री-मन्त्र।

इसलिए—

अश्क जी की कहानियों में मुझे वह कोल्ड फ्लेश की बू नहीं मिलती जो डी० एच० लारेन्स या 'लोलिता' में है लेकिन इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि अश्क जी उन दोनों से प्रभावित हैं—शायद उतने ही जितने कि अज्ञेय।

अश्क जी की कहानियाँ अश्लील नहीं हैं, क्योंकि इनमें जुगुप्सापूर्ण टेन्शन या घिनौना कुछ नही।

लेकिन अश्क जी की कहानियाँ सुरसुराहट पैदा करने वाली कहानियाँ है।

बावजूद अश्क जी की स्थापनाओं के मुझे कहानियाँ अच्छी लगीं। कुछ कहानियाँ जैसे पलङ्ग, ठहराव और मुस्कान और झाग नितान्त अनुभूतिपूर्ण कहानियाँ हैं। ये अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी सटीक उतरी हैं। जिस दृष्टि से मैंने इन कहानियों को देखा है, वह दृष्टि हो सकता है बहुतो की न हो फिर भी इन में नयापन है और कम से कम आवरण के साथ ज्यादा से ज्यादा योनि कुण्ठाओं से युक्त कहानी लिखने का प्रयास किया है। कहानियाँ अच्छी हैं इसका आशय यह नही है कि सभी कहानियाँ सफल हैं।

दिनकर की उर्वशी

रमाशङ्कर तिवारी, द्वारा लिखित

प्रकाशक · चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी· पृष्ठ संख्या · डिमाई १०४

मूल्य ३ ०० रु०

दिनकर की नवीनतम कृति उर्वशी पर श्री रमाशङ्कर तिवारी ने प्रस्तुत आलोचना-पुस्तक परिचयात्मक रूप में लिखी है। पुस्तक के ५ खण्ड हैं। प्रथम अध्याय प्राकरणिक परिशीलन, तथा दूसरा अध्याय सामान्य समीक्षा का है। तीसरा अध्याय काव्य शिल्प पर है, चौथा अध्याय कवि के संग्राहक प्रतिभा से सम्बद्ध है और पाँचवें अध्याय में कवि के सम्पूर्ण कृति का मूल्याङ्कन की दृष्टि से विवेचना है।

पूरी पुस्तक को पढ़कर ऐसा लगता है जैसे लेखक ने उर्वशी को पढ़ने के साथ ही बहुत जल्दी में उस पर एक समीक्षा ग्रन्थ होना ही चाहियें, की पूर्ति कर दी है। १०४ पृष्ठ की पुस्तक मे ५३ पृष्ठ तो मात्र उर्वशी की कथा को 'अपनी जबानी' प्रस्तुत करने में समाप्त कर दिये गये हैं। आलोचना की यह पद्धति पुरानी है। पुस्तक की कथा क्या है, इसका दायित्व आलोचक पर नही है। आलोचक के लिये यह आवश्यक नही है कि वह समीक्षा के साथ-साथ पुस्तक का कथा-सार देता फिरे। इस प्रकार की समीक्षाएँ उन लोगों के लिये लिखी जाया करती थीं, जो मूल ग्रन्थ पढ़ने के बजाय केवल आलोचना ही पढ़कर मूल ग्रन्थ से परिचय प्राप्त कर लेना चाहते थे। आज समीक्षा उन व्यक्तियों के लिये लिखी जाती है जो मूल ग्रन्थ को पढ़ चुके होते हैं, सम्पूर्ण सन्दर्भों को जान चुके होते हैं। समीक्षक का कार्य कथावाचक की भाँति नहीं है। वह तो केवल कला-सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर उसमें शिल्पगत, कथागत, मूल्यगत, एवम् विचारगत तथ्यो का विश्लेषण करके, कथ्य, तथ्य और काव्य सिद्धान्तों के मानदण्डों के माध्यम से उसका विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत करता है। आलोचक, पुस्तक में जहाँ-जहाँ सौन्दर्य सृजन के सुन्दर स्थल है, जहाँ विकृतियाँ हैं, जहाँ मर्यादित आदर्शो का निर्वाह हुआ है, जहाँ नहीं हो सका है—ऐसे स्थलों पर प्रकाश डालता है और उनके कारण प्रस्तुत करता है। इसलिये आलोचक का कार्य किसी भी कृति के भाव एवम् विचार पक्ष को प्रस्तुत करना है न कि सूखी कथा का वर्णन करना।

शेष ५० पृष्ठों में, १२ पृष्ठों में सामान्य समीक्षा दी गई है। इस सामान्य समीक्षा के खण्ड मे जो बात विशेष रूप से खटकती है वह यह कि सम्पूर्ण पुस्तक के कथा को अपने शब्दों में प्रस्तुत करने के बाद भी लेखक के सामने कवि के कथ्य सम्बन्धी 'इशूज़' और समस्याएँ उभर कर नहीं आ सकी हैं। आलोचक का यह कर्तव्य है कि वह इस बात पर अधिक सटीक रूप से, विश्लेषण प्रस्तुत करके, विवेचना के साथ, प्रकाश डाले कि आखिर किस संवेदना को, किस दृष्टिकोण से, किन परिप्रेक्ष्य के साथ ग्रहण किया जा सकता है। उसका यह भी दायित्व हो जाता है कि वह स्पष्ट करे कि उस दृष्टि-कोण का समर्थन ग्रन्थ में कहाँ तक हो सका है और कहाँ तक नहीं हो सका है। इतना करने के बाद ही वह यह कहने का अधिकारी हो सकता है कि यह दृष्टिकोण कहाँ तक उचित है और कहाँ तक अनुचित एव अवाञ्छनीय है। पूरी उर्वशी पर लिखी गयी आलोचना पढ़ जाने के बाद यह तो पता चल जाता है कि समीक्षक को क्या अच्छा लगा और क्या बुरा लगा, किन्तु यह नहीं पता चलता कि वह आधार-भूत भावना कौन-सी थी जिसे दिनकर इस ग्रन्थ के माध्यम से प्रेषित करना चाहते थे। साथ ही यह कि वह उस आत्म-कथा को, या उस दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं या असफल।

यही पर एक बात और स्पष्ट कर देना है उर्वशी की समीक्षा प्रस्तुत करते

समय श्री तिवारी का आग्रह यह रहा है कि पुराणों में वर्णित उर्वशी ऐसी नहीं है जैसा कि दिनकर ने वर्णित की है यह कोई इतनी बड़ी बात नहीं है कि जिसे लेकर हम ढिंढोरा पीटें या हाय हाय करें। क्या वाल्मीकि में जिस राम और जिस सीता का वर्णन हम पाते हैं, उनके वही रूप तुलसीदास के ग्रन्थ में हैं? फिर क्या इसलिये तुलसीदास के रामायण के भाव को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि उनमें वाल्मीकि के विचारों की पुष्टि नहीं होती? दिनकर की कल्पना की उर्वशी दिनकर की कल्पना की क्षमता से बनेगी। पौराणिक प्रारूपों के आधार पर केवल उसका सन्दर्भ होगा, उसे एकदम नया संस्कार कवि चाहे तो दे सकता है। अब यह बात और है कि उन संस्कारों के औचित्य को आप चाहे स्वीकारें या चाहें तो उन्हें तोड़ कर फेंक दें या यह घोषित कर दें कि वह बिल्कुल गलत है। इस दृष्टि से सामान्य समीक्षा के अधिकांश 'इशूज़' के अभाव में यह समीक्षा गठित नहीं हो पायी है।

तीसरे अध्याय में काव्य-शिल्प के विषय में चर्चा की गई है। शीर्षक से तो ऐसा लगता था कि इस खण्ड में दिनकर की प्रबन्ध-क्षमता, भाव-व्यञ्जना, समीक्षा के स्तर पर मापे जायँगे किन्तु इस अध्याय में सिवा एक बात के कि यदि दिनकर ने 'जनपदीय' भाषा का प्रयोग न किया होता तो कविता सुन्दर होती—और कुछ नहीं कहा गया है। उद्धरण भी जो दिये गये हैं उनसे किसी भी भाव की पुष्टि नहीं होती। केवल सतही ढङ्ग से ही काव्य-शिल्प के शीर्षक का निर्वाह किया गया है।

चौथे अध्याय में दिनकर की संग्राहक प्रतिभा पर प्रकाश डालने की चेष्टा लेखक ने की है। साथ ही प्रसाद की कामायनी और दिनकर की उर्वशी की तुलना भी की गई है। उर्वशी को लेकर बहुत कुछ लिखा गया है। जहाँ दिनकर से इस बात की आशा थी कि इतनी बहुचर्चित कथा को कोई नया सूत्र मिल पायेगा लेकिन वह भी नहीं हो पाया। न तो समीक्षक ने ही उसमें कोई नयी उपलब्धि ढूँढने की चेष्टा की है! यह सत्य है किसी सुन्दर नियोजित ग्रन्थ में चाहे इसका भी एक अध्याय होता तो उसमें उसकी व्यापक दृष्टि को सम्पन्न बनाने में उसे एक विशेष सहायता मिलती; किन्तु प्रस्तुत-ग्रन्थ में उसकी कोई भी विधि काम करती नहीं दीख पड़ती। न तो यही पता चल पाता है इस संग्रह बुद्धि का कवि ने सदुपयोग किया है या दुरुपयोग और न यह ही स्पष्ट हो पाता है कि जो कुछ भी तुलना में अच्छा दीखता है उसका मूल्यगत अर्थ क्या है? इसलिये इस खण्ड-काव्य में लेखक की संग्रह शक्ति का अधिक परिचय मिलता है, कवि की संग्रह-शक्ति का कम। कवि ने यदि इतना संग्रह करने की चेष्टा की होती तो शायद उर्वशी का रूप कुछ दूसरा ही होता। कभी-कभी आलोचना के इस स्तर से हमें केवल सामान्य ज्ञान ही मिल पाता है, कवि के अनुभूत सत्य की उपलब्धि नहीं मिल पाती।

पाँचवे अध्याय मूल्याङ्कन में समीक्षक ने कवि की मूल्यगत दृष्टियों पर विचार किया है। मैथ्यू आर्नाल्ड (जिनके समीक्षा सिद्धान्तों को स्वयम् अंग्रेजी साहित्य में अब बहुत मूल्यवान् नहीं माना जाता) के आधार पर समीक्षक ने उर्वशी के कथा और तथ्य का नीर-क्षीर विवेक प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। ऐसा लगता है कि मानव-मूल्यों को एक समूह रूप में अलग मानकर उनको कृति में ढूँढने की चेष्टा की गई है। किसी भी कलाकृति को इन निश्चित मूल्यविधानों और प्रतिमानों के आधार पर जाँचना स्वयम् मूल्य को रूढ़ि अर्थ में प्रयोग करना है मूल्य तो

स्वयम् कवि के अनुभूत सत्य से जन्मता है। दुविधा की अनुभूति कला में महत्त्वपूर्ण होती है। हैमलेट का "To be or not to be" उसकी दुविधा का ही परिचायक है लेकिन शेक्सपियर ने उस दुविधा के मर्म को चित्रित करके एक मूल्यगत सृष्टि की है। हम यह कह सकते है कि दुविधा का चित्रण दिनकर सफलता से नहीं कर सके हैं किन्तु दुविधा के चित्रण को मूल्यों की दुहाई देकर वर्जित नहीं कर सकते। इसलिये मूल्यों की चर्चा करते समय इस बात पर विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता है।

समीक्षक ने यह तो अपनी समीक्षा कृति में कह दिया है कि "उर्वशी के अनुशीलन से न तो हमें आध्यात्मिक और न आभ्यन्तरिक ही शक्ति मिलती है।" किन्तु क्यों नहीं मिलती, कैसे नहीं मिलती; इसकी गहरी विवेचना नहीं की गई है। क्या यह आवश्यक है पात्रों के आचरण से पाठक को प्रेरणा एवम् प्रोत्साहन मिले? कविता का उद्देश्य कवि सत्य है। सौन्दर्यपरख, दूरी (Aesthetic Distance) का निर्वाह करके पाठक उस कवि के सत्य का साक्षात्कार कर सकता है। मात्र इतने ही से उसकी उपलब्धि को सफल माना जा सकता है। यह आवश्यक नहीं कि कोई भी कृति हमें प्रेरणा और उत्साह दे ही। प्रेरणा और उत्साह के अन्य स्रोत भी हैं। कला-कृति मे केवल कवि सत्य के साक्षात्कार को ही लक्ष्य मानना चाहिये।

अन्त में श्री तिवारी की आलोचना शैली पर भी दो शब्द कह देना आवश्यक है। श्री तिवारी आलोचना में आलङ्कारिक, प्रेरणादायक और उत्साहवर्धक भाषा का प्रयोग करते है। इससे समीक्षक की अन्वेषणात्मक बुद्धि की दृष्टि वाग्जाल में खो जाती है। आज आलोचना की भाषा काफी बदल चुकी है। आज Inspired Criticism की अपेक्षा 'पाज़िटिव' आलोचना की आवश्यकता है—ऐसी आलोचना जिसमें शब्दों का निरर्थक प्रयोग न हो, प्रत्येक शब्द एक सार्थक दृष्टि का वाहक बन कर प्रस्तुत हो।

जारज

राजेश्वर प्रसाद सिंह द्वारा लिखित

प्रकाशक : नीलाभ प्रकाशन; पृष्ठ संख्या : डबल काउन २५८

मूल्य : ४·२५ रु०

जारज के लेखक श्री राजेश्वरप्रसाद सिंह जी प्रेमचन्दयुगीन शैली के लेखक हैं। प्रस्तुत मे मी इन्होंने सुधारवादी सामाजिक रूढ़ियों की ही उठाई है किन्तु शैली में इतनी

शिथिलता और नीरसता है कि पुस्तक को पढ़ने के लिये नितान्त आदिम मनःस्थिति की आवश्यकता है। जारज की समस्या, विधवा का जीवन और समाज के कठोर व्यवहार आदि का वर्णन यह सब का सब वैसा ही है जैसा कि आज से साठ-सत्तर वर्ष पहले 'स्त्री-सुबोधिनी' के पाठक और 'भारतीय ललना' के प्रति झूम-झूम जाने वाले वर्ग की रही होगी। आज यह समस्याएँ न तो इस रूप में हमें छूती हैं और न उनके प्रति हमारी वह रुचि ही रह गई है। आज १९६२ में इस पुस्तक को पढ़कर ऐसा लगता है कि जैसे लेखक ने इस समस्या की आधुनिक परिणति की ओर न विचार करके कथा-सूत्र को उन्हीं किम्वदन्तियों पर आधारित कर दिया है जिनके वशीभूत होकर हमारी दृष्टि आज से सौ वर्ष पहले दूषित हो उठती थी। इस पुस्तक का सही पाठक वर्ग वही है जिसने समाज की प्रगति पर ध्यान न देकर अपनी विचार-दृष्टि को जबर्दस्ती सौ वर्ष पुरानी बनाये रखने पर बलात् आग्रह कर रक्खा है।

कथानक का तन्तुजाल साधारण की अपेक्षा निम्न स्तर का है। जैसे बम्बइया सिनेमा के कथानक अत्यन्त अनगढ़ कसे-कसाये फ्रेम में सेट रहते हैं वैसे ही इस पुस्तक में भी दुर्गा एक जारज है, भोला एक धनी का लड़का है, गोविन्दी एक युवती है, विधवा है। इन्द्रपाल, सिनेमा का वही पात्र है जो विधवा के चरित्र को भ्रष्ट करता है, मन्दिर के एक पुजारी जी हैं जो गोविन्दी की रक्षा करते हैं, मिडिल स्कूल के एक हेडमास्टर हैं जो गोविन्दी को पत्नी की तरह रखते हैं किन्तु जिनका स्नेह दुर्गा के प्रति लेशमात्र नहीं है। दुर्गा, स्कूल में प्रथम आने वाला लड़का है। भोला की बहन है पूर्णिमा, जिसे न्यायोचित ढङ्ग से दुर्गा को प्रेम करना चाहिये। वह प्रेम करती भी है। क्रूर समाज को क्रूर होना ही चाहिये। वह क्रूर समाज क्रूरता भी वैसा ही करता है। कथा की परिणति दुर्गा और पूर्णिमा की आत्महत्या में होनी चाहिये। दुर्गा आत्महत्या भी कर लेता है लेकिन पूर्णिमा आत्महत्या न करके हार्ट फ़ेल हो जाने से मर जाती है और कथा समाप्त हो जाती है। सिनेमा की भाँति अन्त में दुर्गा की लाश को पोस्टमार्टम के लिये पुलिस वाले ले जाते हैं। और तब लेखक कहता है—

"बड़े-बड़े डाक्टर घण्टों इञ्जेक्शन देते रहे। किन्तु कोई लाभ न हुआ। पूर्णिमा भी चल बसी—उसी की खोज में जिसे इस संसार में नहीं पा सकी····"

पुस्तक समाप्त करने के बाद जो सहज प्रश्न किसी भी पाठक के सामने आ सकता है वह यह कि इस पुस्तक को पढ़ने से उसे क्या मिला? क्या जारज होने की वेदना और अनुभूति का साक्षात्कार वह कर सका या केवल कुछ टोटके और रसमों के आधार पर एक नितान्त पिटी-पिटाई दृश्यावली को वह पुनः देख गया है। कोई भी रचना या प्रबन्ध, जब वह अपने आन्तरिक गठन के दायित्व में अनुभूति की कोई भी कड़ी नहीं जोड़ पाता तो उसकी सार्थकता तो नष्ट हो ही जाती है, साथ ही वह कृतिकार के व्यक्तित्व की असमर्थता पर भी एक शोक-प्रस्ताव के रूप में लगने लगती है। श्री राजेश्वरप्रसाद सिंह हिन्दी साहित्य में पिछले दो दशकों से लिख रहे हैं। अनुभव के स्तर पर और अभिव्यक्ति के स्तर पर काठ की मूर्तियों जैसे 'जारज' उपन्यास के पात्र केवल असफलता का ही परिचय नहीं देते वरन् वे उस कृत्रिमता का भी परिचय देते हैं जो कला के सरस तत्वों को संग्रहीत करने के बजाय उन्हें कुण्ठित कर देते हैं

की कृत्रिमता से कृतिकार की का भी परिचय मिल जाता है

प्रेमचन्द ने 'रङ्गभूमि' में एक आदर्श ग्रामीण के रूप में सूरदास के चरित्र को चित्रित किया है। देखने की बात है कि वही सूरदास जब अपने नितान्त ग्रामीण आचार-विचार में, छप्पर में पैसा रखने से लेकर लाठी के सहारे चलता है तो वह ग्राम संस्था के सम्पूर्ण संस्कारों का प्रतिनिधि-सा लगता है और उसके समस्त हाव-भाव उसी की प्रामाणिकता से जन्मते दीख पड़ते है। किन्तु राजेश्वरप्रसाद सिंह ने जहाँ कहीं भी ऐसे पात्रों को लिया है, उनकी सहजता को अपनी कल्पनाहीनता के कारण भदेस बना दिया है। एक मर्मपूर्ण वर्णन की भदेस शैली देखिये—"तुम्हारी माँ का हाल मुझे अच्छी तरह मालूम है बेटा! जो कुछ हुआ उसमें उस बेचारी का क्या दोष था? वह विधवा हो गई थी, उसका विवाह कर देना चाहिये था। ऐसा नहीं किया गया। उस बदमाश इन्द्रपाल ने उसके साथ जबर्दस्ती की, इसलिए उसके गर्भ रह गया। बिरादरी के डर के कारण तुम्हारे दादा ने तुम्हारी माँ को घर से निकाल दिया...!!"

और यह वर्णन मन्दिर का वह पुजारी करता है जिसने जारज की माँ को शरण दिया है। मर्म के साथ-साथ स्थिति यह है कि जारज-पुत्र को उसकी माँ के चरित्र का रहस्य बताया जा रहा है और साथ ही उसके जारज होने का भी और वर्णन ऐसा है जैसे यह सब कुछ स्पन्दनहीन है-जीवन-हीन है और न तो इस सबकी संवेदना ने पुजारी को किसी गहरे स्तर पर स्पर्शही किया है। न दुर्गा को और न ही उसकी माँ गोविन्दी को। यही नहीं एक घटना का और भी वर्णन है।—

"...गोविन्दी को अपनी ओर खींच कर उसने उसे कस कर बाहुपाश में बाँध लिया. डूबते हुए का सहारा छिन गया...गोविन्दी संज्ञा शून्य हो गई। इतनी मुद्दत से दबी हुई उसके हृदय की दुर्बलता ने आज इस समय आँधी बवण्डर की तरह उठ कर उसके मन और आत्मा पर आधिपत्य जमा लिया। तब...उसकी सतीत्व निधि लुट गई...।"

इस प्रकार के वर्णनों से उपन्यास एक नितान्त कृत्रिम स्तर का हो गया है, क्योंकि केवल शब्द ही शब्द इस वर्णन में मिलते हैं, किसी भी अनुभूति का साक्षात्कार नहीं होता। यह सब ऐसे घटित होते हैं जैसे कठपुतलियाँ हिल-डुल रही हों। न तो उसमें कोई चेतना होती है और न कोई क्रिया-प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति। ये सारी घटनाएँ केवल घड़ी की सुई-सी स्वयं नहीं चलती। इन्हे लेखक अपनी निष्प्राण कल्पना से चलाता है। उपन्यास में स्वाभाविकता और प्राकृतिक तत्वों को सहज रूप में प्रस्तुत करने के प्रयास में गोविन्दी की मौत से लेकर दुर्गा जो कि उपन्यास का नायक है, शौचादि से निवृत्त कई बार होता है। प्रेम में किसी पार्क और उद्यान में भी घूमने जाता है, नौका-विहार भी करता है और तैरना भी सीखने लगता है। जैसे समाज-सुधार के उपन्यास में एक दयालु पण्डित और मिडिल स्कूल के हेडमास्टर का होना जरूरी है, वैसे ही इसमें एक माझी का भी उल्लेख किया है जो जारज नायक को छः-सात पृष्ठों में केवल तैरना सिखाता है। और यह सब मिला कर पाठक के मन पर केवल एक ही प्रभाव पड़ता है कि यदि हमें केवल इन्हीं कृत्रिम अनुभूतियों का साक्षात्कार करना था तो क्यों नही इसी आधार पर आधारित एक कहानी पढ़ी जाय, इतने बड़े उपन्यास को पढ़ने की क्या आवश्यकता है?

हिन्दी का यह दुर्भाग्य है कि कुछ लेखक और आलोचक भी बार-बार प्रेमचन्द की परम्परा की दुहाई देकर कुछ कृतियों और असाहित्यिक प्रवृत्तियों को भी इसी खाल को ओढ़कर पनपने देना चाहते हैं यदि जारज जैसे को हम प्रश्रय देते हैं और उसे नीलाभ

जैसी संस्था प्रकाशित करती है तो निश्चय ही हमें यह लगता है कि कहीं किसी सीमा पर हम गतिहीन होकर बैठ गये हैं और केवल पुरखों की दुहाई दे कर जीना चाहते हैं। पुस्तक का परिचय देते हुए जहाँ यह कहा गया है कि—"प्रेमचन्द तथा सुदर्शन के समकालीन कथाकार राजेश्वरप्रसाद सिंह का प्रसिद्ध उपन्यास नये रूप में प्रस्तुत है। इस उपन्यास में पाठक को जहाँ आदर्श तथा यथार्थ के धरातल पर उच्च स्तर का कलात्मक मनोरञ्जन प्राप्त होगा वहीं उसे चिरन्तन सत्य के त्रिविध रूपों का दर्शन भी होगा। जारज में पाठक को मिलेंगे अन्तर को झकझोर देने वाली भावनाओं की आँधियाँ और साथ ही जीवन की झिलमिलाती विहँसती सौन्दर्य रश्मियाँ. . .।"

स्पष्ट है कि यदि प्रेमचन्द की मानवीय करुणा की अनुभूति और सुदर्शन की आदर्श की परम्परा की परिणति 'जारज' जैसे उपन्यास में हुई है तो हमें प्रेमचन्द की परम्परा का और उनके समकालीन बौद्धिक स्तर का पुनर्मूल्याङ्कन करना होगा। यदि उस परम्परा में केवल निर्जीव शवों को ही रक्षा करने की क्षमता है तो वह परम्परा भी बदलनी पड़ेगी अथवा खत्म करनी पड़ेगी, क्योंकि परम्परा में यदि विकास की क्षमता नहीं है तो वह रूढ़ि है, मृत है।

जारज पढ़ने के बाद एक बात की ओर और ध्यान सहज ही जाता है। वह यह कि हिन्दी के कथा साहित्य में 'स्त्री-पुरुष' के सम्बन्धों और उनकी परिस्थितियों के प्रति एक पूर्वाग्रह से प्रस्तुत किया जाता है। स्त्री के विषय मे हमारी भावनाएँ प्रायः अति भावुकतापूर्ण रही हैं, मेलोड्रैमेटिक रही है। चाहे वह अज्ञेय हों या राजेश्वरप्रसाद सिंह या आज के आधुनिक लेखक, सभी एक पूर्वाग्रह से अनुशासित होकर स्त्री को देखते हैं। स्त्री के यथार्थ रूप को, उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व को, उसके आत्म निर्णय को, सङ्कल्प शक्ति को तथा उसकी कमजोरियों को हमारे यहाँ के उपन्यासों मे उनकी स्वाभाविकता के साथ नहीं रक्खा जा सकता। जो समाज आज भी उपन्यासों में चित्रित हो रहा है उसमें नारी या तो व्यसन की माध्यम है या वह आदर्श की प्रतीक है, या कृत्रिमता की। फलस्वरूप या तो वह उपन्यासकार द्वारा निर्मित आदर्श का वैभव भोगती है, या एक अनावश्यक ट्रेजैडी या केवल 'जिस्म' दिखा कर चली जाती है। उसका वास्तविक रूप इन अतिरञ्जनाओं के अतिरिक्त है। प्रायः पुरुष लेखकों द्वारा लिखित उपन्यासों में नारी के इस रूप से कम से कम मेरे जैसे व्यक्ति के मन में एक प्रकार वितृष्णा होती है—वितृष्णा इसलिये कि जो कुछ भी चित्रित किया जाता है वह केवल पुरुष की प्रतिक्रिया, कुण्ठा, मनोग्रन्थि आदि होती हैं, उसमें नारी स्वयं नहीं होती। अंग्रेज़ी की प्रसिद्ध उपन्यास लेखिका जेन आस्टिन ने अपने एक वक्तव्य में कहा था कि "मेरी लेखनी और शैली की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि मैं अपने पुरुष पात्रों के विषय मे बिना किसी स्त्री-माध्यम के सोच ही नहीं सकती।" उसका आशय यह था कि वह यह नही सोच सकती कि पुरुष अकेले क्या सोचता, समझता या व्यवहार करता है। ठीक यही बात हिन्दी उपन्यासकारों के विषय में भी है। वह यह सोच ही नहीं सकते कि स्त्री का व्यक्तित्व इन सब अपवादों के बीच भी अपना अकेला हो सकता है। जारज में 'प्रेमचन्द तथा सुदर्शन' के समकालीन अनुभवी लेखक श्री राजेश्वरप्रसाद सिंह के साथ भी यही कमजोरी रही है।

प्रस्तुत उपन्यास केवल एक पुनरावृत्ति है। इसमें नया तो कुछ है नहीं और जो पुराने मूल्यों के प्रति विद्रोह की भावना यहाँ-वहाँ दिखलाई पड़ती है वह अब भारतीय समाज द्वारा स्वीकृत की जा चुकी है

महाकवि कालिदास

रमाशङ्कर तिवारी द्वारा लिखित

प्रकाशक चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, पृष्ठ संख्या : डिमाई ४३२

मूल्य ८·०७

प्रस्तुत पुस्तक श्री रमाशङ्कर द्वारा "महाकवि कालिदास" के जीवन-वृत्त एवम् उनके साहित्य कृतित्व पर लिखी गयी है। ऐसी पुस्तकों का प्रकाशन तभी उपयोगी होता है जब वे शोध और विश्लेषण की दृष्टि से तत्सम्बन्धी विषय पर कुछ मौलिक अनुसन्धान प्रस्तुत करें अथवा साहित्यिक स्तर पर, उपलब्ध साहित्यक अर्थ-सन्दर्भ के अतिरिक्त कालिदास द्वारा निर्धारित मानदण्डों पर प्रकाश डालें। प्रस्तुत पुस्तक को न तो विशुद्ध साहित्यिक मानदण्डों का प्रतिनिधि कहा जा सकता है और न उसे नितान्त शास्त्रीय ही कहा जा सकता है। प्रस्तुत पुस्तक को आद्योपान्त पढने के बाद, यह स्पष्ट नहीं होता कि कालिदास पर ४३८ पृष्ठों की इतनी लम्बी पुस्तक लिखने वाले लेखक का उद्देश्य क्या है? महाकवि कालिदास के जीवन वृत्त और उनके कृतित्व के सम्बन्ध मे प्रायः अनेक मत प्रचलित हैं। उन पर वाद-विवाद भी काफ़ी हो चुका है। प्रो० राजबली पाण्डेय, डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, पं० क्षेत्रेश चट्टोपाध्याय आदि के गवेषणात्मक विचारों से प्रायः प्रत्येक पाठक अथवा अध्येता जिनकी रुचि कालिदास अथवा कालिदास के साहित्य में होगी, अवगत होगा। प्रायः अब यह भी सर्वमान्य हो गया है कि कालिदास गुप्त-काल ही में हुए थे। स्वयम् इस ग्रन्थ के लेखक ने भी विना दोनों पक्षों की तर्क सङ्गत राय दिये ही कालिदास का काल गुप्त-वंश के राज्यशासन का काल मान लिया है। इस मानने में भी लेखक का अपना कोई नया तर्क या उसकी अपनी नयी सूझ-बूझ नहीं है। वह कहते हैं—"कालिदास को ईसा पूर्व पहली शतब्द में रखने के लिये विद्वानों द्वारा अनेक तर्क उपस्थित किये गये हैं जिनकी छानबीन करना हमें अभीष्ट नहीं है। यदि कालिदास ईसा पूर्व प्रथम शतक में वर्तमान रहते तो वे निश्चय ही शब्दों के उस आक्रमण से परिचित रहते जिसका वर्णन 'गार्गी संहिता' के युग में पुराण में किया गया है और जिसमें पाटलिपुत्र के समस्त पौरुष का सर्वनाश हो गया था।" स्पष्ट है कि ऐसे लचर तर्कों के आधार पर यदि लेखक ने कालिदास को गुप्तकालीन कवि मान भी लिया, तो भी उसमें दृष्टि-विशेष का बोध नहीं होता। यह कवि या नाटककार के लिये आवश्यक नहीं कि वह इतिहास की घटनाओं को प्रत्यक्ष इतिहास लेखक के रूप में स्वीकार करता चले। कभी-कभी कोई छोटी सी छोटी घटना कवि मानस को तेजी से छू जाती है कि वह इतिहास की बड़ी से बड़ी घटना से भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है और कभी बड़ी से बड़ी इतिहास की कहानी साम्राज्यों का उलट-फेर भी उसके मानस को तनिक भी नही छूता। कालिदास मुख्यतः एक 'क्लैसिक' भावबोध के कवि थे, विशुद्ध नागरिक आभिजात्य अभिरुचि के पोषक थे। इसका परिचय हमें उनके वर्णनों से मिलता है। आश्रम जीवन और नागरिक जीवन के संयोग से, साम्राज्य भोग-विलास लास के साथ-साथ उनकी अभिजात्य रुचि को जितना रुचता है उतना ही वह अपनी कृति मे स्वीकार करते हैं यह मुख्यत Choice के कवि हैं Commitment के कवि वह नहीं हैं

उनका कमिटमेंट यदि किसी वस्तु के प्रति है तो वह अनुभूति की सूक्ष्म अभिव्यंजना में है ऐतिहासिक क्रूडिटी के समर्थक वे हो ही नहीं सकते थे इसलिये यह तर्क देना कि यदि वह होते तो शक आक्रमण से अवश्य ही अभिभूत होते, ग़लत है। मैं भी यह मानता हूँ कि कालिदास गुप्त-काल के ही कवि हैं किन्तु उसको सिद्ध करने के लिये या केवल तर्क के लिये भी मैं उपरोक्त प्रकार के तर्क को प्रस्तुत करना कालिदास जैसे सूक्ष्म और अनुभूतिशील कवि के लिये उचित नहीं समझता। यहाँ स्थान नहीं है, नहीं तो मैं इससे अच्छे तर्क द्वारा सिद्ध करता कि कालिदास क्यो गुप्त-काल के ही कवि हैं।

जीवनवृत्त सम्बन्धी एक दूसरे प्रश्न को भी लेखक ने उठाया है किन्तु उसके समाधान मे भी कोई विशेष तर्क नहीं दिया है। वह है प्रवरसेन कृत 'सेतुबन्ध' और कालिदास का अनावश्यक रूप से उस ग्रन्थ के रचयिता के रूप में आरोपित किया जाना। लेखक ने वाकाटक गुप्त साम्राज्य और उसकी विकसित रुचि का उल्लेख करते हुए गुप्त सम्राट् की विधवा पुत्री प्रभावती का तो वर्णन किया है किन्तु वह भी इतने संक्षेप में है कि उससे कुछ स्पष्ट नहीं हो पाता। जहाँ कुछ विद्वानो का यह मत है कि प्रवरसेन के गुरु के रूप में कालिदास वाकाटक गुप्त-साम्राज्य में प्रभावती के शासनकाल में गये थे वहाँ दूसरा मत यह भी है कि कुन्तल राज्य और वाकाटक साम्राज्य के बीच एक प्रकार के मैत्री सम्बन्ध को स्थापित करने के लिये कालिदास इन दोनों साम्राज्यो के बीच आते-जाते थे। कुछ का यह भी कहना है कि 'सेतुबन्ध' कुन्तल नरेश का लिखा हुआ है। "महाकवि कालिदास" के ऊपर वृहद ग्रन्थ लिखने वाले लेखक का यह दायित्व हो जाता है कि ऐसे विवादग्रस्त विषयों पर दोनों पक्षों के तर्कों को सामने रख कर उसमे से एक न्याय-सङ्गत दृष्टि प्रस्तुत करे।

कालिदास के जीवनवृत्त सम्बन्धी एक किंवदन्ती यह भी है कि वह किसी वेश्या द्वारा सिंहल द्वीप में हताहत हुए थे। इस विचार के मानने वाले भी सप्रमाण तर्क देते हैं और निष्कर्ष निकालते हैं। यह असम्भव भी नहीं हो सकता क्योंकि जो व्यक्ति कुन्तल और वाकाटक गुप्त के साम्राज्यों तक आया गया है, उसका सिंहल द्वीप तक जाना कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं है। इस विषय के सम्बन्ध में इस पुस्तक में हमें कोई उचित समाधान नहीं मिलता। कालिदास जैसे नागरिक अभिरुचि वाले व्यक्ति के साथ ऐसी घटनाओं को जोड़ देना कोई आश्चर्य नहीं है, फिर भी इतने बड़े ग्रन्थ के लेखक के नाते लेखक का यह नैतिक दायित्व हो जाता है कि वह इस प्रकार के मतों की चर्चा करते हुए उनके औचित्य या अनौचित्य पर थोड़ा बहुत प्रकाश डाले।

इसी प्रकार कालिदास के जन्म-स्थान के विषय में भी कई मत हैं। कुछ उन्हें बङ्गाली मानते हैं, कुछ आर्यावर्त्त का मानते हैं और कुछ विशुद्ध काश्मीर का मानते हैं। इस विषय मे भी लेखक ने जो कुछ लिखा है उसमें तर्क और दृष्टि का साम्य नहीं दीख पड़ता। या तो इस विषय के तर्क-वितर्क के विश्लेषण और विवेचन में जो साहित्यिक जिज्ञासा किसी भी जागरूक लेखक मे होनी चाहिये उनकी कमी हमारे देश के लेखकों में है या वे ऐसे प्रश्नों को महत्वहीन समझते है। प्राय: ऐसे अवसरों पर यह कह देते है "मेरा मत है." लेकिन आपका मत क्या है उसका प्रमाण क्या है उसकी पुष्टि किन किन स्रोतो से होती है, किन किन स्रोतो का औचित्य है और

किन-किन का औचित्य नहीं है। लेखक ने जिस प्रकार उन समस्याओं पर लिखा है वह मुझ जैसे पाठक को तुष्ट नहीं करता।

ग्रन्थ सम्बन्धी विवाद भी इसी प्रकार के हैं। यद्यपि मैं दृढ़तापूर्वक यह मानता हूँ कि कालिदास और नाटककार कालिदास में कोई अन्तर नहीं है, एक ही कवि हैं, किन्तु 'महाकवि कालिदास' जैसे ग्रन्थ के रचयिता द्वारा इस पर भी सन्तोषजनक निराकण किया जाना चाहिये था। कवि के व्यक्तित्व के और उसके अनुभूत क्षणों के विभिन्न स्तर एक ही जीवन काल में इतने विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं कि लोग इस भ्रम में पड़ सकते हैं कि यदि अमुक उच्चतम ग्रन्थ उसी कवि का है तो फिर वही कवि एक दूसरे स्तर पर उतना बड़ा क्यों नहीं हो पाया है? यह सत्य है कि कालिदास की जो प्रतिभा हमें रघुवंश या शकुन्तला में मिलती है वह अत्यत उच्चकोटि की है, किन्तु उससे यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि उन दोनों के लेखक दो भिन्न कलाकार हैं। किन्तु लेखक को अपने ग्रन्थ में किसी न किसी उचित रूप में उस समाधान को प्रस्तुत करना चाहिये।

ठीक इसी से सम्बन्धित राम देवगिरि और पचमढ़ी से सम्बन्धित विवाद के विषय में भी बात उठती है। मात्र यह कह देने से कि—"मैं इसी बहुमत का पोषक हूँ कि यह रामगिरि नागपुर (मध्यप्रदेश) के पास अवस्थित वर्तमान रामटेक पहाड़ ही है......मेघदूत के आम्रकूट को पचमढी का पहाड़ माने जाने की कल्पना भी मुझे सामान्यतया स्वीकार है"—सन्तोष नहीं होना चाहिये। इसके अतिरिक्त हमें वह तर्क चाहिये जिनके आधार पर आप अपने उस मत को मानते हैं।

यह तो पुस्तक के शोध एवम् गवेषणा सम्बन्धी बात हुई। अब इस पुस्तक को यदि हम साधारण पाठक नहीं वरन् प्रबुद्ध पाठक की दृष्टि से देखें तो ६१ पृष्ठ से लेकर २७० पृष्ठ तक का खण्ड जिसमें तटस्थ दृष्टि एवम् "सौदर्यात्मक निर्लिप्तता" (Aesthetic Distance) के साथ महाकवि कालिदास के ग्रन्थों का सार दिया जाना चाहिये था, वह भी लेखक 'महाकवि कालिदास' के प्रति नितान्त श्रद्धा-नत होने के नाते सम्पूर्ण दायित्व के साथ नहीं निभा सका है। पहली बात तो यह कि लेखक का वर्णन ही पुस्तक का अनावश्यक अङ्ग है। कौन है जो कालिदास के ग्रन्थो की सूक्ष्म कथा न जानता हो और फिर ऐसे वर्णन से लाभ ही क्या हो सकता है जिसमें वर्णन करने की भावुकता मुख्य हो और वरेण्य उसमें गौण सा लगे। फिर प्रश्न यह उठता है कि इस वर्णन से लाभ क्या होगा? यह वर्णन भी सार्थक तब होता जब कालिदास की वर्णित कथाओं का तुलनात्मक या विवेचनात्मक अध्ययन हमें दिया जाता। इससे बढ़कर इस खण्ड की उपलब्धि हमें तब होती जब कतिपय अंशों को लेकर कालिदास की सफलता के साथ-साथ असफलता भी पढने को मिलती। इस सम्पूर्ण कथा-भाग का सन्दर्भ भी तभी भला मालूम होता।

व्यक्तिगत रूप से मैं मानता हूँ कि अन्य किसी भी कवि की भाँति स्वयम् कालिदास की भी वहुचर्चित कृतियों में कवि का मोह और उसकी वर्णन शैली में कुछ ऐसी त्रुटियाँ भी है जो खटकती हैं। प्रमाण के लिये कालिदास का बिम्ब मोह, या अति परिनिर्मित भाव-बोध होने के नाते कुछ यथार्थ से वञ्चित रह जाने की प्रवृत्ति आदि। एक प्रबुद्ध पाठक के नाते ग्रन्थकार जैसे विद्वान् लेखक से इस प्रकार की आशा करना शायद प्रबुद्ध पाठक का अधिकार है और इसे 'महाकवि कालिदास' जसे ग्रन्थ लेखक से आशा करना अनुचित नहीं कहा जा सकता

कालिदास की काव्य कला' के अन्तगत लेखक ने (३२८ पृष्ठ से ३६५) पृष्ठ के भीतर तीन खण्डों में कालिदास के काव्यादर्श, उनकी काव्यात्मक विशिष्टता एवम् उनके काव्य-शिल्प पर भी विचार प्रस्तुत किये हैं, किन्तु यह अध्ययन भी प्रशस्तिसूचक अधिक है विवेचनप्रधान कम। काव्यादर्श का वर्णन इस प्रकार है—"कालिदास ने सौन्दर्य के संसार में भावुकों की भावना के लिये सहज, निरलङ्कृत, अव्याज मनोहर रूपलक्ष्मी का इन्द्रजाल उपन्यस्त किया है, वनलताओं द्वारा उद्यानलताओं को परास्त कराया है, मधुर आकृतियों के लिये प्रत्येक वस्तु अथवा परिवेश को मण्डन रूप मे स्वीकार किया है। लेकिन जब ये अपनी कविता कामिनी की सच्छटा का बितान तानने लगते हैं तब उनकी सहजानुभूतियाँ इतने कुशल शिल्प का परिधान ग्रहण कर लेती है कि पाठक अलौकिक रमणीयता के प्रवाह में वह जाता है.....।" स्पष्ट है कि इस भाषा के माध्यम से प्रशस्ति ही लिखी जा सकती है सौन्दर्यगत विवेचन और विश्लेषण सम्भव नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त 'काव्यादर्श' काव्यात्मक विशिष्टता और काव्य-शिल्प का जो विभाजन लेखक ने प्रस्तुत किया है उसमें उपरोक्त शैली की पुनरावृत्ति ही अधिक है, विश्लेषण कम।

कालिदास के लोकादर्श, कालिदास का प्रभाव उपसंहार आदि अन्य खण्डों में से कालिदास का प्रभाव खण्ड कुछ सुन्दर बन पड़ा है। 'शकुन्तला' का चित्रण नाटक की नायिका के रूप मे, और भवभूति के उत्तररामचरित की नायिका सीता का चित्रण, उनके गुणों का विश्लेषण करते हुए यद्यपि कालिदास और भवभूति की तुलना की गई है किन्तु यह उतना स्पष्ट नही हो पाया है जितना कि इसके लिये अपेक्षित है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में काव्य-साधना की पृष्ठभूमि में राजनीतिक, सांस्कृतिक एवम् साहित्यिक विशेषताओं का उल्लेख करते हुए एव गुप्तकाल की विशेषताओं का वर्णन करते हुए लेखक ने जितने भी तथ्य दिये हैं वे सङ्गठित नहीं हैं, इतने बिखरे हुए अलग-अलग और असम्बद्ध हैं कि उनसे कोई बात बन नहीं पड़ती।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि आखिर इतनी मोटी पुस्तक लिखने एवं इतने परिश्रम के बावजूद लेखक को अपेक्षित सफलता क्यों नही मिली? मेरा अपना विचार है कि लेखक के पास आलोचनात्मक शैली और शब्द नहीं है। भाव के ओज और उसके प्रवाह को व्यक्त करना और बात होती है लेकिन जब हम किसी वस्तु-विशेष का विश्लेषण करने बैठते हैं तो हमारी भाषा अधिक यथार्थवादी और कम भावुक होनी चाहिये। बिम्बों की भाषा में कविता लिखी जा सकती है, शायद आलोचना के लिये वह भाषा उतनी उपयुक्त नहीं है।

दूसरी चीज़ तथ्य सङ्कलन और तथ्य विश्लेषण में भी आलोचक को थोड़ा तटस्थ होकर ही विश्लेषण करना चाहिये। रसों और भावों के विभिन्न रूपों और अभिव्यक्तियों का पृथक्-पृथक् गुण वही बता सकता है जिसमें 'अमिय सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीच" की विशेषता होगी। यह गुण लाने के लिये गरल के अवगुणों और अमृत के गुणों को समान रूप से देखने की क्षमता आलोचक में होनी चाहिये। यह दुविधा और यह कमी प्राय: उन आलोचकों में समान रूप से व्याप्त है जो छायावादी आलोचना से प्रभावित होकर चलते हैं या उसी शैली का निरूपण करते हैं यही कारण है कि ऐसे आलोचको और समीक्षकों की भाषा मे सत्य विवेचन की अपेक्षा

न की रमणीयता ही अधिक होती है निखिल कवि चक्र चूडामणि कवि कुलगुरु-

कालिदास भारतीय साहित्य के जाज्वल्यमान् रत्न हैं" जैसा वाक्य मात्र शब्द है जिनका आलोचनात्मक तथ्य से कोई सम्बन्ध नही है। यह एक 'वक्तव्य' है। वक्तव्य केवल सुना जा सकता है, वक्तव्य को जब तक विश्लेषण द्वारा सिद्ध नहीं किया जाता तब तक कुछ कह पाना सम्भव नहीं हो सकता।

यह बड़े दुःख की बात है कि कोई भी पुस्तक जिससे हम किसी भी क्लैसिक कवि के बारे में विशेष ज्ञान अर्जित करना चाहें वह मात्र शब्दजाल बन कर रह जाय। आज इस क्लैसिक-साहित्य और उनके रचनाकारों को हमें अधिक तटस्थ और वैज्ञानिक दृष्टि से पुनर्मूल्याङ्कित करना होगा। ऐतिहासिक तथ्य, परम्परागत तथ्य और किम्वदन्तियों से प्राप्त तथ्यों को छोड़ दीजिये, जब तक उन कवियों का मूल्याङ्कन हम अधिक तटस्थ और विवेकपूर्ण ढङ्ग से, तर्क सम्मत होकर नहीं करेंगे तब तक न तो उनके अध्ययन के नये सूत्र हमें मिल पायेंगे और न उनके नये आधार-भूत तत्वों को ही हम ग्रहण कर सकेंगे।

किन्तु यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत पुस्तक के लिखने का उद्देश्य मात्र प्राथमिक सूचना के रूप में कालिदास में दिलचस्पी रखने वाले अभिभावकों को पाठ्य-सामग्री देना था। यदि ऐसी बात थी तो पुस्तक के शीर्षक के साथ उसका भी प्रकाशन नितान्त आवश्यक है। बिना उसके न तो पुस्तक का उद्देश्य ही पूर्ण होता है और न पाठक को चुनने का अवसर ही मिल पाता है।

—लक्ष्मीकान्त वर्मा

हिन्दुस्तानी त्रैमासिक

[सन् १९६२ के चार अङ्कों में प्रकाशित लेखों की सूची]

(प्रथम अङ्क)

(द्वितीय अङ्क)

(तृतीय अङ्क)

(चतुर्थ अङ्क)

[सन् १९६३ के दो अङ्कों में प्रकाशित लेख]

(प्रथम अङ्क)

(द्वितीय अङ्क)